भगवान् महावीर : आधुनिक संदर्भ में

[भगवान् महावीर के तत्त्व-चिन्तन का आधुनिक संदर्भ में बहुआयामी विवेचन]

●

सम्पादक

डॉ० नरेन्द्र भानावत, एम. ए., पीएच. डी.

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

●

सह सम्पादक

डॉ० (श्रीमती) शान्ता भानावत, एम. ए., पीएच. डी.

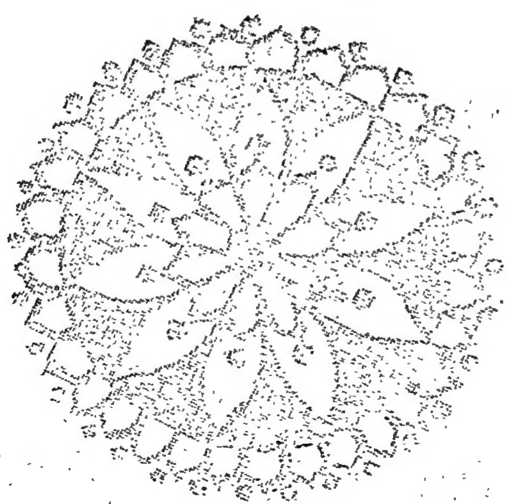
●

प्रमुख वितरक

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

भगवान्,
आधुनिक
संदर्भ में



महावीर



परम श्रद्धेय

आचार्य श्री नानालालजी महाराज

के

साधना-समतामय जीवन-दर्शन

और

तेजस्वी व्यक्तित्व

को

सादर सविनय

समर्पित.



प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया सड़क,
बीकानेर (राजस्थान)

•

प्रमुख वितरक :

मोतीलाल बनारसीदास
मुख्य कार्यालय
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ
चौक, वाराणसी-१ (उ० प्र०)
अशोक राजपथ, पटना-४ (बिहार)

•

प्रकाशन - वर्ष : १९७४
मूल्य : ४०) चालीस रुपया

•

मुद्रक :

फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर-३

जयपुर

:: अनुक्रमणिका ::

तृतीय खण्ड

आर्थिक संदर्भ (९५ से ११६)

चतुर्थ खण्ड

राजनीतिक संदर्भ (११७ से १४६)

पंचम खण्ड

दार्शनिक संदर्भ (१४७ से १९२)

षष्ठ खण्ड
वैज्ञानिक संदर्भ (१९३ से २१६)

सप्तम खण्ड
मनोवैज्ञानिक संदर्भ (२१७ से २५२)

अष्टम खण्ड
सांस्कृतिक संदर्भ (२५३ से ३१२)

नवम खण्ड

परिचर्चा (३१३ से ३४४)

•••

प्रकाशकीय

भगवान् महावीर के २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव पर, श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की ओर से यह प्रकाशन करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। भगवान् महावीर ने अपने समय में सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव, दूसरों के विचारों के प्रति आदर-भाव, आत्मा की स्वाधीनता, वृत्तियों का संयमन, आवश्यकता से अधिक संचय न करने का व्रत जैसे लोकहितवाही आत्मनिष्ठ मूल्यों की प्रतिष्ठापना की थी। बदलती हुई परिस्थितियों में उनके द्वारा प्रस्थापित ये मूल्य आज अधिक प्रासंगिक और अर्थवान बन गए हैं। वर्तमान मनीषा का चिन्तन इस ओर अधिकाधिक केन्द्रित होता जा रहा है।

आज विश्व आर्थिक संकट के साथ-साथ सांस्कृतिक और चारित्रिक संकट से ग्रस्त है। चारों ओर हिंसा, शोषण, उत्पीड़न, दुराग्रह, हठवादिता का भयावह वातावरण है। अणुयुग में पहुंच कर भी आज का मानव सच्ची शांति नहीं प्राप्त कर सका है। उसे चाह और ललक है इसे प्राप्त करने की। पर यह प्राप्ति बहिर्जगत् की यात्रा से संभव नहीं। इसके लिए उसे अन्तर्जगत् की यात्रा करनी होगी। इस यात्रा के विभिन्न पड़ावों को इन प्रकाशनों के माध्यम से रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है।

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ ने अपने जयपुर अधिवेशन (अक्टूबर, १९७२) में डॉ. नरेन्द्र भानावत के साथ विचार-विमर्श कर, साहित्य-प्रकाशन की एक योजना स्वीकृत की। उसी योजना के अन्तर्गत भगवान् महावीर के २५००वें परिनिर्वाण वर्ष में डॉ. भानावत के ही संयोजन-संपादन में निम्नलिखित चार ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं—

१. Lord Mahavir & His Times
   - By Dr. K.C. Jain

२. भगवान् महावीर : अपने समय में
   - मूल लेखक डॉ. के० सी० जैन
   - अनुवादक डॉ. मनोहरलाल दलाल

३. Lord Mahavir & His Relevance in Contemporary Age
   - Edited by : Dr. Narendra Bhanawat,
     Dr. Prem Suman Jain

४. भगवान् महावीर : आधुनिक संदर्भ में
   - सं० डॉ. नरेन्द्र भानावत,
     डॉ. शान्ता भानावत

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ की स्थापना ३० सितम्बर, १६६२ (सं० २०१६, आश्विन शुक्ला द्वितीया) को उदयपुर में हुई थी। संघ का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को आत्म-स्वरूप का ज्ञान कराते हुए सदाचारमय आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देने के साथ-साथ समाज की जन-हितकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देते हुए उसे निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर करते रहना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ एक ओर संघ, जीवन-निर्माणकारी सत् साहित्य के प्रकाशन को महत्त्व देता रहा है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक समानता, स्वस्थता व संस्कारशीलता के लिए नैतिक शिक्षण, स्वधर्मी-सहयोग, जीव-दया, छात्रवृत्ति, छात्रावास-सुविधा पिछड़े हुए वर्गों के उत्थान एवं संस्कार-निर्माण के लिए धर्मपाल-प्रवृत्ति, महिलाओं के स्वावलम्बी जीवन के लिए उद्योग मन्दिर जैसे महत्त्वपूर्ण विविध आयामी कार्य सम्पादित कर रहा है। इन प्रवृत्तियों को गतिशील बनाये रखने के लिए 'श्रमणोपासक' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन किया जाता है। संघ की महिला-समिति, नारी-जागरण की दिशा में विशेष प्रयत्नशील है।

संघ द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले इन ग्रन्थों के लेखन, सम्पादन एवं प्रकाशन में जिन व्यक्तियों का सहयोग रहा है, उन सबके प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ने हमारे निवेदन पर प्रमुख वितरक का दायित्व लेना स्वीकार किया, अतः हम उनके आभारी हैं।

हमें आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण विश्वास है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन-मनन से, भगवान् महावीर और उनके तत्त्व-ज्ञान को, तत्कालीन एवं आधुनिक दोनों संदर्भों में, सही परिप्रेक्ष्य में समझने-परखने तथा समसामयिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में मदद मिलेगी।

निवेदक

गुमानमल चौरड़िया — अध्यक्ष

जुगराज सेठिया — मंत्री

भंवरलाल कोठारी, चंपालाल डागा,
कालूराम छाजेड़, पृथ्वीराज पारख

सहमंत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

आमुख

क्रान्ति-पुरुष महावीर :

वर्धमान महावीर क्रांतिकारी व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। उनमें स्वस्थ समाज-निर्माण और आदर्श व्यक्ति-निर्माण की तड़प थी। यद्यपि स्वयं उनके लिये समस्त ऐश्वर्य और वैलासिक उपादान प्रस्तुत थे तथापि उनका मन उनमें नहीं लगा। वे जिस विन्दु पर व्यक्ति और समाज को ले जाना चाहते थे, उसके अनुकूल परिस्थितियां उस समय न थीं। धार्मिक जड़ता और अन्ध श्रद्धा ने सवको पुरुषार्थ रहित वना रखा था, आर्थिक विपमता अपने पूरे उभार पर थी। जाति-भेद और सामाजिक वैषम्य समाज-देह में घाव वन चुके थे। गतानुगतिकता का छोर पकड़ कर ही सभी चले जा रहे थे। इस विषम और चेतना रहित परिवेश में महावीर का दायित्व महान् था। राजघराने में जन्म लेकर भी उन्होंने अपने समग्र दायित्व को समझा। दूसरों के प्रति सहानुभूति और सदाशयता के भाव उनमें जगे और एक क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व के रूप में वे सामने आये, जिसने सवको जागृत कर दिया, अपने-अपने कर्त्तव्यों का भान करा दिया और व्यक्ति तथा समाज को भूलभुलैया से वाहर निकाल कर सही दिशा-निर्देश ही नहीं किया वरन् उस रास्ते का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

क्रान्ति की पृष्ठभूमि :

परिवेश के विभिन्न सूत्रों को वही व्यक्ति पकड़ सकता है जो सूक्ष्म द्रष्टा हो; जिसकी वृत्ति निर्मल, स्वार्थ रहित और सम्पूर्ण मानवता के हितों की संवाहिका हो। महावीर ने भौतिक ऐश्वर्य की चरम सीमा को स्पर्श किया था पर एक विचित्र प्रकार की रिक्तता का अनुभव वे वरावर करते रहे, जिसकी पूर्ति किसी वाह्य साधना से सम्भव न थी। वह आन्तरिक चेतना और मानसिक तटस्थता से ही पाटी जा सकती थी। इसी रिक्तता को पाटने के लिए उन्होंने घर-वार छोड़ दिया, राज-वैभव को लात मार दी और वन गये अटल वैरागी, महान् त्यागी, एकदम अपरिग्रही, निस्पृही।

उनके जीवन दर्शन की यही पृष्ठभूमि उन्हें क्रांति की ओर ले गई। उन्होंने जीवन के विभिन्न परिपार्श्वों को जड़, गतिहीन और निष्क्रिय देखा। वे सबमें चेतनता, गतिशीलता और पुरुषार्थ की भावना भरना चाहते थे। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र में उन्होंने जो क्रांति की, उसका यही दर्शन था।

धार्मिक क्रान्ति :

महावीर ने देखा कि धर्म को लोग उपासना की नहीं, प्रदर्शन की वस्तु समझने लगे हैं। उसके लिए मन के विकारों और विभावों का त्याग आवश्यक नहीं रहा, आवश्यक रहा यज्ञ में भौतिक सामग्री की आहुति देना, यहाँ तक कि पशुओं का बलिदान करना। धर्म अपने स्वभाव को भूल कर एकदम क्रियाकांड बन गया था। उसका सामान्यीकृत रूप विकृत होकर विशेषाधिकार के कठघरे में बन्द हो गया था। ईश्वर की उपासना सभी मुक्त हृदय से नहीं कर सकते थे। उस पर एक वर्ग विशेष का एकाधिपत्य सा हो गया था। उसकी दृष्टि सूक्ष्म से स्थूल और अन्तर से बाह्य हो गई थी। इस विषम स्थिति को चुनौती दिये बिना आगे बढ़ना दुष्कर था। अतः भगवान् महावीर ने प्रचलित धर्म और उपासना पद्धति का तीव्र शब्दों में खंडन किया और बताया कि ईश्वरत्व को प्राप्त करने के साधनों पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। वह तो स्वयं में स्वतंत्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है। उसे हर व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति, वर्ग, धर्म या लिंग का हो—मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ—को त्याग दे।

धर्म के क्षेत्र में उस समय उच्छृङ्खलता फैल गई थी। हर प्रमुख साधक अपने को सर्वेसर्वा मान कर चल रहा था। उपासक की स्वतंत्र चेतना का कोई महत्त्व नहीं रह गया था। महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक बना दिया कि कोई भी आत्म-साधक ईश्वर को प्राप्त ही नहीं करे वरन् स्वयं ही ईश्वर बन जाय। इस भावना ने असहाय, निष्क्रिय जनता के हृदय में शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-बल का तेज भरा। वह सारे आवरणों को भेद कर, एक बारगी उठ खड़ी हुई। अब उसे ईश्वर-प्राप्ति के लिए पर-मुखापेक्षी बन कर नहीं रहना पड़ा। उसे लगा कि साधक भी वही है और साध्य भी वही है। ज्यों-ज्यों साधक, तप, संयम और अहिंसा को आत्मसात् करता जायेगा त्यों-त्यों वह साध्य के रूप में परिवर्तित होता जायगा। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र से दलालों और मध्यस्थों को बाहर निकाल कर, महावीर ने सही उपासना पद्धति का सूत्रपात किया।

सामाजिक क्रान्ति :

महावीर यह अच्छी तरह जानते थे कि धार्मिक क्रांति के फलस्वरूप जो नयी जीवन-दृष्टि मिलेगी उसका क्रियान्वयन करने के लिए समाज में प्रचलित रूढ़ मूल्यों को भी बदलना पड़ेगा। इसी सन्दर्भ में महावीर ने सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया। महावीर

ने देखा कि समाज में दो वर्ग हैं। एक कुलीन वर्ग जो कि शोषक है, दूसरा निम्न वर्ग जिसका कि शोषण किया जा रहा है। इसे रोकना होगा। इसके लिए उन्होंने अपरिग्रह-दर्शन की विचारधारा रखी, जिसकी भित्ति पर आगे चल कर आर्थिक क्रांति हुई। उस समय समाज में वर्ण-भेद अपने उभार पर था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जो अवतारणा कभी कर्म के आधार पर सामाजिक सुधार के लिए, श्रम-विभाजन को ध्यान में रखकर की गई थी, वह आते-आते रूढ़िग्रस्त हो गई और उसका आधार अब जन्म रह गया। जन्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाने लगा। फल यह हुआ कि शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। नारी जाति की भी यही स्थिति थी। शूद्रों की और नारी जाति की इस दयनीय अवस्था के रहते हुए धार्मिक-क्षेत्र में प्रवर्तित क्रांति का कोई महत्त्व नहीं था। अतः महावीर ने बड़ी दृढ़ता और निश्चितता के साथ शूद्रों और नारी जाति को अपने धर्म में दीक्षित किया और यह घोषणा की कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि नहीं होता, कर्म से ही सब होता है। हरिकेशी चांडाल के लिए, सद्दाल पुत्त कुम्भकार के लिये, चन्दनबाला (स्त्री) के लिए उन्होंने अध्यात्म साधना का रास्ता खोल दिया।

आदर्श समाज कैसा हो ? इस पर भी महावीर की दृष्टि रही। इसीलिये उन्होंने व्यक्ति के जीवन में व्रत-साधना की भूमिका प्रस्तुत की। श्रावक के बारह व्रतों में समाज-वादी समाज-रचना के आधारभूत तत्त्व किसी न किसी रूप में समाविष्ट है। निरपराधी को दण्ड न देना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, न चोर को किसी प्रकार की सहायता देना, स्वदार-संतोष के प्रकाश में काम भावना पर नियन्त्रण रखना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, व्यय-प्रवृत्ति के क्षेत्र की मर्यादा करना, जीवन में समता, संयम, तप और त्याग वृत्ति को विकसित करना—इस व्रत-साधना का मूल भाव है। कहना न होगा कि इस साधना को अपने जीवन में उतारने वाले व्यक्ति, जिस समाज के अंग होंगे, वह समाज कितना आदर्श, प्रगतिशील और चरित्रनिष्ठ होगा। शक्ति और शील का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह सुन्दर सामंजस्य ही समाजवादी समाज-रचना का मूलाधार होना चाहिये। महावीर की यह सामाजिक क्रांति हिंसक न होकर अहिंसक है, संघर्षमूलक न होकर समन्वयमूलक है।

आर्थिक क्रांति :

महावीर स्वयं राजपुत्र थे। धन-सम्पदा और भौतिक वैभव की रंगीनियों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध था इसीलिये वे अर्थ की उपयोगिता को और उसकी महत्ता को ठीक-ठीक समझ सके थे। उनका निश्चित मत था कि सच्चे जीवनानंद के लिये आवश्यकता से अधिक संग्रह उचित नहीं। आवश्यकता से अधिक संग्रह करने पर दो समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। पहली समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति से है, दूसरी का समाज से। अनावश्यक संग्रह करने पर व्यक्ति लोभ-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है और समाज का शेष अंग उस वस्तु विशेष से वंचित रहता है। फलस्वरूप समाज में दो वर्ग हो जाते हैं—एक सम्पन्न, दूसरा विपन्न; और दोनों में संघर्ष प्रारम्भ होता है। कार्ल मार्क्स नें इसे वर्ग-संघर्ष की संज्ञा दी है, और

इसका हल हिंसक क्रांति में ढूंढा है। पर महावीर ने इस आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए अपरिग्रह की विचारधारा रखी है। इसका सीधा अर्थ है-ममत्व को कम करना, अनावश्यक संग्रह न करना। अपनी जितनी आवश्यकता हो, उसे पूरा करने की दृष्टि से प्रवृत्ति को मर्यादित और आत्मा को परिष्कृत करना जरूरी है। श्रावक के बारह व्रतों में इन सबकी भूमिकाएँ निहित हैं। मार्क्स की आर्थिक क्रांति का मूल आधार भौतिक है, उसमें चेतना को नकारा गया है जबकि महावीर की यह आर्थिक क्रांति चेतनामूलक है। इसका केन्द्र-बिन्दु कोई जड़ पदार्थ नहीं वरन् व्यक्ति स्वयं है।

बौद्धिक क्रांति :

महावीर ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन-तत्त्व अपने में पूर्ण होते हुए भी वह कई अंशों की अखण्ड समष्टि है। इसीलिये अंशों को समझने के लिए अंश का समझना भी जरूरी है। यदि हम अंश को नकारते रहे, उसकी उपेक्षा करते रहे तो हम अंशी को उसके सर्वाङ्ग सम्पूर्ण रूप में नहीं समझ सकेंगे। सामान्यतः समाज में जो झगड़ा या वाद-विवाद होता है, वह दुराग्रह, हठवादिता और एक पक्ष पर अड़े रहने के ही कारण होता है। यदि उसके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह देख लिया जाय तो कहीं न कही सत्यांश निकल आयेगा। एक ही वस्तु या विचार को एक तरफ से न देखकर, उसे चारों ओर से देख लिया जाय, फिर किसी को एतराज न रहेगा। इस बौद्धिक दृष्टिकोण को ही महावीर ने स्याद्वाद या अनेकांत-दर्शन कहा। आइन्स्टीन का सापेक्षवाद इसी भूमिका पर खड़ा है। इस भूमिका पर ही आगे चल कर सगुण-निर्गुण के वाद-विवाद को, ज्ञान और भक्ति के झगड़े को सुलझाया गया। आचार में अहिंसा की और विचार में अनेकांत की प्रतिष्ठा कर महावीर ने अपनी क्रांतिमूलक दृष्टि को व्यापकता दी।

अहिंसक दृष्टि :

इन विभिन्न क्रांतियों के मूल में महावीर का वीर व्यक्तित्व ही सर्वत्र झांकता है। वे वीर ही नहीं, महावीर थे। इनकी महावीरता का स्वरूप आत्मगत अधिक था। उसमें दुष्टों से प्रतिकार या प्रतिशोध लेने की भावना नहीं वरन् दुष्ट के हृदय को परिवर्तित कर उसमें मानवीय सद्गुणों—दया, प्रेम, सदाशयता, करुणा आदि को प्रस्थापित करने की प्रेरणा अधिक है। चण्डकौशिक के विष को अमृत बना देने में यही मूल प्रवृत्ति रही है। महावीर ने ऐसा नहीं किया कि चण्डकौशिक को ही नष्ट कर दिया हो। उनकी वीरता में शत्रु का दमन नहीं. शत्रु के दुर्भावों का दमन है। वे बुराई का बदला बुराई से नहीं बल्कि भलाई से देकर बुरे व्यक्ति को ही भला मनुष्य बना देना चाहते हैं। यही अहिंसक दृष्टि महावीर की क्रांति की पृष्ठभूमि रही है।

आधुनिक संदर्भ और महावीर :

भगवान् महावीर को हुए आज २५०० वर्ष हो गये हैं पर अभी भी हम उन मूल्यों को आत्मसात् नहीं कर पाये है जिनकी प्रतिष्ठापना उन्होंने अपने समय में की थी। सच

तो यह है कि महावीर के तत्त्व-चिन्तन का महत्त्व उनके अपने समय की अपेक्षा आज, वर्तमान सन्दर्भ में कहीं अधिक सार्थक और प्रासंगिक लगने लगा है। वैज्ञानिक चिन्तन ने यद्यपि धर्म के नाम पर होने वाले वाह्य क्रियाकाण्डों, अत्याचारों और उन्मादकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध जनमानस को संघर्षशील बना दिया है, उसकी इन्द्रियों के विषय-सेवन के क्षेत्र का विस्तार कर दिया है, औद्योगिकरण के माध्यम से उत्पादन की प्रक्रिया को तेज कर दिया है, राष्ट्रों की दूरी परस्पर कम करदी है, तथापि आज का मानव सुखी और शान्त नहीं है। उसकी मन की दूरियाँ बढ़ गई हैं। जातिवाद, रंगभेद, भुखमरी, गुटपरस्ती जैसे सूक्ष्म संहारी कीटाणुओं से वह ग्रस्त है। वह अपने परिचितों के बीच रहकर भी अपरिचित है, अजनवी है, पराया है। मानसिक कुंठाओं, वैयक्तिक पीड़ाओं और युग की कड़वाहट से वह त्रस्त है, संतप्त है। इसका मूल कारण है—आत्मगत मूल्यों के प्रति उसकी निष्ठा का अभाव। इस अभाव को वैज्ञानिक प्रगति और आध्यात्मिक स्फुरणा के सामंजस्य से ही दूर किया जा सकता है।

आध्यात्मिक स्फुरणा की पहली शर्त है—व्यक्ति के स्वतंत्रचेता अस्तित्व की मान्यता, जिस पर भगवान् महावीर ने सर्वाधिक वल दिया, और आज की विचारधारा भी व्यक्ति में वांछित मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए अनुकूल परिस्थिति-निर्माण पर विशेष वल देती है। आज सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर मानव-कल्याण के लिए नानाविध संस्थाएं और एजेन्सियां कार्यरत हैं। शहरी सम्पत्ति की सीमावन्दी, भूमि का सीलिंग और आयकर-पद्धति आदि कुछ ऐसे कदम हैं जो आर्थिक विषमता को कम करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त भी, मूलतः इस बात पर वल देता है कि अपनी-अपनी भावना के अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के अनुपालन की स्वतंत्रता है। ये परिस्थितियाँ मानव-इतिहास में इस रूप में इतनी सार्वजनीन बनकर पहले कभी नहीं आई। प्रकारान्तर से भगवान् महावीर का अपरिग्रह व अनेकान्त-सिद्धान्त ही इस चिन्तन के मूल में प्रेरक घटक रहा है।

वर्तमान परिस्थितियों ने आध्यात्मिकता के विकास के लिए अच्छा वातावरण तैयार कर दिया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि भगवान् महावीर के तत्त्व-चिन्तन का उपयोग समसामयिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए भी प्रभावकारी तरीके से किया जाय। वर्तमान परिस्थितियां इतनी जटिल एवं भयावह बन गयी हैं कि व्यक्ति अपने आवेगों को रोक नहीं पाता और वह विवेकहीन होकर आत्मघात कर बैठता है। आत्म-हत्याओं के ये आंकड़े दिल-दहलाने वाले हैं। ऐसी परिस्थितियों से बचाव तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति का दृष्टिकोण आत्मोन्मुखी बने। इसके लिए आवश्यक है कि वह जड़ तत्त्व से परे, चेतन तत्त्व की सत्ता में विश्वास कर यह चिन्तन करे कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, किससे बना हूँ, मुझे कहाँ जाना है। यह चिन्तन-क्रम उसके मानसिक तनाव को कम करने के साथ-साथ उसमें आत्म-विश्वास, स्थिरता, धैर्य, एकाग्रता जैसे सद्भावों का विकास करेगा।

समाज में इस चिन्तन-क्रम को बल मिले, इसी भावना के साथ यह ग्रंथ पाठकों के हाथों में सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

ग्रंथ के प्रणयन-प्रकाशन में विद्वान् लेखकों और अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ के अधिकारियों ने जिस तत्परता और अपनत्व के साथ सहयोग दिया तदर्थ मैं उन सबके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। आशा है, आगे भी उनसे इसी प्रकार का सहयोग मिलता रहेगा।

सी—२३५ ए, तिलकनगर
जयपुर—४



प्रथम खण्ड

जीवन, व्यक्तित्व और विचार

१

भगवान् महावीर : जीवन, व्यक्तित्व और विचार

• पं० के० भुजबली शास्त्री

आविर्भावकालीन स्थिति :

आर्य लोग जिस समय भारत में आये उस समय उनकी संख्या अधिक नहीं थी। परन्तु वे सब के सब किसी एक ही स्थान पर न ठहर कर, क्रमशः भिन्न २ स्थानों में फैल गये। इस प्रकार फैलकर उनकी अलग-अलग शाखाएँ वन गयीं और काल तथा क्षेत्र के प्रभाव से उनके धार्मिक आचरणों में भी अंतर पड़ गया। आर्य लोग एक ईश्वर के उपासक होते हुए भी प्रकृति की विविध अद्भुत शक्तियों में ईश्वर के नाना रूपों की कल्पना करके, देवी देवताओं के रूप में उनकी उपासना करते रहे। इस कारण से आर्यो के लिये वृक्ष, पशु, नदी, समुद्र, नाग आदि सभी पूजनीय हो गये। इन काल्पनिक देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये उन्होंने यज्ञ की प्रथा को भी विशेष प्रोत्साहन दिया।

परन्तु कालान्तर में इस धार्मिक मूल भावना में भी परिवर्तन हो गया और यज्ञ उनके लिये स्वर्गादि सुख के साधन वन गये। अपने उन यज्ञों में वे हजारों-लाखों मूक-निरपराधी-अनाथ पशुओं की वलि देने लगे। उन वलियों से वे विश्वास करने लगे कि देवी-देवता प्रसन्न हो जायेंगे और उनके लिये स्वर्गादि सुख का द्वार अनायास खुल जायेगा। इस प्रकार भारत में घोर हिंसा का अत्यधिक प्रचार हो गया। जब पूजा में ही हिंसा का प्रचार हुआ तब अन्यान्य लौकिक व्यवहारों में हिंसा का प्रचार होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। इस प्रकार यहां पर पूजा, उपासना, संस्कार उत्सव आदि में भी हिंसा का वोल-वाला हो गया।

आर्यो ने अपनी सुविधा को दृष्टि में रखकर, कामों को विभाजित कर एक एक काम को उनकी योग्यतानुसार एक एक वर्ग को सौंप दिया था[1]। आगे चलकर वही वर्ग-विभाजन वर्णों के रूप में परिवर्तित होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से भिन्न-भिन्न चार वर्ण वन गये। कालक्रमेण उन वर्णों में उच्च-नीच की भावना पैदा हो गई और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपने को उच्च मानकर वैश्य और शूद्रों को हीन दृष्टि से देखने लगे। तदनुसार उनके साथ आचरण भी वहुत कुत्सित होने लगा। शूद्र, दास एवं स्त्रियों को केवल नीच ही नहीं समझा जाने लगा, किन्तु उन्हें सामान्य मानवीय अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया। उनको धार्मिक अधिकार तो दिया ही नहीं गया। फलतः कालक्रमेण

१—जैन मान्यतानुसार वर्ण-व्यवस्था तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव की देन है।

—सम्पादक

आपस में द्वेष बढ़ गया और परस्पर लोगों के सिर फूटने लगे। इसका प्रभाव राजनैतिक क्षेत्र में भी पड़ा और उसमें भी विषम परिस्थिति पैदा हो गयी। चारों ओर हिंसा, असत्य, शोषण, अत्याचार और अनाचारों का साम्राज्य हो गया। धर्म के नाम पर मनुष्य उसके विकारों का गुलाम बन गया। मानवाधिकार नष्ट-भ्रष्ट हो गया। व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई प्रश्न ही शेष नहीं रहा। सर्वत्र अराजकता फैल रही थी। मनुष्य में श्रद्धा और आस्था मिट गयी थी। धर्मगुरु स्वार्थी बन गये थे। देश की स्थिति दयनीय बन गयी थी। अशरण मूक पशु एक दयालु महापुरुष के अवतार की प्रतीक्षा में थे। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि मानवोचित उदात्त गुण मृतप्राय थे। सर्वोदय की भावना मिट चुकी थी। जीवन की उज्ज्वलता नष्ट हो रही थी। जनता अशांत होकर एक युगपुरुष की प्रतीक्षा में टकटकी लगाये खड़ी थी।

जीवन और व्यक्तित्व :

ऐसी भयंकर परिस्थिति में वैशाली के कुण्डग्राम (कुण्डपुर) के ज्ञातृवंशीय राजघराने में ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व वर्धमान नामक एक तेजस्वी बालक पैदा हुआ। वह चैत्र का मास, ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल त्रयोदशी का दिन, मध्यरात्रि की वेला थी। पिता राजा सिद्धार्थ और मां रानी त्रिशला तो पुलकित हुए ही, इस बालक के जन्म से सारा राज्य आनंदित हो उठा। जब से बालक मां के पेट में आया था, तभी से वंश की सुख-समृद्धि एवं मान-मर्यादा में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई थी। इसी से बालक का नाम उसके गुणों के अनुरूप वर्धमान रखा गया। यद्यपि बाद में यह वर्धमान महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर भी वर्धमान के अन्यान्य सार्थक गुणों के कारण महावीर के अतिरिक्त वे सन्मति, वीर, अतिवीर के नाम से भी पुकारे जाते थे।

जीवन के चरम विकास तक बढ़ते रहने से वे वर्धमान थे। उनका ज्ञान निर्मल होने से वे सन्मति थे। वे वीर से अतिवीर और अतिवीर से महावीर बने। पितृकुल की अपेक्षा से वर्धमान ज्ञातृपुत्र या णातृपुत्र और काश्यप भी कहलाते थे। इसी प्रकार मातृकुल की अपेक्षा से वे लिच्छवीय और वैशालीय भी कहे गये हैं। महावीर राजकुमारोचित बाल्य जीवन को पार कर जब यौवन में पहुंचे तब एक रूपवती कन्या यशोदा के साथ महावीर का विवाह हुआ। परन्तु दिगम्बर मान्यता है कि उनका मन प्रारम्भ से ही संसार, शरीर और भोगों से सर्वथा विरक्त होने से वे विवाह के लिये सहमत नहीं हुए।

लोक कल्याण की ओर उनका विशेष आकर्षण था। इसलिए महावीर ने गृहस्थाश्रम की अपेक्षा मुनि जीवन को ही विशेष पसंद किया। लगभग तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने कठोर साधनापथ को सहर्ष स्वीकार किया। लगभग साढ़े बारह वर्ष की कठोर तपस्या के उपरान्त वैशाख शुक्ल दशमी २६–४–५४७ ई० पूर्व वर्तमान बिहार प्रांत के जृंभक नामक गांव के बाहर ऋजुकुला नदी के तट पर शालवृक्ष के नीचे उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व की प्राप्ति हुई और वे सर्वज्ञ, तीर्थंकर, गणनायक, अर्हत, परमात्मा, जिनेन्द्र आदि विशिष्ट विशेषणों के अधिकारी हो गये।

कठोर तपस्या के काल में महावीर को मनुष्यकृत, देवकृत एवं पशुकृत अनेक दुर्धर

उपसर्गों को झेलना पड़ा। फिर भी उन उपसर्गों से वे तिल मात्र भी विचलित नहीं हुए। क्योंकि वस्तुतः वे महावीर ही थे। जृंभक से चल कर भगवान् महावीर राजगृह के निकटस्थ विपुलाचल पर पहुँचे। सुयोग्य गणधर या गणनायक के अभाव में उन्हें मौन धारण करना पड़ा। अंत में सर्व शास्त्र-पारंगत गौतम गोत्रीय इंद्रभूति की प्राप्ति से भगवान् का कल्याण-कारी दिव्य उपदेश-प्रारम्भ हुआ। महावीर जब तक सर्वज्ञ नहीं हुए थे तब तक अपने को उपदेश के अनधिकारी ही मानते थे।

भगवान् महावीर ने अपना उपदेश अर्ध मागधी नामक लोकभाषा में ही दिया पंडितमान्य संस्कृत भाषा में नहीं। इसका कारण यह था कि उनके उपदेश को शिक्षित-अशिक्षित, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, निर्धन-धनिक आदि सभी आसानी से सुनें। इसी से महावीर का उपदेश शीघ्रातिशीघ्र सर्वत्र प्रसारित हुआ। महावीर की उपदेश सभा समवशरण के नाम से विख्यात थी। क्योंकि उसमें केवल मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों को भी शरण मिलती रही। उस सभा में इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह प्रमुख शिष्यों के नेतृत्व में मुनियों के गण संघटित हुए थे। महासती चंदना उनके साध्वीसंघ की अध्यक्षा नियुक्त रही। महावीर के संघ में वर्ण, जाति, लिंग आदि का कोई भेद नहीं था।

विचार और सिद्धांत :

महावीर के अमूल्य विचार ढाई हजार वर्षों के दीर्घकाल से अक्षुण्ण चले आ रहे हैं। वास्तव में भगवान् महावीर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, काल की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। उनका बहुमूल्य चिंतन देश और काल दोनों की सीमाओं से सर्वथा परे है। महावीर का सिद्धान्त देशविशेष, वर्गविशेष और युगविशेष का नहीं हो सकता। ढाई हजार वर्षों के पूर्व उसकी जितनी आवश्यकता थी आज भी उसकी उतनी ही आवश्यकता है। महावीर का तत्व सर्वथा अविरोध है। उनका धर्म वर्गविहीन मानवधर्म है। प्राणिमात्र का यह धर्म विश्व धर्म कहलाने के लिये सर्वथा योग्य है।

महावीर का धर्म वर्गविशेष, राष्ट्रविशेष या कालविशेष का धर्म नहीं है। उनका आचारशास्त्र सभी देश और सभी कालों के लिये सर्वथा मान्य है। आज के उत्पीड़ित विश्व के लिये महावीर के द्वारा प्रतिपादित मार्ग सर्वथा अनुसरणीय है। वस्तुतः भगवान् महावीर सामान्य मानव न होकर महामानव थे। सामान्य मानव से महामानव पद पर आरूढ होना कोई खेल की बात नहीं है। महावीर की जीवनी से प्रत्येक व्यक्ति महामानव बनने की अमूल्य शिक्षा अवश्य पा सकता है। भगवान् महावीर गृहस्थ तथा मुनि दोनों के मार्ग दर्शक थे। उनका जीवन शुद्ध स्फटिक मणि की तरह नितांत निर्मल रहा।

भगवान् महावीर ने २९ वर्ष ३ मास २४ दिन तक अंग, बंग, कलिंग आदि देशों में भ्रमण करके मानव जाति को मोक्ष का मार्ग बतलाया। अंत में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के मंगलवार १५–१०–५२७ ई० पूर्व के ब्रह्म मुहूर्त में पावानगर में उनका पवित्र निर्वाण हुआ। उस समय अपार जनसमूह के साथ लिच्छवी, मल्ल, काशी, कोशल आदि नरेशों ने महावैभव से उनका निर्वाणोत्सव मनाया। उसी के उपलक्ष्य में उस रात्रि को दीपोत्सव भी

किया गया। इसी से तब से भारत में दीपावली का त्यौहार प्रारम्भ हुआ माना जाता है। वीर सम्वत् भारत का सर्व प्राचीन सम्वत् माना जाता है।

भगवान् महावीर ने किसी नवीन धर्म का प्रवर्तन नहीं किया, बल्कि पूर्ववर्ती २३ तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित धर्म को ही पुनर्जीवित करके उसे सशक्त और युगानुकूल बनाया। महावीर के विचार और सिद्धान्त में अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त या स्याद्वाद प्रमुख हैं। सभी प्रकार के विकारों को जीत लेने के कारण महावीर जिन कहलाये और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म जैन धर्म कहलाया। भगवान् महावीर ने कहा कि प्रत्येक जीवात्मा अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है।' इसके लिये दूसरे किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में हर एक आत्मा स्वतंत्र है।

जीवात्मा अनादि से कर्मबद्ध होने के कारण अशुद्ध है। काम, क्रोध आदि विकारों के कारण उसके स्वाभाविक गुण प्रकट नहीं हो पाते हैं। परमात्मा इन विकारों को नष्ट कर अपने स्वाभाविक गुणों को पा लेने से परिशुद्ध हो जाता है। वीतरागी या निर्विकारी होने से परमात्मा का उपदेश अत्यंत प्रामाणिक होता है। जिनमें राग-द्वेषादि विकार मौजूद हैं उनका उपदेश प्रामाणिक नहीं हो सकता। वे काल, देश, व्यक्ति या श्रोता को लक्ष्य करके अन्यथा भी उपदेश दे सकते हैं। इसलिये जो जीवात्मा सब प्रकार से निर्विकार या निर्दोषी, प्रामाणिक एवं पूर्ण ज्ञानी हो जाता है वही परमात्मा, परमेश्वर, परमेष्ठी, परम ज्योति आदि नामों से संबोधित करने योग्य है।

जीवात्मा एक ही भव या जन्म में परमात्मा नहीं बन सकता। उत्तरोत्तर आत्म-विकास को प्राप्त करके ही वह शुद्ध परमात्मा बन सकता है। सभी मुक्तात्मा इसी नियम से अनेक जन्मों में अपनी आत्मा को विकसित करते हुए अंतिम भव में मुक्त हुए हैं। अपने को सुधारना अपने ही हाथ में है। अपने सुख या दुःख का दाता स्वयं आत्मा है।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनः।
न कोऽपि कस्यापि ददाति किन्चन ॥
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा।
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ॥
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं।
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं भवेत् ॥

अब भगवान् महावीर के अहिंसा आदि प्रधान तत्त्वों को लीजिये। किसी प्राणी के प्राणों का अपहरण ही हिंसा नहीं है। असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि भी हिंसा ही हैं। हिंसा और अहिंसा के निर्णय के लिये बाह्य क्रिया की अपेक्षा मानसिक क्रिया अथवा परिणाम ही प्रधान हैं। एक व्यक्ति बाह्य हिंसा न करके भी हिंसा का भागी बन सकता है—जैसे कसाई। क्योंकि हिंसा न करने पर भी उसका मन सदा हिंसा के भाव से कलुषित रहता है। दूसरा—हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता है। जैसे—एक सच्चा डाक्टर। अकस्मात् उसके हाथ से किसी के प्राणों का हनन भी हो जाये, वह हिंसक नहीं है। क्योंकि उसके मन में हिंसा करने का भाव ही नहीं रहता।

इसी प्रकार एक की अल्प हिंसा भी अधिक फल देती है और एक की बड़ी हिंसा भी थोड़ा फल देती है। इसीलिये हिंसा और अहिंसा का घनिष्ट सम्बन्ध बाह्य की अपेक्षा मन और आत्मा से अधिक निकट है। वास्तव में अहिंसा के सम्बन्ध में महावीर का विचार बहुत ही सूक्ष्म एवं गहरा है। आत्मा के परिणामों को हनन होने से महावीर के कथनानुसार असत्य, व्यभिचार आदि सभी हिंसा ही हैं। केवल शिष्यों को समझाने के लिये वे अलग-अलग बतलाये गये हैं—

आत्म-परिणाम-हिंसन-हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ॥
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥

वस्तुतः कषाय के आवेश से द्रव्य एवं भाव प्राणों का अपहरण ही हिंसा है। कलुषित परिणाम के अभाव में किसी के प्राणों का अपहरण होने पर भी वह अहिंसक ही है कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हिंसक एक ही है, फल भोगने वाले अनेक होते हैं। कभी हिंसक अनेक हैं, फल भोगने वाला एक ही है।

अपरिग्रह का सिद्धान्त भी पूर्ववत् मानसिक आसक्ति और विरक्ति पर ही आधारित है। एक नंगा भिखारी भी महापरिग्रही हो सकता है, एक सम्राट् भी अल्प परिग्रही। स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, नौकर-चाकर आदियों में ये मेरे हैं इस प्रकार की ममत्व बुद्धि का नाम ही परिग्रह है। इस मोह को कम करके परिग्रहों में एक भित्ति बांधना ही परिमित परिग्रह है। लोक में धन-दौलत, व्यापार-व्यवहार, मिल-कारखाना ये सभी परिग्रह कहलाते हैं। किन्तु वास्तव में उन पर का व्यामोह ही परिग्रह है। इसलिये मन में किसी भी प्रकार की आशा न रखकर, बाहर के परिग्रहों को त्यागना ही वस्तुतः अपरिग्रह है। क्योंकि परिग्रहों को जुटाती है केवल आशा। संग्रह की आशा बढ़ाने पर मनुष्य न्याय-अन्याय, युक्त-अयुक्त की बात ही नहीं सोचता है।

उस समय वह धनपिशाची होकर धन का दास बन जाता है। परिग्रह की मर्यादा से मनुष्य के पास अनावश्यक धन का संग्रह नहीं होता है। अपने पास आवश्यक धन होने से जीवन-निर्वाह में उसे कष्ट भी नहीं होता। इतना ही नहीं, वह मनुष्य अनावश्यक चिंताओं से मुक्त होकर शांति से अपना जीवन बितायेगा। क्योंकि परिग्रह जितना बढ़ेगा उतनी ही अशांति भी बढ़ेगी। यह अनुभव की बात है। आजकल विश्व में दिखायी देने वाली आर्थिक विषमता का एक मात्र कारण मनुष्य की अनावश्यक संचय प्रवृत्ति एवं लोभ है। यदि मनुष्य सिर्फ अपने आवश्यक मात्र की वस्तुओं को संग्रह कर अनावश्यक वस्तुओं को दूसरे के उपयोग के लिये छोड़ दे तो विश्व का अभाव एवं अशांति अवश्य दूर हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में समता-विषमता का प्रश्न ही हमारे सामने नहीं उठता। सरकार को नये-नये कानून बनाने की जरूरत भी नहीं पड़ती।

आशागर्तः प्रतिप्राणियास्मिन् विश्वमणूपमम् ॥
कस्य किं कियदायाति वृथा नौ विषयैषिता ॥

भगवान् महावीर का अनेकांतवाद या स्याद्वाद निम्न प्रकार है :—

वस्तु में अनेक अंत अर्थात् धर्म होते हैं। अनेक का अर्थ यहां पर विवक्षित एवं अविवक्षित परस्पर विरोधी दो धर्मों को लेना होगा। नित्य से विरोधी अनित्य, एक से विरोधी अनेक, भेद से विरोधी अभेद, भाव से विरोधी अभाव आदि। इन्हीं धर्मों को जो ग्रहण करता है वह अनेकान्त है। अनेकान्त वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक है। 'स्यात्' इस निपात का अर्थ है कथंचित् अर्थात् किसी प्रकार से या अपेक्षा से होता है। एक वस्तु में दो विरोधी धर्म किसी खास विवक्षा से ही रह सकते हैं। जैसे 'इंद्रदत्त पुत्र है'। यहां अपने पिता की अपेक्षा से कथन है। 'इंद्रदत्त पिता हैं'। यहां अपने पुत्र की अपेक्षा से कथन है। 'वस्तु नित्य है' यह द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा से कथन है। 'वस्तु अनित्य है'। यह पर्याय दृष्टि की अपेक्षा से कथन है।

एक ही दृष्टि से वस्तु नित्य और अनित्य कदापि नहीं हो सकती। वक्ता जिस समय द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा से कथन करता है उस समय पर्याय दृष्टि अविवक्षित होने से वह गौण हो जाता है। वस्तु का निरूपण करते समय पूर्वोक्त दो दृष्टियों में से एक को मुख्य और दूसरे को गौण तो किया जा सकता है—सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता। समस्त संसार विरोधी बातों से भरा पड़ा है। इस बात को सभी भली भांति जानते हैं। ऐसी अवस्था में उन विरोधों का निराकरण स्याद्वाद के द्वारा ही हो सकता है, किसी एक ही पक्ष को पकड़ने से नहीं। आचार्य अमृतचन्द्र सूरी ने अपने 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में अनेकांत की महिमा इस प्रकार गायी है—

परमागमस्य वीजं निषिद्ध जात्यं ध-सिन्धुरविधानम् ॥
सकल नय-विलसितानां विरोध मथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

तटस्थ और मध्यस्थ बुद्धि से देखने और सोचने के लिये हमें महावीर ने अनेकांत और स्याद्वाद को प्रदान किया है। यह उनकी विशिष्ट देन है। इसी मध्यस्थ दृष्टि को आप सत्याग्रही दृष्टि भी कह सकते है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे तुम्हारे दृष्टिकोण में सत्यांश है, वैसे ही सामने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण में भी सत्यांश है। तुम अपने ही दृष्टिकोण को सत्य और अन्य के दृष्टिकोण को असत्य मत मानो। परन्तु उसके दृष्टिकोण में भी जो सत्यांश है उसे समझने के लिये प्रयत्न करो। अनेकांत के विना लोकव्यवहार चल नहीं सकता। जो अनेकांत या स्याद्वाद का विरोध करते है वे भी इसी के द्वारा अपने व्यवहार को चलाते हैं। संसार में जितने विरोध हैं वे सब अनेकांत या स्याद्वाद को अपनाने से ही शांत हो सकते हैं। वे विरोध सामाजिक हों, धार्मिक हों, राजनैतिक हों या और किसी प्रकार के हों।

स्याद्वाद की दृष्टि से एक ही वस्तु में विरोधी धर्मो का अवस्थान थोड़ा असमंजस प्रतीत होता है। यही कारण है कि शंकराचार्य जैसे विद्वान् भी इस स्याद्वाद को नही समझ सके। इस संदर्भ में यह प्रश्न भी उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि क्या जो वस्तु नित्य है वह अनित्य भी है? जो एक है वह अनेक भी है? जो सत् है वह असत् भी है? जो वाच्य है वह अवाच्य भी है? जो भावस्वरूप है वह अभावस्वरूप भी है? जो सुखदायक है वह दुःखदायक भी है? जैन तत्व ज्ञान इन विरोधी धर्मों का निराकरण नहीं करता वल्कि समर्थन करता है। यही स्याद्वाद की विशेषता है।

भगवान् महावीर ने मद्य, गांजा आदि मादक पदार्थों के सेवन का भी निषेध किया है। मद्यादि पदार्थों के सेवन से लोकनिंदा ही नहीं होती, बल्कि स्वास्थ्य के लिये भी मादकवस्तु हानिकारक है। इसी प्रकार द्यूत, शिकार आदि व्यसन भी महावीर के मत से निषिद्ध हैं। क्योंकि इन व्यसनों से भी मनुष्य अपनी मान-प्रतिष्ठा को खोकर, अंत में दुःखी होता है। भगवान् महावीर के सिद्धान्त में मांस भक्षण भी सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि उनके प्रधान सिद्धान्त 'जीवो और जीने दो' इसके लिये यह मांसभक्षण संपूर्ण विरोधी है। मांसभक्षण एक तामसाहार है। इससे भक्षक की मनोवृत्ति तामस वन जाती है। साथ ही साथ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांस भक्षण उपादेय नहीं है। इससे अनेक रोग स्वयं उत्पन्न होते हैं। वास्तव में मनुष्य मांसाहारी नहीं है। वह शुद्ध सस्याहारी है। इसके लिये उसकी दंत रचना आदि ही वलिष्ट साक्षी है।

मनुष्य ही नहीं वलिक हाथी, गाय, शुक, पिक आदि अनेक जाति के पशु-पक्षी भी शुद्ध सस्याहारी हैं। मांस से शरीर का वल वढ़-जाता है, यह वात भी युक्ति संगत नहीं है। आयुर्वेद वैद्य शास्त्र के अनुसार घी में ही अत्यधिक वलवर्धक शक्ति है। देखिये—

अन्नादष्ट गुणं पिष्टं पिष्टादष्टगुणं पयः।
क्षीरादष्टगुणं मांसं मांसादष्टगुणं घृतम्॥

अनेक देशी-विदेशी सुप्रसिद्ध डाक्टरों का मत है कि स्वास्थ्य के लिये मांसाहार की अपेक्षा सस्याहार ही सर्व श्रेष्ठ है।

वस्तुतः भगवान् महावीर का धर्म सर्वोदय तीर्थ है। इसलिये प्राचीन आचार्य संमतभद्र ने अपने '**युक्त्यनुशासन**' नामक ग्रंथ के एक वाक्यांश में जैन धर्म को 'सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव' यों कहा है। इसका कारण यह है कि प्रायः सभी धर्म वाले जिसमें जीवों को शाश्वत सुख पहुंचाने की शक्ति है उसे धर्म मानते हैं। धर्म का यह लक्षण जैन धर्म में निरतिचार से, पूर्ण रूप से मौजूद है। जैन धर्म के अनुसार अपने निजस्वभाव को पाना ही प्रत्येक आत्मा का शाश्वत सुख है। इससे भिन्न और कोई सुख नहीं है। सभी सांसारिक सुख अशाश्वत हैं और त्याज्य हैं।

इस प्रकार समस्त प्राणियों के सर्वांगीण अभ्युदय को साधनेवाले महावीर के इस धर्म को सर्वोदय तीर्थ कहा गया है। तीर्थ का नाम घाट है। जहां उतरकर मनुष्य आसानी से नदी को पार कर सकता है। इसी प्रकार जिसके द्वारा इहलोक-परलोक संवंधी सर्व अभ्युदयों को साधकर यह जीव संसार रूपी समुद्र से तर जाता है अर्थात् पार होता है उसे सर्वोदय तीर्थ कहते हैं। महावीर का धर्म समस्त जीवों के कल्याण को साधने का दावा करता है। संसार भर के सभी जीव इस तीर्थ में डुवकी लगाकर आत्मसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। इस धर्म में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं है। आज कल के मनुष्यों ने ही इसमें भेद की दीवार खड़ी करदी है। भवगान् महावीर ने मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों तक को अपना कल्याणकारी पवित्र उपदेश दिया था। उनकी उपदेश सभा में किसी भी प्राणि के लिये रूकावट नहीं थी।

....

२

भगवान् महावीर के पाँच नाम और उनका प्रतीकार्थ

• डॉ. नेमीचन्द जैन

महावीर के पांच नाम :

एक तो हम तट पर खड़े हैं नाव में सवार होने के प्रयोजन से, दूसरे हम नौका पर चढ़ ही चुके हैं, तीसरे हमने नाव को दिशा की सम्यक् पहचान के साथ हांक दिया है, चौथे नाव अपनी यात्रा पर मझधार से आगे निकलने लगी है, पांचवें हम गन्तव्य पर पहुंच चुके हैं और हमने अपना असबाब उतार दिया है। यह महावीर के पांच नामों की स्थिति है—वर्द्धमान, सन्मति, वीर, महावीर, अतिवीर या गति के सूत्रपात से पूर्व की उलटी गिनती है, णमोक्कार मन्त्र की—साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हन्त, सिद्ध।

भगवान महावीर के पांच नाम हैं। इनको लेकर कई कहानियां हैं। कथा की अपनी सचाई होती है, निजी यथार्थ होता है। राजा सिद्धार्थ की सम्पदा बढ़ी, वैभव बढ़ा महावीर के जन्म से तो उन्होंने वर्द्धमान नाम दिया। संजय-विजय मुनियों का मन निःशंक हुआ तो उन्होंने सन्मति नाम दिया। संगमदेव के फन पर वीरत्व प्रगट हुआ, उज्जयिनी के अतिमुक्तक श्मशान में महावीरत्व व्यक्त हुआ।[1] स्थाणुरुद्र ने झुके हुए मस्तक से उन्हें इसी नाम से सम्बोधित किया और जब उनकी वीरता लोकातीत हुई तो ? अतिवीरत्व का अभिधान उन्हें मिला किन्तु नामकरण की ये कहानियां बहुत स्थूल धरातल पर हैं। इनकी एक और गहराई है जिसे खोजने की एक खुशी है। स्थूलता मन को प्रसन्न करती है, सूक्ष्मता चित्त को आनन्दित करती है। यह भी सम्भव है कि इन नामों के पीछे भारतीय नामकरण की कोई प्रथा जीवित हो। नाम-विज्ञान अलग से विज्ञान है, और उसकी अपनी गहराइयां और विस्तार हैं। यहां हम महावीर के इन पांचों नामों को एक भिन्न ही जल-वायु में देखने का प्रयत्न करेंगे।

महावीर के पांच नामों के पीछे एक मर्म सुनायी देता है। इसे सुनना हर आदमी के लिए सम्भव नहीं है। इसे तलाशने और पकड़ने के लिए चित्त को विशुद्ध और अप्रमत्त, यानी पूरी तरह सावधान करने की जरूरत है। हम जानते हैं, महावीर का सम्पूर्ण जीवन सत्य और सम्यक्त्व की खोज पर समर्पित जीवन था सम्यक्त्व दर्शन का, ज्ञान का, चरित्र का। सम्यक्त्व की तलाश, यानी सांच की उत्तरोत्तर खोज। महावीर सत्यार्थी हैं। वे

१. यह उल्लेख दिगम्बर परम्परा के अनुसार है। —सम्पादक

अपना एक-एक पल उसकी उपलब्धि में विता गये हैं। क्या उनके पांचों नामों में सत्य को खोजने की वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रतिविम्बित है ? है, मात्र इसके संश्लेषण की जरूरत है।

(१) वर्द्धमान

सब जानते हैं सत्य एक सतत वर्द्धमान सापेक्ष दृष्टि है। सत्य की सत्ता से उसका स्वरूप क्रमशः उघड़ता है। जो सत्यार्थी है, उसे वर्द्धमान बने रहने की जरूरत है, यानी उसे प्रगतिशील होना चाहिए। वर्द्धमानता अर्थात् नामान्तर से प्रगतिशीलता, वर्द्धमान रह कर ही सत्य को पाया जा सकता है। जो रुक गया है, अड़ गया है, या रूढ़ हुआ है, सत्य छलांग मारकर उसकी गोद से निकल गया है। सत्य एक अत्यंत संवेदनशील अनुभूति है, इसे पाने के लिए सतत वर्द्धमान, यानी प्रगतिशील होने की आवश्यकता है। जड़मति सत्य को पा नहीं सकता, जान नहीं सकता। इस तरह सत्य की पहली दिखायी देने वाली मुद्रा है साधु या मुनि, अर्थात् प्रयोगधर्मी साधक। णमोक्कार मन्त्र जहां पूर्ण विराम रख रहा है, सत्य की साधना का आरम्भ वहां से है। णमोक्कार शिखर से उतर रहा है, महावीर के पांच नाम शिखर पर चढ़ रहे हैं। एक जीवन का अवरोह-क्रम है, एक आरोह-क्रम, दोनों पूरक हैं।

णमो लोए सव्वसाहूणं—लोक में सारे प्रयोगधर्मी साधकों को नमस्कार, अर्थात् उन साधुओं को नमन, जो सत्य की खोज में निकल पड़े हैं, यानी लोक के समस्त सत्यार्थियों को वन्दन, उनमें उत्पन्न वर्द्धमानता को वन्दन। इस तरह महावीर का पहला नाम है वर्द्धमान। यह नाम नहीं है, सर्वनाम है। णमोक्कार में कहीं कोई नाम नहीं है, सर्वनामों का ही व्यापक प्रयोग हुआ है।

महावीर में सम्यक्त्व की प्यार जहां से शुरू होती है, वहां से वे वर्द्धमान हैं। पिता सिद्धार्थ के लिए वे क्या थे ? यह प्रश्न विल्कुल भिन्न है। वर्द्धमानता का सन्दर्भ उनकी सिद्धार्थता के आरम्भ से है।

(२) सन्मति

महावीर का दूसरा नाम है—सन्मति। वर्द्धमानता सन्मति को जन्म देती है। गति में से मति को जन्म मिल जाता है और फिर ये एक दूसरे के सहयोग-सामंजस्य में परस्पर तीव्र होती रहती है। सद्गति सन्मति को जनमती है, सन्मति गति को वेग प्रदान करती है, तेज गति विशुद्ध मति को जन्म देती है और फिर ये सतत वर्द्धनशील वनी रहती है, अविराम। सन्मति यानी विवेक-युक्त ज्ञान। गति के साथ चाहिए नियन्त्रण। अनुशासन या संयम की गैरहाजिरी में तेज से तेज गति भी अर्थहीन है। लगाम के अभाव में तराट अरवी घोड़ा व्यर्थ है। साधु को उपाध्याय के अनुशासन में चलना होता है। सन्मति जिसमें जम गई है, वह हुआ उपाध्याय। यह है णमोक्कार का नीचे में दूसरा चरण—णमो उवज्झायणं। नमन उपाध्यायों को। या उन सारे साधुओं को नमस्कार जो एक कदम उठ कर उपाध्याय के सोपान पर आ गए हैं। सत्य को जानने की यह दूसरी सीढ़ी है। इस तरह णमोक्कार का चोथा चरण महावीर के जीवन का प्रारम्भिक दूसरा चरण है। प्रयोग के वाद उपलब्धियों के लिए अनुशासन।

(३) वीर

महावीर का तीसरा नाम है—वीर। यहां से उनके कृतित्व का श्रीगणेश है। वीरत्व पुरुषार्थ का नामान्तर है। वर्द्धमान सन्मति वीरत्व में प्रकट हुई, यानी भेद-विज्ञान की आरम्भिक मुद्रा रूप ग्रहण करने लगी। इसे हम करुणा की एक गहन शक्ल के रूप में जान सकें तो वेहतर है। अभी एक सत्यार्थी भीतर-भीतर यात्रा कर रहा था, अब उस दीये की रोशनी वाहर आने लगी है। उसकी यात्रा कृतित्व में उभरने लगी है। वीरता का मतलव है—लौकिक अड़चनों की चिन्ता न करते हुए सम्यक्त्व की खोज में अविचल होने का आरम्भ। महावीर में सम्यक्त्व के लिए जो शूरता चाहिए थी वह आयी। अड़चनों के सांप पर उनका पांव ठीक-ठीक रखा हुआ है, यह देखा जा सकता है। यहां से स्व-पर-विज्ञान ने रूप लेना आरम्भ किया। परिग्रह गया, स्वगृह की खोज में। वह छूटा या छूटने लगा जो परत्व है। भेद-विज्ञान के लिए प्रज्ञा ने कमर कस ली। णमोक्कार मन्त्र में यह दोनों ओर से मझधार है, नीचे से, ऊपर से। आचार्य व्यवहार का आरम्भ है। वह कथनी-करनी का स्पष्ट सेतुवन्ध है। मन्त्र का अंश है—'णमो आयरियाणं' आचार्यों को नमन। वीरत्व में आचार्यत्व का प्रतिविम्व स्पष्ट देखा जा सकता है।

(४) महावीर

महावीरता का जन्म हुआ है श्मसान में। उज्जयिनी का अतिमुक्तक श्मसान, यानी वैराग्य में से महावीर हुए। स्थाणुरुद्र ने सारी वाधाएं उपस्थित कर ली। वह हार गया वाधाएं वनाते, खड़ी करते। आखिर उसे कहना पड़ा—महावीर हैं आप, मुझे क्षमा करें। परिग्रह श्मसान में जा कर हारा है, जहां लोग मिटते हैं। महावीर वहां से चौथे चरण पर आये हैं अर्हतत्व की ओर जैसे श्मसान में चुनौती हर आदमी को मिलती है, किन्तु हर आदमी स्वीकार कहां करता है? वह उसे भूल जाता है, या भूल जाना पसन्द करता है। महावीर श्मसान गये थे, ले जाए नहीं गए। हम जाते कहां हैं, ले जाए जाते हैं। जाते भी हैं तो लौट आने के लिए, किसी सामाजिक उद्देश्य से। महावीर का यह नाम कई दृष्टियों से महत्व का है।

(५) अतिवीर

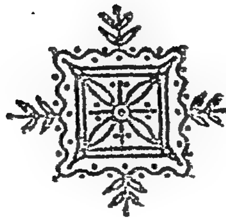
महावीर का पांचवां नाम है—अतिवीर। अतिवीरत्व की स्थिति सिद्धत्व में है। णमोक्कार के पहले-दूसरे चरण आपस में आगे-पीछे हैं। इन पर चिन्तन हुआ है और तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। सिद्ध की स्थिति शिखर पर है, अर्हन्त की उसके वाद। अतिवीरता, यानी लौकिक वीरता की इति और अलौकिक वीरता का आरम्भ। अतिवीरता टिकी रहने वाली वीरता है। यह आत्मा में पैठी हुई है। इसे प्रकट करने के लिए क्रमशः वीरता और महावीरता की जरूरत होती है। वीरता, महावीरता, अतिवीरता, इस तरह वीरता की तीन श्रेणियां सामने हैं। वीरता यानी सन्मति के साथ पुरुषार्थ, महावीरता अर्थात् स्व-पर भेद का उसकी सम्पूर्ण तीव्रता में प्रकट होना, अतिवीरता यानी वन्धमोक्ष के पार्थक्य की सम्पूर्ण सिद्धि का परम पुरुषार्थ।

प्रतीकार्थ :

यदि इसी बात को हम एक रूपक में रखें तो वह इस तरह होगी। एक तो हम तट पर खड़े हैं नाव में चढ़ने के लिए, दूसरे हम एक पके हुए इरादे से नाव पर चढ़ चुके हैं, तीसरे हमने दिशा तय कर ली है और नाव को हांक दिया है, चौथे नाव मझधार से आगे बढ़ने लगी है। किनारा नजदीक हुआ जाता है। पांचवे हम पार पहुँच गए हैं और अपना असली असबाव उतार रहे हैं। यह है, महावीर के पांचों नामों की स्थिति, या सम्यक्त्व के अनुसंधान की क्रमानुवर्ती कथा। वर्द्धमान, सन्मति, वीर, महावीर, अतिवीर। इसे यों भी कहा जा सकता है साधक के गति में आने से पूर्ण णमोक्कार मंत्र की उलटी गिनती—साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हन्त, सिद्ध। णमोक्कार मंत्र और महावीर बिम्ब-प्रतिबिम्ब, आमने-सामने खड़े हैं। **'महावीर के नाम निगेटिव्ह हैं'** णमोक्कार मन्त्र के और णमोकार मन्त्र शिखर पर से उतरती डगर है साधक के जीवन की। पहले प्रयोग, फिर विश्लेषण, फिर पुष्टि, फिर व्यवहार और तदन्तर सिद्धि। जैन धर्म इसी भेद-विज्ञान की प्रतिमूर्ति है।

इस तरह महावीर के पांच नाम जहां एक ओर अनुश्रुतियों में गुंथे हैं, वहीं दूसरी ओर कथा की स्थूलता को चीर कर खड़ी है उन नामों के बीच सत्य और सम्यक्त्व को खोज निकालने की एक स्पष्ट खोज-प्रक्रिया।

••••



३

तीर्थंकर महावीर

• डॉ० एस० राधाकृष्णन्

चिन्तन का अक्ष बदला :

ईसा पूर्व ८०० से २०० के बीच के युग में मानव-इतिहास का अक्ष मानो बदल गया। इस अवधि में विश्व के चिंतन का अक्ष प्रकृति के अध्ययन से हटकर मानव-जीवन के चिंतन पर आ टिका। चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशस, भारत में उपनिषदों के ऋषि, महावीर और गौतम बुद्ध, ईरान में जरतुश्त, जूडिया में पैगम्बरों की परम्परा, और यूनान में पीथागोरस, सुकरात और अफलातून—इन सबने अपना ध्यान बाह्य प्रकृति से हटाकर मनुष्य की आत्मा के अध्ययन पर केंद्रित किया।

आत्मिक संग्रामों का महावीर :

मानव-जाति के इन महापुरुषों में से एक हैं महावीर। उन्हें 'जिन' अर्थात् विजेता कहा गया है। उन्होंने राज्य और साम्राज्य नहीं जीते, अपितु आत्मा को जीता। सो उन्हें 'महावीर' कहा गया है—सांसारिक युद्धों का नहीं, अपितु आत्मिक संग्रामों का महावीर। तप, संयम, आत्मशुद्धि और विवेक की अनवरत प्रक्रिया से उन्होंने अपना उत्थान करके दिव्य पुरुष का पद प्राप्त कर लिया। उनका उदाहरण हमें भी आत्मविजय के उस आदर्श का अनुसरण करने की प्रेरणा देता है।

यह देश अपने इतिहास के आरंभ से ही इस महान् आदर्श का कायल रहा है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के जमाने से आज तक के प्रतीकों, प्रतिमाओं और पवित्र अवशेषों पर दृष्टिपात करें, तो वे हमें इस परंपरा की याद दिलाते हैं कि हमारे यहां आदर्श मानव उसे ही माना गया है, जो आत्मा की सर्वोपरिता और भौतिकतत्वों पर आत्मतत्व की श्रेष्ठता प्रस्थापित करे। यह आदर्श पिछली चार या पांच सहस्राब्दियों से हमारे देश के धार्मिक दिगंत पर हावी रहा है।

आत्मवान बनें :

जिस महावाक्य के द्वारा विश्व उपनिषदों को जानता है, वह है 'तत् त्वमसि'—तुम वह हो। इसमें आत्मा की दिव्य बनने की शक्यता का दावा किया गया है और हमें उद्बोधित किया गया है कि हम नष्ट किये जा सकने वाले इस शरीर को, मोड़े और बदले जा सकने वाले अपने मन को आत्मा समझने की भूल न करें। आत्मा प्रत्येक व्यक्ति में है, वह अगोचर है, इंद्रियातीत है। मनुष्य इस ब्रह्मांड के भंवर से छिटका हुआ छींटा नहीं

है। आत्मा की हैसियत से वह भौतिक और सामाजिक जगत् से उभर कर ऊपर उठा है। यदि हम मानव-आत्मा की अंतर्मुखता को नहीं समझ पाते, तो अपने आपको गंवा बैठते हैं।

हममें से अधिकांश जन सदा ही सांसारिक व्याप्तियों में निमग्न रहते हैं। हम अपने आपको स्वास्थ्य, धन, साजोसामान, जमीन, जायदाद आदि सांसारिक वस्तुओं में गंवा देते हैं। वे हम पर स्वामित्व करने लगती हैं, हम उनके स्वामी नहीं रह जाते। ये लोग आत्मघाती हैं। उपनिषदों ने इन्हें 'आत्महनो जनाः' कहा है। इस तरह हमारे देश में हमें आत्मवान बनने को कहा गया है।

समस्त विज्ञानों में आत्मविज्ञान सर्वोपरि है—अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। उपनिषद् हमसे कहते हैं—आत्मानं विद्धि। शंकराचार्य ने आत्मानात्मवस्तुविवेकः अर्थात् आत्मा और अनात्मा की पहचान को आत्मिक जीवन की अनिवार्य शर्त बताया है। अपनी आत्मा पर स्वामित्व से बढ़कर दूसरी चीज संसार में नहीं है। इसीलिए विभिन्न लेखक हमसे यह कहते हैं कि असली मनुष्य वह है, जो अपनी समस्त सांसारिक वस्तुएं आत्मा की महिमा को अधिगत करने में लगा दे। उपनिषद् में एक लंबे प्रकरण में बताया गया कि पति, पत्नी संपत्ति सब अपनी आत्मा को अधिगत करने के अवसर मात्र हैं—आत्मनस्तु कामाय।

जो संयम द्वारा, निष्कलंक जीवन द्वारा इस स्थिति को प्राप्त कर ले, परमेष्ठी है। जो पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ले, वह अर्हत् है—वह पुनर्जन्म की संभावना से, काल के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त है। महावीर के रूप में हमारे समक्ष ऐसे व्यक्ति का उदाहरण है, जो सांसारिक वस्तुओं को त्याग देता है, जो भौतिक बंधनों में नहीं फंसता, अपितु जो मानव-आत्मा की आंतरिक महिमा को अधिगत कर लेता है।

कैसे हम इस आदर्श का अनुसरण करें? वह मार्ग क्या है जिससे हम यह आत्म-साक्षात्कार, यह आत्मजय कर सकते हैं?

तीन महान् सिद्धान्त :

हमारे धर्मग्रंथ हमें बताते हैं कि यदि हम आत्मा को जानना चाहते हैं, तो हमें श्रवण, मनन, निदिध्यान का अभ्यास करना होगा। भगवद्गीता ने इसी बात को यों कहा है—"तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।" इन्हीं तीन महान् सिद्धांतों को महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचरित्र' के नाम से प्रतिपादित किया है।

हममें यह विश्वास होना चाहिये, यह श्रद्धा होनी चाहिये कि सांसारिक पदार्थों से श्रेष्ठतर कुछ है। कोरी श्रद्धा से, विचारविहीन अंधश्रद्धा से काम नहीं चलेगा। हममें ज्ञान होना चाहिये—मनन। श्रद्धा की निष्पत्ति को मनन ज्ञान की निष्पत्ति में बदल देता है। किंतु कोरा सैद्धान्तिक ज्ञान काफी नहीं है।—वाक्यार्थज्ञानमात्रेण न अमृतम्—शास्त्र के शब्दार्थ मात्र जान लेने से अमरत्व नहीं मिल जाता। उन महान् सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारना चाहिये। चारित्र बहुत जरूरी है।

हम दर्शन, प्राणिपात, या श्रवण से आरम्भ करते हैं, ज्ञान, मनन, या परिप्रश्न पर पहुंचते हैं, फिर निदिध्यासन, सेवा या चारित्र पर आते हैं। जैसा कि जैन तत्व-चिंतकों ने बताया है, ये अनिवार्य हैं।

अहिंसा का कार्य-क्षेत्र बढ़ायें :

चारित्र यानी सदाचार के मूल तत्त्व क्या हैं ? जैन गुरु हमें विभिन्न व्रत अपनाने को कहते हैं। प्रत्येक जैन को पांच व्रत लेने पड़ते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। सबसे महत्त्वपूर्ण व्रत है अहिंसा, यानी जीवों को कष्ट न पहुँचाने का व्रत। कई इस हद तक इसे ले जाते है कि कृषि भी छोड़ देते हैं, क्योंकि जमीन की जुताई में कई जीव कुचले जाते हैं। हिंसा से पूर्णतः विरति इस संसार में संभव नहीं है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है—**जीवो जीवस्य जीवनम्**। हमसे जो आशा की जाती है, वह यह है कि अहिंसा का कार्य-क्षेत्र बढ़ायें—**यत्नादल्पतरा भवेत्**। हम प्रयत्न करें कि बल प्रयोग का क्षेत्र घटे, रजामंदी का क्षेत्र बढ़े। इस प्रकार अहिंसा हमारा आदर्श है।

वस्तु अनेक धर्मात्मक :

यदि अहिंसा को हम अपना आदर्श मानते हैं, तो उससे एक और चीज निष्पन्न होती है, जिसे जैनों ने अनेकांतवाद के सिद्धांत का रूप दिया है। जैन कहते हैं कि **निर्भ्रांत** सत्य, केवलज्ञान—हमारा लक्ष्य है, परंतु हम तो सत्य का एक अंश ही जानते हैं। वस्तु 'अनेक धर्मात्मक' है, उसके अनेक पहलू हैं, वह जटिल है। लोग उसका यह या वह पहलू ही देखते हैं, परंतु उनकी दृष्टि आंशिक है, अस्थायी है, सोपाधिक है। सत्य को वही जान सकता है, जो वासनाओं से मुक्त हो।

यह विचार हममें यह दृष्टि उपजाता है कि हम जिसे ठीक समझते हैं वह गलत भी हो सकता है। यह हमें इसका एहसास कराता है कि मानवीय अनुमान अनिश्चययुक्त होते हैं। यह हमें विश्वास दिलाता है कि हमारे गहरे से गहरे विश्वास भी परिवर्तनशील और अस्थिर हो सकते हैं।

जैन चिंतक इस बारे में छह अंधों और हाथी का दृष्टांत देते हैं। एक अंधा हाथी के कान छूकर कहता है कि हाथी सूप की तरह है। दूसरा अंधा उसके पैरों का आलिंगन करता है और कहता है कि हाथी खंभे जैसा है। मगर इनमें से हर एक असलियत का एक अंश ही बता रहा है। ये अंश एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। उनमें परस्पर वह संबंध नहीं है, जो अंधकार और प्रकाश के बीच होता है, वे परस्पर उसी तरह संबद्ध है, जैसे वर्णक्रम के विभिन्न रंग परस्पर संबद्ध होते हैं। उन्हें विरोधी नहीं विपर्याय मानना चाहिये। वे सत्य के वैकल्पिक पाठ्यांक (रीडिंग) हैं।

आज संसार नवजन्म की वेदना में से गुजर रहा है। हमारा लक्ष्य तो 'एक विश्व' है, परंतु एकता के बजाय विभक्तता हमारे युग का लक्षण है। द्वंद्वात्मक विश्व-व्यवस्था हमें यह सोचने को प्रलोभित करती है कि यह पक्ष सत्य है और वह पक्ष असत्य है और हमें उसका खंडन करना है। असल में हमें इन्हें विकल्प मानना चाहिये, एक ही मूलभूत सत्य

के विभिन्न पहलू। सत्य के एक पक्ष पर बहुत अधिक बल देना हाथी को छूने वाले अंधों के अपनी-अपनी बात का आग्रह करने के समान है।

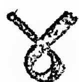
विवेक दृष्टि अपनायें :

वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक न्याय दोनों मानव-कल्याण के लिए परमावश्यक हैं। हम एक के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर कहें या दूसरे को घटाकर कहें, यह संभव है। किंतु जो आदमी अनेकांतवाद, सप्तभंगिनय या स्याद्वाद के जैन विचार को मानता है, वह इस प्रकार के सांस्कृतिक कठमुल्लापन को नहीं मानता। वह अपने और विरोधी के मतों में क्या सही है और क्या गलत है, इसका विवेक करने और उनमें उच्चतर समन्वय साधने के लिए सदा तत्पर रहता है। यही दृष्टि हमें अपनानी चाहिये।

इस तरह, संयम की आवश्यकता, अहिंसा और दूसरे के दृष्टिकोण एवं विचार के प्रति सहिष्णुता और समझ का भाव—ये उन शिक्षाओं में से कुछ हैं, जो महावीर के जीवन से हम ले सकते हैं। यदि इन चीजों को हम स्मरण रखें और हृदय में धारण करें, तो हम महावीर के प्रति अपने महान् ऋण का छोटा-सा अंश चुका रहे होंगे।

•••





ज्योतिपुरुष महावीर

• उपाध्याय अमर मुनि

महावीर : गणतन्त्र के राजकुमार

गणतन्त्रों के इतिहास में वैशाली के गणतन्त्र का प्रमुख स्थान है। यह मल्ल, लिच्छिवी, वज्जी एवं ज्ञातृ आदि आठ गणतन्त्रों का एक संयुक्त गणतन्त्र था। उक्त गणतन्त्र की राजधानी थी वैशाली, जिसके सम्बन्ध में तथागत बुद्ध ने कहा था—'स्वर्ग के देव देखने हों तो वैशाली के पुरुषों को देखो और देवियां देखनी हों तो वैशाली की महिलाओं को देखो।' इसका अर्थ है वैशाली उस युग में स्वर्ग से स्पर्श करती थी। इसी वैशाली के ही उपनगर क्षत्रियकुंड में ज्ञातृशाखा के गणराजा सिद्धार्थ के यहां वर्धमान महावीर का जन्म हुआ। उनकी माता थी विदेह की राजकुमारी रानी त्रिशला। त्रिशला वैशाली गणराज्य के महामान्य राष्ट्राधीश चेटक की छोटी बहिन थी, दिगम्बर जैन पुराण उसे चेटक की पुत्री कहते हैं। भारत का पूर्व खण्ड उन दिनों शासन तन्त्रों की प्रयोग भूमि बन रहा था। एक ओर मल्ल, लिच्छिवी और शाक्य आदि गणतन्त्र फलफूल रहे थे, तो दूसरी ओर मगध, वत्स आदि राजतन्त्र भी यशस्विता के शिखर पर पहुंच रहे थे। महावीर का सम्बन्ध दोनों ही तन्त्रों से था। महावीर मूलतः गणतन्त्र के राजकुमार थे, परन्तु उनके पारिवारिक सम्बन्ध भारत के तत्कालीन अनेक एकतन्त्री उच्च राज वंशों के साथ-साथ भी थे। मगध सम्राट् श्रेणिक, अवन्तीपति चन्द्रप्रद्योत, कौशाम्बी नरेश शतानीक और सिन्धु सौवीर देश के राजा उदाई (उद्रायण) जैसे एकतन्त्र नरेश उनके निकट के रिश्तेदारों में से थे।

महावीर को वह सब कुछ प्राप्त था, जो एक राजकुमार को प्राप्त होना चाहिए, भले ही वह गणतन्त्र का ही राजकुमार क्यों न हो। तत्कालीन गणतन्त्र राजतन्त्र के ही कुछ अर्धविकसित से जनतन्त्रोन्मुख रूपाकार लिए हुए थे। अतः पुराणों में प्राचीन गणतन्त्रों के प्रमुखों की श्री समृद्धि का वर्णन भी राजतन्त्रों जैसा ही मिलता है। अतः महावीर वैभव, विलास, सुख-साधनों की दृष्टि से एकतन्त्र राजकुमारों से कुछ भी न्यून नहीं थे। परन्तु महावीर का जागृत मन वैभव की मोहक लीला में अधिक रम नहीं सका। यौवन के मधुर, रंगीन एवं उद्दाम क्षणों में ही वे त्यागी विरागी बन गए। तीस वर्ष की मदभरी जवानी में, जबकि मानव की आंखें कम ही खुल पाती हैं महावीर ने आंखें खोलीं। अन्दर की ज्ञानचेतना जागी और वे चल पड़े अकेले निर्जन शून्य वनों की ओर साधना के असिधारा पथ पर। प्रजा और परिवार का निर्मल प्यार, अपार मान-सम्मान, भोगविलास के विशाल सुख-साधन और राज्यश्री का मोहक रूप, महावीर को ये सब सहज प्राप्त हुए थे।

किन्तु इन सबके बीच महावीर प्रारम्भ से ही कुछ ऐसे जल कमलवत् निर्लिप्त एवं निःस्पृह रहते आ रहे थे कि वे भोग में भी एक तरह से योग ही साधते रहे थे। दर्शन की भाषा में तब वे गृह योगी थे। भोग की निरन्तर क्षीण होती जाती वृत्तियां एक ऐसे बिन्दु पर पहुंची कि मंगसिर कृष्णा दशमी के दिन वे समग्र सांसारिक सम्बन्धों से मुक्त होकर सर्वथा अकिंचन श्रमण बन गए। भौतिक आकांक्षाओं का कोई भी भवबन्धन उस विराट आत्मा को बांध नहीं सका। भला कमल की नाल से बंधा गजराज कब तक बन्धन में रुका रह सकता है? **'बद्धोहि नलिनी नालैः कियत् तिष्ठिति कुंजरः'**।

श्रमण जीवन की सर्वोत्कृष्ट चर्या स्वीकार कर महावीर एकान्त आत्मसाधना करने में लीन हो गए। जहां हर क्षण मौत नाचती रहती है, ऐसे हिंस्र पशुओं से भरे निर्जन वनों में, गगनचुम्बी पर्वतों की गहरी अंधेरी गुफाओं में, नागिन की भांति फुंकार मारती वेगवती जल धाराओं के एकान्त तटों पर महावीर ध्यान मुद्रा में ऐसे खड़े रहते, जैसे कोई जीवित जागृत गिरिशिखर ही खड़ा हो। तन-मन दोनों से मौन। सर्वथा अटल अविचल। संसार के स्पन्दनशील धरातल से बहुत ऊपर। अकेला, अद्वितीय। महावीर का संयम बाहर से आरोपित नहीं था वह अन्तर से जागृत हुआ था, ज्ञान ज्योति के निर्मल प्रकाश में। अतः महावीर की योग साधना सहज थी। वह की नहीं जा रही थी, हो रही थी। इसलिए प्राणान्तक कष्टों के भयंकर कहे जाने वाले संत्रास भी उनको अपने पथ से विचलित नहीं कर सके और न राग-रंग से भरे मोहक पर्यावरण में ही वे उलझ पाए। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों के तूफानी दौर में महावीर निष्प्रकंप दीपशाखा की भांति अनवरत आत्म-लीनता में प्रज्वलित होते रहे। 'स्व' के साथ 'पर' की और 'पर' के साथ 'स्व' की साधना के मंगल सूत्र खोजने में उन्होंने अपने को सर्वात्मना समर्पित कर दिया था, उन दिनों। सब ओर से विस्मृत। एक मात्र स्मृति उस सत्य की, जिसे पाने के बाद फिर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है। यह सत्य श्रुत सत्य नहीं था जो कभी गुरु से या किसी ग्रन्थ से मिलता है। श्रुत सत्य परोक्ष ही रहता है, वह कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। महावीर को तलाश थी उस प्रत्यक्ष सत्य की, जो स्वयं की अनुभूति के द्वारा अन्दर में से जागृत होता है। जो एक बार उपलब्ध हो जाने के बाद फिर न कभी नष्ट होता है, न धूमिल होता है। वह अक्षय, अजर, अमर, अनन्त सत्य दर्शन की भाषा में केवल ज्ञान, केवल दर्शन कहलाता है। सत्य का निरावरण बोध ही तो कैवल्य है। और वह पाया साढ़े बारह वर्ष की सुदीर्घ तप और ध्यान की निष्कलुष साधना के फलस्वरूप महावीर ने।

लोकमंगल के लिए धर्मदेशना :

कैवल्य बोध के अनन्तर महावीर अपने साक्षात्कृत सत्य का बोध देने हेतु एकान्त निर्जन वनों से पुनः जनता में लौट आए। वैयक्तिक प्राप्ति या सिद्धि जैसी कोई बात अब शेष नहीं रही थी। अतः अब प्रश्न व्यष्टि का नहीं, समष्टि का था। कृत कृत्य होकर भी लोकमंगल के लिए धर्मदेशना की महावीर ने। बताया है गणधर सुधर्मा ने अपने महान् शिष्य आर्य जम्बू को, महावीर के प्रवचनोपदेश का हेतु—**'सव्व जगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं'** फलित होता है इस पर से कि महावीर एकान्त निवृत्तिवादी ही

नहीं, प्रवृत्तिवादी भी थे। उनकी जीवनधारा निवृत्ति और प्रवृत्ति के दो तटों के बीच में बहती रही है। महावीर की प्रवृत्ति जनमंगल की थी, जन-जागरण की थी। अन्धकार में भटकती मानव प्रजा को शुद्ध सत्य की ज्योति का दर्शन कराना ही उनकी प्रवचन प्रवृत्ति का व्यवहार जगत् में मुख्योद्देश्य था।

महावीर का धर्म :

महावीर शरीर नहीं, आत्मा है। अतः उनका धर्म भी शरीराश्रित नहीं आत्माश्रित है। अनेक विकारी परतों के नीचे दवे हुए अपने शुद्ध एवं परमचैतन्य की शोध ही महावीर की धर्म साधना है। महावीर का धर्म जीवन विकास की एक वाह्य निरपेक्ष आध्यात्मिक प्रक्रिया है। अतः वह एक शुद्ध धर्म है, क्रियाकाण्ड नहीं। धर्म एक ही होता है, अनेक नहीं। अनेकत्व क्रियाकाण्ड पर आधारित होता है। चूंकि क्रियाकाण्ड देश, काल और व्यक्ति की बदलती परिस्थितियों से सम्बन्ध रखता है। फलतः वह अशाश्वत होता है, जब कि धर्म एक शाश्वत सत्य है। वह नया-पुराना जैसा कुछ नहीं होता।

जैन दर्शन की भाषा में धर्म और क्रियाकाण्ड के पार्थक्य को समझना हो तो उसे निश्चय और व्यवहार के रूप में समझा जा सकता है। निश्चय आन्तरिक चेतनाश्रित एक शुद्ध भाव है, अतः वह सर्वदा एक ही होता है। व्यवहार, चूंकि देहाश्रित होता है, अर्थात् वाह्याश्रित अतः वह कभी एक हो ही नहीं सकता। वह आरोपित है, फलतः वह बदलता रहा है, बदलता रहेगा। महावीर इसीलिए शुद्ध और शुभ की बात करते हैं। शुद्ध में भव बन्धन से मुक्ति है, जबकि शुभ में बन्धन से मुक्ति नहीं बन्धन में परिवर्तन है। अशुभ से शुभ में बदलाव। इस प्रकार महावीर अमुक सीमा तक क्रिया काण्ड रूप शुभ की स्थापना करके भी वहां रुकते नहीं हैं। आगे बढ़ने की बात करते हैं, जिसका अर्थ है संप्रदायसापेक्ष क्रिया काण्डों से परे पहुंच कर शुद्ध, निर्विकल्प, निरपेक्ष धर्मतत्त्व में प्रवेश करना। यही कारण है कि महावीर न स्थविरकल्पी है और न जिनकल्पी। वे तो जैन दर्शन की आगमिक भाषा में कल्पातीत हैं, अर्थात् साम्प्रदायिक पंथों के सभी कल्पों से क्रियाकाण्डों से मुक्त सहज शुद्ध स्वभावकल्पी।

महावीर का पुरुषार्थवाद :

महावीर ने मानव जाति को पुरुषार्थ प्रधान कर्म दृष्टि दी। उनका कर्मवाद भाग्य-वाद नही है, अपितु भाग्य का निर्माता है। उन्होंने कहा—मानव किसी प्रकृति या ईश्वरीय शक्ति के हाथ का कोई बेबस लाचार खिलौना नहीं है। वह कठपुतली नहीं है कि जिसके जी में जैसा आए, वैसा उसे नचाए। वह अपने भाग्य का स्वयं स्वतन्त्र विधाता है। वह जैसा भी चाहे अच्छा बुरा अपने को बना सकता है। अपना निर्माण अपने हाथ में है और वह हो सकता है अपने सर्वतोभद्र शुभ्र चरित्र के द्वारा। महावीर का कर्मसिद्धान्त मानव की कोई विवशता नहीं है। वास्तव में वह महान् पुरुषार्थ है, जो मानव को अन्धकार से प्रकाश की ओर, कदाचार से सदाचार की ओर सतत गतिशील होने की नैतिक प्रेरणा देता है। वह मानव को अन्दर से उभार कर ऊपर लाता है, उसे नर से नारायण बनाता है। कर्मठ मानव के श्रमशील हाथों में ही स्वर्ग और मोक्ष खेलते हैं। स्वर्ग और मोक्ष भिक्षा की चीज

नहीं है कि कहीं किसी से उन्हें मांग लिया जाए। महावीर के शब्दों में कोई भी श्री, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, सदा अर्जित ही होती है कृत ही होती है, दत्त या कारित नहीं।

महावीर का सत्य अनन्त है :

महावीर का सत्य अनन्त है। वह किसी एक व्यक्ति, जाति, राष्ट्र, पन्थ या सम्प्रदाय विशेष में आवद्ध नहीं है। उसे किसी एक सीमित या परिवद्ध दृष्टि से समझ पाना कठिन है। भला जो अनन्त है, वह शब्दों की क्षुद्र परिधि में कैसे समाहित हो सकता है। आकाश अनन्त है। वह घटाकाश के रूप में प्रतिभासित एवं प्रचारित होकर भी घट में ही सीमित नहीं है। यही वात सत्य के सम्वन्ध में भी है। तत्वदर्शी महापुरुषों की चेतना में वह झलका तो है पूर्ण ही, परन्तु वाणी पर उसका कुछ अंश ही मुखरित हो सकता है, जिसे हम शास्त्रों के नाम से ग्रन्थों में तलाशा करते हैं। सम्पूर्ण रूप से सत्य किसी एक व्यक्ति से कभी व्यक्त नहीं हुआ है, और न कभी होगा। वह जव भी प्रकट होता है, अंशतः ही प्रकट होता है। आज तक के संख्यातीत तीर्थंकर और अन्य ज्ञानी सत्य के अनन्त सागर में से एक बूंद भी पूरी तरह नहीं कह पाये हैं। महावीर के अनेकान्त दर्शन का वीज इसी तत्व दृष्टि में है। अनेकान्त कहता है, आपका सत्य तभी सत्य है, जव आप उसे अनाग्रह वुद्धि से 'भी' के साथ प्रयोग करते हैं। जहां उसके साथ आग्रह का 'ही' लगा कि वह असत्य हो गया। अपूर्ण अंश पूर्ण अंशी होने का दावा करने लगे तो वह झूठा ही होगा सच्चा नहीं। अतः अपने विरोधी समाज, परम्परा या व्यक्ति के दृष्टिविन्दु को भी उसके अपने उचित धरातल पर समझो, उसका आदर करो, और उदारता के साथ अनाग्रह भाव से उसे उसकी यथोचित सीमा में स्वीकार भी करो। महावीर का यह तत्व दर्शन समन्वय का दर्शन है, जो एक दूसरे को आपस में जोड़ता है, विरोधी जैसे लगते हुए विभिन्न विचारों को एक धारा का रूप देता है, उन्हें एक प्राप्तव्य लक्ष्य की ओर गतिशील करता है। विभिन्न धाराओं में वहती हुई सरिताएं आखिर जाती कहां हैं? सागर में ही तो जाती है न।

महावीर की अहिंसा मैत्री है :

महावीर ने अहिंसा की परिधि को विस्तार दिया। वह अमुक प्राणि-विशेष तक ही नहीं, प्राणिमात्र के लिए प्रवाहित की गई। महावीर की अहिंसा ने समाज, राष्ट्र धर्म, पन्थ और व्यक्ति के अपने पराये कहे जाने वाले भेदों को तोड़ा। 'संर्वत्र समदर्शनम्' का अद्वैती शंख वज उठा। तू मैं एक और तेरा मेरा सव एक, यह है महावीर के अहिंसा धर्म का मर्म। यहां जो भी है, अपना है पराया कोई है ही नहीं। इसी सन्दर्भ में महावीर ने कहा था—'सव्वभूयप्पभूयस्य''''पावकम्मं न वन्धइ'।

महावीर की दृष्टि में किसी प्राणी की हत्या ही मात्र हिंसा नहीं है; उन्होंने हर शोषण, हर उत्पीड़न, हर अवधीरण को भी हिंसा माना है। वे एकान्तलक्षी वैचारिक आग्रह को भी हिंसा की कोटि में गिनते हैं। तन की हिंसा ही नहीं, मन की भी हिंसा होती है। और यह मन की हिंसा तन की हिंसा से अधिक भयंकर होती है। संक्षेप में हिंसा के

तीन रूप हैं—(१) धार्मिक हिंसा, जो धर्म के नाम पर यज्ञ यागादि, पशुबलि स्त्री और शूद्रों के मानवीय अधिकारों का हनन, तथा उनके अपमान आदि के रूप में प्रचलित है। (२) राजनैतिक हिंसा में आक्रमण, सीमा-संघर्ष, युद्ध लांछन, चरित्र-हनन तथा आरोप-प्रत्यारोप आदि का समावेश होता है। (३) सामाजिक हिंसा में शोषण वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये मर्यादाहीन संग्रह, जाति और वर्णभेद, दास प्रथा, दहेज आदि की समाज घातक कुरीतियां तथा धन सम्पत्ति के आधार पर होने वाले छोटे-बड़े के मानदण्ड आदि की परिगणना होती है। भगवान् महावीर ने तीनों ही हिंसाओं के उन्माद से बचे रहने की मानव को अहिंसा की विशुद्ध धर्म दृष्टि दी। महावीर का कहना था—हिंसा का समाधान प्रति हिंसा नहीं, अहिंसा है। वैर से वैर न कभी समाप्त हुआ है, और न होगा। वैर का सही प्रतिकार प्रेम एवं मैत्री है। आग से आग बुझी है कभी? वह तो जल से ही बुझेगी। रक्त से रक्त को साफ करना कहां की बुद्धिमता है?

महावीर की अहिंसा केवल करुणा पर आधारित नहीं है। महावीर अहिंसा का साक्षात्कार मैत्री में करते हैं। उनकी दृष्टि में मैत्री ही शुद्ध अहिंसा है। करुणा की अहिंसा कभी-कभी सामने वाले को बेचारा बना देती है। करुणा का स्वर है—'अरे बेचारा गरीब मर रहा है, इसे बचाओ।' करुणा में रक्ष्य व्यक्ति नीचे होता है, और रक्षक ऊपर, किन्तु मैत्री में सब एक धरातल पर होते हैं। वहां न कोई नीचा होता है, और न कोई ऊंचा। सब बराबर हैं। यह मैत्री ही है, जो कृष्ण और सुदामा को सखा भाव के एक सम धरातल पर खड़ा कर देती है। इसीलिए महावीर ने कहा था—विश्व के प्राणियों के साथ बिना किसी पक्ष-विपक्ष के मैत्री करो, दोस्ती रखो—**'मेत्ति भूएसु कप्पए'**। आज विश्व मानवता को करुणा की अहिंसा ही नहीं, मैत्री की अहिंसा की अपेक्षा है। आचार्य देववाचक के शब्दों में महावीर इसीलिए 'जगानंदो' हैं, 'जगनाहो' हैं और हैं—'जगबन्धु।'

महावीर की ऐतिहासिक उपलब्धि :

भगवान् महावीर की सामाजिक सन्दर्भ में एक और ऐतिहासिक एवं सर्वोत्तम उपलब्धि है—मानव को मानव के रूप में प्रतिष्ठा देना। भगवान् के दर्शन में मानव ही महान् है। मानव देवपूजक नहीं, अपितु देव ही मानवपूजक हैं उनके यहाँ। कहा है उन्होंने 'देवा वि त नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो'। जिसका अन्तर्मन धर्म में रमा है, उसके श्री चरणों में देव भी नत मस्तक हो जाते हैं। देवों की दासता से मानव को मुक्त करने वाला यही महामानव था, जिसे भारत के प्राचीन मनीषियों ने 'देवाधिदेव' कहा। देवाधि-देव—अर्थात् देवों का भी देव।

महावीर के युग में मानव मान्यताओं के बाह्य आवरणों के नीचे दब गया था। पशु एक खूंटे से ही बांधा जाता है, पर मानव तो हजारों हजारों खूंटों से बंधा हुआ था। महावीर ने धर्म-सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, वर्ग, लिंग, समाज और राष्ट्र आदि के कृत्रिम एवं परिकल्पित आवरणों को तोड़कर मानव को शुद्ध मानव के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की, मानव की महत्ता को सर्वोपरि मान्यता दी। महावीर ने स्त्री और पुरुष, आर्य और अनार्य, ब्राह्मण और शुद्र आदि की कृत्रिम भेद रेखाओं को हटाकर, नष्ट कर धर्म को सब जन के

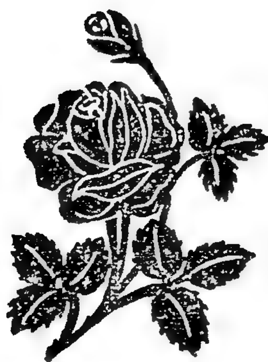
लिए सुलभ बनाया। उन्होंने बिना किसी भेद भावना के धर्म को सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय एवं सर्वजन समाचरणाय प्रस्तुत किया। अन्दर की धर्मज्योति के हेतु सब के लिए समान रूप से द्वार खुले हैं। मानवता के इतिहास में महाश्रमण महावीर की यह अपूर्व उपलब्धि है, जिसे हम आज की भाषा में एक नई विचार क्रान्ति कह सकते हैं।

महावीर का सन्देश शाश्वत :

महावीर का दिव्य सन्देश किसी सम्प्रदाय या जाति विशेष के लिए न होकर समग्र मानव जाति के लिए है। उनका दिव्य बोध सामाजिक नहीं, शाश्वत है। यह सदा सर्वदा अम्लान रहने वाला ऐसा चिरयुवा सत्य है, जो देश और काल की क्षुद्र सीमाओं को लाँघकर मानव जाति को जीवन के हर क्षेत्र में सुख-शान्ति तथा आनन्द की पावन धारा में आप्लावित करता रहा है, करता रहेगा। महावीर समग्र मानवता के लिए एक दिव्यातिदिव्य प्रकाश स्तम्भ हैं। उनके सिद्धान्तों तथा आदर्शों के निर्मल प्रकाश में हर किसी देश और काल का मानव आत्मबोध का प्रकाश पाता रहेगा, जीवन के परम लक्ष्य की ओर सानन्द अग्रसर होता रहेगा।

जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति।
तं देव देवमहियं, सिरसा वंदे महावीरं॥

●●●





महावीर : क्रान्तद्रष्टा, युगस्रष्टा

• आचार्य रजनीश

गैर साम्प्रदायिक चित्त :

महावीर से ज्यादा गैर साम्प्रदायिक चित्त खोजना कठिन है। वे गैर साम्द्रायिक हैं, क्योंकि शायद सारी पृथ्वी पर ऐसा दूसरा आदमी ही नहीं हुआ जिसके पास इतना गैर-साम्प्रदायिक चित्त हो। इसलिए कि जो किसी बात को सापेक्षता की दृष्टि से सोचता है, उसकी दृष्टि में साम्प्रदायिकता नहीं हो सकती। विज्ञान के जगत् में सापेक्षताकी बात आइस्टीन ने अब कही, धर्म के जगत् में महावीर ने ढाई हजार साल पहले कही। बहुत कठिन था उस वक्त यह कहना, क्योंकि उस वक्त आर्यधारा बहुत टुकड़ों में टूट रही थी और प्रत्येक टुकड़ा पूर्ण सत्य का दावा कर रहा था। असल में साम्प्रदायिक चित्त का मतलब यह है कि जो यह कहता हो कि सत्य का ठेका मेरे पास है और किसी के पास नहीं, और सब असत्य है, सत्य मैं हूं। ऐसा जहां आग्रह हो, वहां साम्प्रदायिक चित्त है। लेकिन जहां इतना विनम्र निवेदन हो कि मैं जो कह रहा हूं वह भी सत्य हो सकता है, उससे भी सत्य तक पहुँचा जा सकता है, तो सम्प्रदाय निर्मित होगा, पर वहां साम्प्रदायिक चित्त नहीं होगा। इन अर्थों में सम्प्रदाय निर्मित होगा कि कुछ लोग उस दिशा में जायेंगे, खोज करेंगे, पायेंगे, चलेंगे, अनुगृहीत होंगे उस पन्थ की तरफ, उस विचार की तरफ। महावीर एकदम ही गैर साम्प्रदायिक चित्त हैं। बहुत ही अद्‌भुत है उनकी दृष्टि।

महावीर की सापेक्षता भी एक कारण बनी महावीर के अनुयायियों की संख्या न बढ़ने में, क्योंकि संख्या बढ़ने में अन्धदृढता का होना जरूरी है, संख्या तब बढ़ती है, जब दावा पक्का और मजबूत हो कि जो हम कह रहे हैं, वही सही है और जो दूसरे लोग कह रहे हैं, सच नहीं। महावीर की बातों में संशय की रेखा मालूम पड़ती है। वह संशय नहीं है, सम्भावना है, लेकिन साधारण आदमी को यह समझना मुश्किल होता है कि सम्भावना और संशय में क्या फर्क है।

गैर दावेदार व्यक्ति :

महावीर का कोई भी दावा नहीं है। इस जगत् में इतना गैर दावेदार आदमी ही नही हुआ। उसने सत्य को इतने कोणों से देखा है, जितना किसी ने कभी नही देखा। दुनिया में तीन सम्भावनाओं की स्वीकृति महावीर के पहले से चली आती थी। सत्य के तीन कोण हो सकते हैं, १–है, २–नहीं है, ३–दोनों—नहीं भी और है भी। यह त्रिभंगी महावीर के पहले भी थी, लेकिन महावीर ने इसे सप्तभंगी किया और कहा कि तीन से

काम नहीं चलेगा। सत्य और भी जटिल है। इसमें चार 'स्यात् और जोड़ने पड़ेंगे'। इस प्रकार महावीर ने सत्य को सात कोणों से देखा, उसे स्याद्वाद (थ्यूरी आफ प्रोबेबिलिटी) कहा : (१) स्यात् है भी, (२) स्यात् नहीं भी है, (३) स्यात् है भी, नहीं भी, (४) स्यात् अनिर्वचनीय है, (५) स्यात् है और अनिर्वचनीय है, (६) स्यात् नहीं है और अनिर्वचनीय है, (७) स्यात् है भी, नहीं भी है और अनिवर्चनीय भी है। महावीर द्वारा जोड़ी गयी यह चौथी दृष्टि ही कीमती है, फिर बाकी तो उसी के ही रूपान्तरण हैं। वह है, अनिर्वचनीय की दृष्टि, कि कुछ है जो नहीं कहा जा सकता, कुछ है जिसे समझाया नहीं जा सकता, कुछ है जो अव्याप्त है, कुछ है जिसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती है। संक्षेप में, महावीर का कथन है कि सप्तभंग की सात दृष्टियों से सत्य को देखा या समझा जा सकता है। 'स्यात्' से उनका तात्पर्य है 'ऐसा भी हो सकता है।'

आइंस्टीन ने सापेक्षतावाद (रिलेटिविटी) को इतना स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि सब चीजें डगमगा गयी हैं। जो कल तक निरपेक्ष सत्य का दावा करती थीं, वे सब डगमगा गई हैं। विज्ञान अब सापेक्ष के भवन पर खड़ा हो गया है। इसलिए मैं कहता हूं कि महावीर की 'स्यात् की' भाषा (स्याद्वाद) को अगर प्रकट किया जा सके तो महावीर ने जो कहा है, वह परम सार्थकता ले लेगा, जो उसने कभी नहीं ली थी, यानी आने वाले पाँच सौ, हजार वर्षों में महावीर की विचार-दृष्टि बहुत ही प्रभावी हो सकती है, लेकिन उसके लिए, 'स्यात्' को प्रकट करना होगा।

विवेक की साधना :

महावीर की पिछले जन्मों की साधना अप्रमाद की साधना है। हमारे भीतर जो जीवन चेतना है, वह कैसे परिपूर्ण रूप से जागृत हो ? इस विषय में महावीर कहते हैं : 'हम विवेक से उठें, विवेक से बैठें, विवेक से चलें, विवेक से भोजन करें, विवेक से सोयें भी। अर्थ यह है कि उठते, बैठते, सोते, खाते, पीते प्रत्येक स्थिति में चेतना जागृत हो, मूर्च्छित नहीं।

श्रावक बनाने की कला :

महावीर की सतत चेष्टा इसमें लगी कि कैसे मनुष्य श्रावक बने, कैसे सुननेवाला बने, कैसे सुन सके। और, वह तभी सुन सकता है, जब उसके चित्त की सारी विचार-परिक्रमा ठहर जाए। तो श्रावक बनाने की कला खोजने के लिए बड़ा श्रम करना पड़ा। अब तो हम किसी को भी श्रावक कहते हैं। मगर महावीर के निर्वाण के बाद श्रावक होना ही मुश्किल हो गया। असल में जो महावीर के सामने बैठा था वही श्रावक था। उसमें भी सभी श्रावक नहीं थे। बहुत से श्रोता थे। श्रोता कान से सुनता है, श्रावक प्राण से सुनता है। श्रोता को शब्द बोले जाएं, तो वह सुन ले, जरूरी नहीं है! महावीर ने श्रावक की कला को विकसित किया। यह बड़ी से बड़ी कला है जगत् में। मैं महावीर की बड़ी देनों में से श्रावक बनने की कला को मानता हूं।

प्रतिक्रमण : आत्मा में लौटना :

'प्रतिक्रमण' शब्द श्रावक बनाने की कला का एक हिस्सा है। 'आक्रमण' का अर्थ होता है दूसरे पर हमला करना और प्रतिक्रमण का अर्थ होता है सब हमला लौटा देना,

वापिस लौट जाना । साधारणतः हमारी चेतना आक्रमण है । प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौट आना, सारी चेतना को वापिस समेट लेना । सूर्य शाम को अपनी किरणों का जाल समेट लेता है, ऐसे ही अपनी फैली चेतना को मित्र के पास से, शत्रु के पास से, पत्नी के पास से, बेटे के पास से, मकान से और धन से वापिस बुला लेना है । जहां-जहां हमारी चेतना ने खूटियां गाड़ दी हैं और फैल गयी है, उस सारे फैलाव को वापिस बुला लेना है । जाना है आक्रमण, लौट आना है प्रतिक्रमण । जहां-जहां चेतना गयी है, वहां-वहां से उसे वापिस पुकार लेना कि 'आ जाओ' ।

ध्यान : पर केन्द्रित, प्रक्रिया मात्र :

ध्यान का पहला चरण है प्रतिक्रमण और सामायिक है दूसरा चरण । सामायिक ध्यान से भी अद्‌भुत शब्द है । महावीर ने जो इस शब्द का उपयोग किया है, वह ध्यान से बेहतर है । ध्यान शब्द में कहीं दूसरा छिपा हुआ है । जैसे कहते हैं, 'किसके ध्यान में' किस पर ध्यान करें, कहां लगायें । ध्यान शब्द किसी-न-किसी में परकेन्द्रित है । उससे सवाल हुआ है, 'किस का ध्यान ?'

सामायिक : आत्मा में होना :

सामायिक को महावीर ने बिलकुल मुक्त कर दिया है । समय का मतलब होता है आत्मा और सामायिक का मतलब आत्मा में होना । प्रतिक्रमण है पहला हिस्सा कि दूसरे से लौट आओ, सामायिक है दूसरा हिस्सा अपने में हो आओ । और जब तक दूसरे से न लौटोगे, तब तक अपने में होओगे कैसे ? इसलिए पहली सीढ़ी प्रतिक्रमण और दूसरी सीढ़ी सामायिक है । तो प्रतिक्रमण सिर्फ प्रक्रिया है, स्वभाव नहीं । इसीलिए कोई प्रति-क्रमण में ह । रुकना चाहे तो वह ना समझी में है । चेतना इतनी शीघ्रता से आती और इतनी शीघ्रता से लौट जाती है कि पता ही नहीं चलता । एक दफा सोचती है कि कहां मकान ? क्या मेरा ? लौटती है एक क्षण को । लेकिन यहां ठहरने को जगह नहीं पाती, पुनः वहीं लौट जाती है । दूसरा सूत्र है, सामायिक । महावीर का जो केन्द्र है वह सामायिक है । सामायिक बड़ा अद्‌भुत शब्द है । दुनिया में बहुत शब्द लोगों ने उपयोग किये हैं, लेकिन इससे अद्‌भुत शब्द का उपयोग नहीं हो सका कहीं भी । इस प्रकार, समय का अर्थ है आत्मा, सामायिक का अर्थ है आत्मा में होना ।

विराट् जीवन की ओर :

महावीर भली भांति जानते हैं कि यह शरीर भी तो कई बार बदला जाता है, लेकिन एक और काया है जो कभी नहीं बदलती, बस एक ही बार खत्म होती है, उस काया को पिघलाने में लगा हुआ जो श्रम है वही तपश्चर्या है और उस काया को पिघलने की जो प्रक्रिया है वही साक्षीभाव, सामायिक या ध्यान है । वह स्मरण में आ जाए और उसके प्रयोग से गुजर जाएं, तो फिर कोई पुनर्जन्म नहीं है । पुनर्जन्म रहेगा, सदा रहेगा, अगर हम कुछ न करें । लेकिन ऐसा हो सकता है कि पुनर्जन्म न हो । हम विराट् जीवन के साथ एक हो जाएं । ऐसा नहीं कि हम खत्म हो जाते हैं । बस ऐसा ही हो जाते हैं, जैसे बूंद सागर हो जाती है । वह मिटती नहीं, लेकिन मिट भी जाती है, बूंद की तरह

मिट जाती है, सागर की तरह रह जाती है। इसलिए महावीर कहते हैं कि आत्मा ही परमात्मा हो जाता है।

साधक के लिए भविष्य की घटना :

आज महावीर को दो हजार पांच सौ वर्ष हो गये हैं। वह अतीत की घटना है। इतिहास यही कहेगा। मैं यह नहीं कहूंगा। साधक के लिए महावीर भविष्य की घटना है। उसके जीवन में आने वाले किसी क्षण में वह वहां पहुंचेगा, जहाँ महावीर पहुंचे थे और जब तक हम उस जगह न पहुंच जायें, तब तक महावीर को समझा नहीं जा सकता। क्योंकि उस अनुभूति को हम कैसे समझेंगे जो अनुभूति हमें कभी नहीं हुई है। महावीर को समझना हो, तो बहुत गहरे में स्वयं को समझना और रूपान्तरित करना ज्यादा जरूरी है।

●●●



६

आत्मजयी महावीर

• आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

जीवन्त प्रेरणा के स्रोत :

जिन तपःपूत महात्माओं पर भारतवर्ष उचित गर्व कर सकता है, जिनके महान् उपदेश हजारों वर्ष की कालावधि को चीर कर आज भी जीवन्त प्रेरणा का स्रोत बने हुए हैं, उनमें भगवान् महावीर अग्रगण्य हैं। उनके पुण्य स्मरण से हम निश्चित रूप से गौरवान्वित होते हैं।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी इस देश में विभिन्न श्रेणी की मानव मण्डलियां बसती थीं। उनमें कितनी ही विकसित सभ्यता से सम्पन्न थीं। बहुत सी अर्द्ध-विकसित और अविकसित सभ्यतायें साथ-साथ जी रही थीं। आज भी उस अवस्था में बहुत अन्तर नहीं आया है, पर महावीर के काल में विश्वासों और आचारों की विसंगतियां बहुत जटिल थीं और उनमें आदिम प्रवृत्तियां बहुत अधिक थीं। इस परिस्थिति में सबको उत्तम लक्ष्य की ओर प्रेरित करने का काम बहुत कठिन है। किसी के आचार और विश्वास को तर्क से गलत साबित कर देना, किसी उत्तम लक्ष्य तक जाने का साधन नहीं हो सकता क्योंकि उससे अनावश्यक कटुता और क्षोभ पैदा होता है।

हर प्रकार के आचार-विचार का समर्थन करना और भी बुरा होता है, उससे गलत बातों का अनुचित समर्थन होता है और अन्ततोगत्वा अव्यवस्था और अनास्था का वातावरण उत्पन्न होता है। खंडन-मंडन द्वारा दिग्विजयी बनने का प्रयास इस देश में कम प्रचलित नहीं था, पर इससे कोई विशेष लाभ कभी नहीं हुआ। प्रतिद्वन्द्वी खेमे और भी आग्रह के साथ अपनी-अपनी टेक पर अड़ जाते हैं। इस देश के विसंगतिबहुल समाज को ठीक रास्ते पर ले आने के लिए जिन महात्माओं ने गहराई में देखने का प्रयास किया है उन्होंने दो बातों पर विशेष बल दिया है।

मन, वचन, कर्म पर संयम :

पहली बात तो यह है कि केवल वाणी द्वारा उपदेश या कथनी कभी उचित लक्ष्य तक नहीं ले जाती। उसके लिए आवश्यक है कि वाणी द्वारा कुछ भी कहने के पहले वक्ता का चरित्र शुद्ध हो। उसका मन निर्मल होना चाहिये, आचरण पवित्र होना चाहिए। जिसने मन, वचन और कर्म को संयत रखना नहीं सीखा, इनमें परस्पर अविरुद्ध रहने की साधना नहीं की, वह जो कुछ भी कहेगा अप्रभावी होगा।

चरित्र-बल नेतृत्व के लिए आवश्यक :

हमारे पूर्वजों ने मन-वचन-कर्म पर संयम रखने को एक शब्द में 'तप' कहा है। तप से ही मनुष्य संयतेन्द्रिय या जितेन्द्रिय होता है, तप से ही वह 'वशी' होता है, तप से ही वह कुछ कहने की योग्यता प्राप्त करता है। विभिन्न प्रकार के संस्कारों और विश्वासों के लोग तर्क से या वाग्मिता से नहीं, बल्कि शुद्ध, पवित्र, संयत चरित्र से प्रभावित होते हैं। युगों से यह बात हमारे देश में बद्धमूल हो गई है। इस देश के नेतृत्व का अधिकारी एक मात्र वही हो सकता है जिसमें चारित्र का महान् गुण हो। दुर्भाग्य वश, वर्तमान काल में इस ओर कम ध्यान दिया जा रहा है। जिसमें चरित्र-बल नहीं वह इस देश का नेतृत्व नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर जैसा चरित्र संपन्न, जितेन्द्रिय, आत्मवशी महात्मा मिलना मुश्किल है। सारा जीवन उन्होंने आत्म-संयम और तपस्या में बिताया। उनके समान दृढ़ संकल्प के आत्मजयी महात्मा बहुत थोड़े हुए हैं। उनका मन, वचन और कर्म एक दूसरे के साथ पूर्ण सामंजस्य में थे। इस देश का नेता उन्हीं जैसा तपोमय महात्मा ही हो सकता था। हमारे सौभाग्य से इस देश में जितेन्द्रिय महात्माओं की परम्परा बहुत विशाल रही है। इस देश में तपस्वियों की संख्या सदा बहुत रही है। केवल चरित्र बल ही पर्याप्त नहीं है। इसके साथ और कुछ भी आवश्यक है।

अहिंसा, अद्रोह और मैत्री :

यह 'और कुछ' भी हमारे मनीषियों ने खोज निकाला था। वह था अहिंसा, अद्रोह और मैत्री। अहिंसा परम धर्म है, वह सनातन धर्म है, वह एक मात्र धर्म है, आदि बातें इस देश में सदा मान्य रही हैं। मन से, वचन से और कर्म से अहिंसा का पालन कठिन साधना है। सिद्धान्त रूप से प्रायः सभी ने इसे स्वीकार किया है पर आचरण में इसे सही-सही उतार लेना कठिन कार्य है। शरीर द्वारा अहिंसा का पालन अपेक्षाकृत आसान है, वाणी द्वारा कठिन है और मन द्वारा तो नितांत कठिन है। तीनों में सामंजस्य बनाये रखना और भी कठिन साधना है।

इस देश में 'अहिंसा' शब्द को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह ऊपर-ऊपर से निषेधात्मक शब्द लगता है लेकिन यह निषेधात्मक इसलिए है कि आदिम सहजात वृत्ति को उखाड़ देने के उद्देश्य से बना है। अहिंसा बड़ी कठिन साधना है। उसका साधन संयम है, मैत्री है, अद्रोह बुद्धि है और सबसे बढ़कर अन्तर्नाद के सत्य की परम उपलब्धि है। अहिंसा कठोर संयम चाहती है। इन्द्रियों और मन का निग्रह चाहती है, वाणी पर संयत अनुशासन चाहती है और परम सत्य पर सदा जमे रहने की अविसंवादिनी बुद्धि चाहती है।

सबसे बड़े अहिंसाव्रती :

भगवान् महावीर से बड़ा अहिंसाव्रती कोई नहीं हुआ। उन्होंने विचारों के क्षेत्र में क्रान्तिकारी अहिंसक वृत्ति का प्रवेश कराया। विभिन्न विचारों और विश्वासों के प्रत्याख्यान में जो अहंकार भावना है, उसे भी उन्होंने पनपने नहीं दिया। अहंकार अर्थात् अपने आप

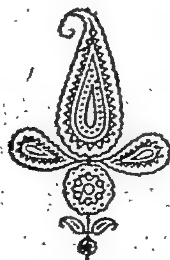
को जगत् प्रवाह से पृथक् समझने की वृत्ति बहुत प्रकार की हिंसा का कारण बनती है। सत्य को इदमित्थं रूप में जानने का दावा भी अहंकार का ही एक रूप है। सत्य अविभाज्य होता है और उसे विभक्त कर के देखने से मत-मतांतरों का आग्रह उत्पन्न होता है। आग्रह से सत्य के विभिन्न पहलू ओझल हो जाते हैं।

सम्पूर्ण मनीषा को नया मोड़ :

मुझे भगवान् महावीर के इस अनाग्रही रूप में, जो सर्वत्र-सत्य की झलक देखने का प्रयासी है, परवर्ती काल के अधिकारी भेद, प्रसंग भेद आदि के द्वारा सत्य को सर्वत्र देखने की वैष्णव प्रवृत्ति का पूर्व रूप दिखाई देता है। परवर्ती जैन आचार्यों ने 'स्याद्वाद' के रूप में इसे सुचिंतित दर्शन शास्त्र का रूप दिया और वैष्णव आचार्यों ने सब को अधिकारी-भेद से स्वीकार करने की दृष्टि दी। भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण भारतीय मनीषा को नये ढंग से सोचने की दृष्टि दी। इस दृष्टि का महत्त्व और उपयोगिता इसी से प्रकट होती है कि आज घूम फिर कर संसार फिर उसी में कल्याण देखने लगा है।

सत्य और अहिंसा पर उनकी बड़ी दृढ़ आस्था थी। कभी-कभी उन्हें केवल जैनमत के उस रूप को, जो आज जीवित है, प्रभावित और प्रेरित करने वाला मानकर उनकी देन को सीमित कर दिया जाता है। भगवान् महावीर इस देश के उन गिने-चुने महात्माओं में से हैं जिन्होंने सारे देश की मनीषा को नया मोड़ दिया है। उनका चरित्र, शील, तप और विवेकपूर्ण विचार, सभी अभिनन्दनीय हैं।

●●●●



७

विश्व को भगवान् महावीर की देन

• श्री मधुकर मुनिजी

भारतवर्ष की यह सांस्कृतिक परम्परा रही है कि यहां महापुरुष जन्म से पैदा नहीं होते किन्तु कर्म से बनते हैं। अपने उदात्त एवं लोकहितकारी आदर्श तथा आचरण के बल पर ही वे पुरुष से महापुरुष की श्रेणी में पहुंचते हैं। आत्मा से महात्मा और परमात्मा तक की मंजिल को प्राप्त करते हैं। इसलिए भारतवर्ष के किसी भी महापुरुष के कर्तव्य पर, उनकी साधना और सिद्धि पर विचार करते हुए सबसे पहले उनकी जीवन-दृष्टि पर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है। स्वयं के जीवन के प्रति और विश्व जीवन के प्रति उनका क्या चिन्तन रहा है? किस दृष्टि को मुख्यता दी है? और जीवन जीने की किस विधि पर विशेष बल दिया है?—यही महापुरुष के कर्तव्य और विश्व के लिए उसकी देन को समझने का एक मापदंड है।

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसंग पर आज हमारे समक्ष यह प्रश्न उभर कर आया है कि २५०० वर्ष की इस सुदीर्घकाल यात्रा में भी जिस महापुरुष की स्मृतियां और संस्मृतियां मानवता के लिए उपकारक और पथ-दर्शक बनी हुई है, उस महापुरुष की आखिर कौनसी देन है जिससे मानवता आज निराशा की अंधकाराछन्न निशा में भी प्रकाश प्राप्त करने की आशा लिए हुए है।

भगवान् महावीर स्वयं ही विश्व के लिए एक देन थे—यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उनके जीवन के कण-कण में और उनके उपदेशों से पद-पद में मानवता के प्रति असीम प्रेम, करुणा और उसके अभ्युदय की अनन्त अभिलाषा छलक रही है। और इसी जीवन धारा में उन्होंने जो कुछ किया, कहा वह सभी मानवता के लिए एक प्रकाश पुंज हैं, एक अमूल्य देन है।

मानव सत्ता की महत्ता :

भगवान् महावीर से पूर्व के भारतीय चिंतन में मानव की महत्ता मानते हुए भी उसे ईश्वर या किसी अज्ञात शक्ति का दास स्वीकार कर लिया गया था। मानव ईश्वर के हाथ की कठपुतली समझा जाता था, और उस ईश्वर के नाम पर मानव के विभिन्न रूप विभिन्न खण्ड निर्मित हो गए थे। यह पहले से मान लिया गया था कि संसार में जो कुछ भी हो रहा है, जो होने वाला है, वह सब ईश्वर की इच्छा का फल है। मानव तो मात्र एक कठपुतली है। अभिनेता तो ईश्वर है, वही इसे अपनी इच्छानुसार नचाता है।

मानव-मानव में भी एक गहरी भेद रेखा खींचदी गई थी। कुछ मनुष्य ईश्वर के प्रतिनिधि बन गये, कुछ उनके दलाल और बाकी सब उन ईश्वरीय एजेंटों के उपासक। ब्राह्मण चाहे कैसा भी हो, वह पूज्य और गुरु है, शूद्र चाहे कितना भी सहिष्णु-सेवापरायण एवं धर्ममय जीवन जीने वाला हो, उसे धर्म साधना करने और शास्त्रज्ञान प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं। यह मानव-सत्ता का अवमूल्यन था, मानव शक्ति का अपमान था।

भगवान् महावीर ने सबसे पहले मानव-सत्ता का पुनर्मूल्यांकन स्थापित किया। उन्होंने कहा—ईश्वर नाम का कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो मनुष्य पर शासन करता हो, मनुष्य ईश्वर का दास या सेवक नहीं है, किन्तु अपने आपका स्वामी है। उन्होंने कहा—

'अप्पा कत्ता विकताय दुहाण य सुहाणय'

—'उत्तराध्ययन सूत्र'

अपने सुख एवं दुःख का करने वाला यह आत्मा स्वयं है। आत्मा का अपना स्वतन्त्र मूल्य है, वह किसी के हाथ विका हुआ नहीं है, वह चाहे तो अपने लिए नरक का कूट शालमली वृक्ष (भयंकर कांटेदार विष वृक्ष) भी उगा सकता है अथवा स्वर्ग का नन्दनवन और अशोक वृक्ष भी। स्वर्ग नरक आत्मा के हाथ में है—आत्मा अपना स्वयं स्वामी है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है।

आत्मा सत्ता की स्वतन्त्रता का यह उद्घोष मानवीय मूल्यों की नवस्थापना था, मानव सत्ता की महत्ता का स्पष्ट स्वीकार था। इस आघोष ने मनुष्य को सत्कर्म के लिए, पुरुषार्थ के लिए प्रेरित किया। ईश्वरीय दासता से मुक्त किया। और बन्धनों से मुक्त होने की चाबी उसी के हाथ में सौंप दी गई—

'बंधप्पमोक्खो अजत्थेव'

—आचारांग सूत्र १।५।२

बंधन और मोक्ष—आत्मा के अपने ही भीतर है।

समानता का सिद्धान्त :

मानव सत्ता की महत्ता स्थापित होने पर यह सिद्धान्त भी स्वयं पुष्ट हो गया कि मानव चाहे पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या शूद्र—धर्म की दृष्टि से, मानवीय दृष्टि से उसमें कोई अन्तर नहीं है। जाति और जन्म से अपनी अभिजात्यता या श्रेष्ठता मानना मात्र एक दंभ है। जाति से कोई भी विशिष्ट या हीन नहीं—

'न दीस ई जाइ विसेस कोई'

—उत्तराध्ययन सूत्र

उन्होंने कहा—ब्राह्मण कौन ? कुल विशेष में पैदा होने वाला ब्राह्मण नहीं, किन्तु 'बंभ चेरेण बंभणो' (उत्तराध्ययन) ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्राह्मण होता है। यह जातिवाद पर गहरी चोट थी। जाति को जन्म के स्थान पर कर्म से मानकर भगवान् महावीर ने पुरानी जड़ मान्यताओं को तोड़ा।

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

कर्म समानता के इस सिद्धान्त से आभिजात्यता का झूठा दंभ निरस्त हो गया और मानव-मानव के बीच समानता की भावना, कर्म श्रेष्ठता का सिद्धान्त स्थापित हुआ।

धर्म साधना के क्षेत्र में भगवान् महावीर ने नारी को उतना ही अधिकार दिया जितना पुरुष को। यह तो धार्मिकता का, आत्मज्ञान का उपहास था कि एक साधक अपने को आत्म दृष्टा मानते हुए भी स्त्री-पुरुष की दैहिक धारणाओं से बंधा रहे और धर्म साधना में स्त्री-पुरुष का लैंगिक भेद मन में बसाए रहे। भगवान् महावीर ने कहा— **इत्थी ओ 'वा पुरिसेवा**—चाहे स्त्री हो या पुरुष हो प्रत्येक में एक ज्योतिर्मय अनन्त शक्तिमय आत्मतत्व है, और प्रत्येक उसका पूर्ण विकास कर सकता है, इसलिए धर्म साधना के क्षेत्र में जातीय अथवा लैंगिक भेद के आधार पर भेद-भाव पैदा करना निरा अज्ञान और पाखण्ड है।

इस प्रकार मानव की महत्ता और धर्म साधना में समानता का सिद्धान्त भगवान् महावीर की एक अद्भुत देन है, जो भारतीय जीवन को ही नहीं, किन्तु विश्व जीवन को भी उपकृत कर रही है। इसी के साथ अहिंसा का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक दर्शन, अपरिग्रह का उच्चतम सामाजिक एवं अध्यात्मिक चिंतन तथा अनेकान्त का श्रेष्ठ दार्शनिक विश्लेषण विश्व के लिए भगवान् महावीर की एक अविस्मरणीय देन है। आवश्यकता है आज इस देन से मानव समाज अपना कल्याण करने के लिए सच्चे मन से प्रस्तुत हो।



८

भगवान् महावीर के शाश्वत संदेश

• श्री अगरचन्द नाहटा

मानव अन्य प्राणियों से विशिष्ट :

मानव अन्य प्राणियों से विशिष्ट इसीलिए माना गया है कि उसके पास मन और भाषा की जैसी महत्त्वपूर्ण शक्ति है जो दूसरों को प्राप्त नहीं है। मन के द्वारा वह मनन करता है, अच्छे-बुरे कामों का निर्धारण करता है। भाषा के द्वारा वह अपने भावों को अच्छी तरह से व्यक्त करता है, दूसरे के भावों को सुनता-समझता है। आगे चलकर जब भगवान् ऋषभदेव ने मानवीय सभ्यता का विकास किया तो लिपि और अंक तथा अनेक विद्याएँ और कलाएँ सिखाईं तो मानव की कार्य-शक्ति बहुत बढ़ गई। पारस्परिक सद्भाव एवं संगठन से समाज बना। व्यक्ति एक दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी बने। इस तरह अहिंसा और प्रेम धर्म का विकास हुआ। यद्यपि परिस्थितियों आदि के कारण मानव स्वभाव में बुराइयां भी पनपीं। फिर भी महापुरुषों की वाणी से मानव समाज को मार्ग-दर्शन मिलता रहा। इससे मनुष्य ने केवल इह-लौकिक ही नहीं, पारलौकिक परमसिद्धि मोक्ष तक प्राप्त करने का मार्ग ढूंढ निकाला। मानव में जो बहुत सी कमजोरियां हैं उनको मिटाने व हटाने के लिए ही नीति, धर्म और आध्यात्म की शिक्षा महापुरुषों ने दी। न्यूनाधिक रूप में गुणों के साथ दोष भी सदा से उभरते रहे हैं। महापुरुषों ने दोषों के निवारण और गुणों के प्रगटीकरण तथा उन्नयन का मार्ग बतला कर जन-साधारण का बड़ा उपकार किया है। उनके उपदेश किसी समय-विशेष के लिये ही उपयोगी नहीं, पर वे सदा-सर्वदा कल्याणकारी होने से शाश्वत संदेश कहे जाते हैं।

भगवान् महावीर जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थंकर, इस क्षेत्र और काल की अपेक्षा से माने जाते हैं। उन्होंने जगत् के प्राणियों को दुःखों से संतप्त देखा, और उन दुःखों के कारणों पर गम्भीर चिन्तन किया। साढ़े-बारह वर्षों तक साधक जीवन में वे प्रायः मौन और ध्यानस्थ रहे। आहार-पानी की भी उन्हें चिन्ता न थी। इसलिये साढ़े बारह वर्षों में केवल ३४१ दिन ही, दिन में एक बार आहार-पानी एक साथ में ही ग्रहण कर लिया। बाकी दिन उपवास-तप में ही बिताये। लम्बी और कठिन साधना के बाद उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। वे पूर्ण वीतरागी और अर्हत् बने। प्राणीमात्र के कल्याण के लिए उन्होंने जो विधि-निषेध के रूप में ३० वर्ष तक धर्मोपदेश दिया, उससे लाखों व्यक्तियों का जीवन आदर्श और पवित्र बना। उनके दिये हुए उपदेश आज भी मानव-समाज के लिये उतने ही उपयोगी

है जितने कि २५०० वर्ष पहले थे, क्योंकि मानव स्वभाव में कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ है। सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव तो पड़ता रहता है अतः प्रवृत्तियों में वाह्यअन्तर और न्यूनाधिकता नजर आती है, पर मूल भूत स्वभाव और गुणदोष तो सदा करीब-करीब वही रहते हैं। यहां भगवान् महावीर के शाश्वत संदेशों पर विचार किया जा रहा है।

पारस्परिक सद्भाव :

मानव अकेला जन्मता है और अकेला ही जाता है। पर उसका मध्यवर्ती जीवन बहुत कुछ दूसरों के सहयोग पर आधारित है। माता-पिता, कुटुम्ब-परिवार, समाज, जाति, देश, राष्ट्र के लोगों से उसका सम्पर्क बढता है तो अनेक बातें उनसे ग्रहण करता है। इसी तरह उससे भी अन्य लोग ग्रहण करते हैं। महापुरुषों ने अहिंसा या प्रेमधर्म का प्रचार इसीलिये किया कि पारस्परिक हिंसा, कटुता, क्लेश और व्यक्तिगत स्वार्थ मानव समाज को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। अतः महावीर ने अहिंसा धर्म का उपदेश देते हुये कहा कि—सभी जीव जीना चाहते हैं और सुख चाहते हैं, इसीलिए किसी को मारो मत, न कष्ट दो उन्हें अपने ही समान समझो। इस आत्मीय भाव का विस्तार ही अहिंसा है। इसकी आवश्यकता सब समय थी और रहेगी, क्योंकि मनुष्य में हिंसा का भाव सदा बना रहता है और उससे उसका और समाज तथा राष्ट्र का बहुत नुकसान होता है। हिंसा, अशांति का मूल है। हिंसा के संस्कार एक जन्म तक ही नही, अनेक जन्मों तक चलते और बढते रहते हैं। आज एक निर्बल व्यक्ति को या राष्ट्र को किसी सबल ने सताया, दबाया तो परिस्थितिवश उसे चाहे सहन करना पड़े, पर जब भी उसे मौका मिलेगा तब बदला लेने का प्रयत्न करेगा ही। आजका सबल कल निर्बल बन सकता है इसी तरह आजका निर्बल, कल सबल बन सकता है। जहां तक अहिंसक-भाव को नही अपनाया जायगा, वैर-विरोध की परम्परा चलती ही रहेगी। जो सुख-सुविधाएं मनुष्य अपने लिए चाहता है, वही दूसरों के लिए भी चाहता व देता रहे तो संघर्ष नही होगा। सहअस्तित्व के लिए पारस्परिक सद्भाव की बहुत ही आवश्यकता है। दूसरे प्राणियों को भी अपने ही समान आगे बढ़ने और सुख शान्ति से जीवन-यापन करने की सुविधा देने से ही शांति मिल सकेगी। व्यक्ति अपने स्वार्थ को भूल कर सबके प्रति समभाव और आत्मीय-भाव रखे, तो कटुता, संघर्ष, आक्रमण, युद्ध, दूसरों की भूमि, सत्ता और धन पर लोलुपभाव नहीं रखा जाय, तो विश्व में शांति सहज ही स्थापित हो सकती है। पारस्परिक सद्भाव और आत्मीय भाव व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी के लिए लाभदायक है।

समविभाजन और समाज-संतुलन :

अपने पास भूमि, धन वस्तुएं आदि अधिक है, और दूसरो को उनकी आवश्यकता है तो उनको वे वस्तुएं दे दी जाये जिससे उनको वस्तुओं के अभाव से दुःख न हो, ईर्ष्या न हो। आखिर एक के पास आवश्यकता से बहुत अधिक संचय होगा और दूसरा अभाव के कारण कष्ट उठाता रहेगा, तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। इसलिये समविभाजन करते रहना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है ताकि समाज में संतुलन बना रहे। आवश्यकताओं को कम करते जाना

भगवान् महावीर का मुख्य संदेश है। मुनियों के लिये तो जीवन धारण करने के लिये अत्यल्प आवश्यकतायें होती हैं पर श्रावकों के लिए भी सातवें व्रत में भोग और उपभोग की वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह का निषेध है। उस व्रत का नाम है भोगोपभोग परिणाम व्रत। आठवां व्रत है—अनर्थ दण्ड। वास्तव में प्रयोजनीय, जरूरी संग्रह एवं काम तो बहुत थोड़े होते हैं व्यर्थ की आवश्यकताओं को बढ़ाकर तथा मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करके मनुष्य पाप बन्ध करते रहते हैं इसलिए उन पर रोक लगाई गई है।

मैत्री और क्षमा भाव :

समभाव की साधना एवं पाप-प्रवृत्ति के पश्चाताप के लिए सामायिक-प्रतिक्रमण करने का विधान है। वास्तव में आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचन प्रत्येक व्यक्ति के लिये बहुत ही आवश्यक और लाभदायक हैं। बहुत बार असावधानी या परिस्थितिवश न करने योग्य कार्य मनुष्य कर बैठता है। दूसरों से वैर-विरोध बढ़ा लेता है। इसलिये सामायिक-प्रतिक्रमण में प्रतिदिन सब जीवों से खमतखामणा करने का विधान है। निम्न गाथा द्वारा इस भाव को बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया है—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्तिमे सव्वे भुएसु, वैरं मझं न केणई।

मैं सब जीवों से क्षमा चाहता हूं और क्षमा देता हूं। किसी के साथ भी मेरा वैर विरोध नहीं है, सबके साथ में अच्छा मैत्रीभाव है।

इस भावना का प्रचार जितना अधिक होगा उतना ही विश्व का मंगल होगा। प्रत्येक व्यक्ति यदि शुद्धभाव से दूसरों से अपने अपराधों, अनुचित व कटु व्यवहार के लिये क्षमा मांग ले और अपने प्रति हुए ऐसे व्यवहारों के लिये दूसरों को क्षमा करदे, किसी के साथ वैर विरोध न रखकर सबके साथ मैत्रीभाव रखने लगे तो इस विश्व का स्वरूप ही बदल जायगा। आवश्यकता है भगवान् महावीर के इन शाश्वत संदेशों को जन-जन में प्रचारित करने की, नियमित रूप से आत्म-निरीक्षण का अभ्यास डालने की।

व्यक्ति स्वयं अपने विकास का उत्तरदायी :

व्यक्तियों का समूह ही समाज है। व्यक्ति सुधरेगा तो समाज भी सुधर जायगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में सद्‌गुणों का अधिकाधिक विकास हो। अवगुण या दोषों का ह्रास हो। इसके अनेक उपाय भगवान् महावीर ने बतलाये हैं। जैनधर्म वीतराग होने का संदेश देता है। राग, द्वेष ही कर्म के बीज हैं, और कर्मों के कारण से ही दुःख क्लेश और विभिन्नतायें हैं। कर्म जो करता है उसका फल उसे भोगना ही पडेगा। इसलिए बुरे कामों से बचा जाय। आत्मा ही अपना शत्रु और वही अपना मित्र है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात भगवान् महावीर ने कही है। जैनधर्म में ईश्वर को कर्ता, हर्ता एवं सृष्टि का संचालक नहीं माना गया, प्रत्येक व्यक्ति ही स्वरूपतः ईश्वर या परमात्मा है। वह स्वयं ही कर्मों का

कर्त्ता है—स्वयं ही भोक्ता है और उन कर्मों से मुक्त होने वाला भी स्वयं ही है। अर्थात् भगवान् महावीर ने प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का उत्तरदायी बतलाते हुए पुरुषार्थ करके स्वतंत्र बनने का संदेश दिया। व्यक्ति पराधीन अपनी ही गलतियों के कारण बनता है, और उन अवगुणों से दूर हट जाना उसके अपने वश की ही बात है। परमुखापेक्षिता और दीनता की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति एवं योग्यता है। यह संदेश बहुत ही उद्‌बोधक है, प्रेरणादायक है। मनुष्य की सोई हुई अविकसित शक्तियों को जागृत और विकसित करने का काम प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं करना है। दूसरा उसमें निमित्त कारण बन सकता है। पर उपादान तो प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा स्वयं ही है। कर्मों का बंध आत्मा ही करती है। और पुरुषार्थ और प्रयत्न द्वारा कर्मों से मुक्त भी हुआ जा सकता है। यह बहुत बड़ी बात है जो मानव समाज के सामने भगवान् महावीर ने रखी। उन्होंने हृदय-परिवर्तन को प्रधानता दी, सुप्त और गुप्त शक्तियों को जागृत करने की प्रेरणा दी।

कषाय-विजय ही सच्ची विजय :

कर्मों के बन्ध और उनसे मुक्त होने के कारणों पर भगवान् महावीर ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इससे मनुष्य अपनी शक्तियों और गुणों का परिपूर्ण विकास करके कैसे परमानन्द प्राप्त कर सकता है यह बहुत ही स्पष्ट हो जाता है। राग और द्वेष के २-२ भेद हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ। भगवान् महावीर ने कहा है कि क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का और लोभ से समस्त गुणों का नाश होता है। अतः शांति से क्रोध को, नम्रता से अभिमान को, सरलता से माया को, और संतोष से लोभ को जीतो। प्रत्येक व्यक्ति और समाज तथा विश्व में अशांति इन क्रोध, मान माया और लोभ के कारण ही होती है। इसलिये इनसे बचने और क्षमा, मृदुता, सरलता और संतोष को अपनाने का परम कल्याणकारी संदेश दिया गया है।

क्रोध आदि के दुष्परिणामों से कितना दुःख उठाना पड़ता है, कितनी अशांति भोग करनी पड़ती है यह सभी अनुभव करते हैं। अनादिकाल के संस्कार वश अपने मन के अनुकूल कोई काम नहीं होने या करने पर क्रोध की ज्वाला भभक उठती है। उस समय मनुष्य कर्तव्य और अकर्तव्य को भूल जाता है, नहीं कहने की बात कह देता है। हिंसा आदि नहीं करने के काम कर बैठता है। इससे स्वयं को नुकसान होता है और दूसरों को भी। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी क्रोध का बहुत बुरा असर पड़ता है। अधिकांश व्यक्ति अभिमान वश दूसरों को तुच्छ वचन कहते हैं नीच समझते हैं। अपने अभिमान पर चोट पहुँचने से आपा खो बैठते हैं। आज मायाचार दिखाकर कपट बहुत बढ़ गया है पर दूसरों को ठगने का प्रयत्न करता हुआ वास्तव में मनुष्य स्वयं ठगा जाता है। दगा किसी का सगा नहीं। लोभ का दुष्परिणाम तो सबसे भयंकर है। प्रायः सभी पाप लोभ के कारण ही हुआ करते हैं। इसलिये इन चार कषायों को बहुत प्रधानता देकर भगवान् महावीर द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है।

भगवान् महावीर ने पाप के १८ प्रकार बतलाए हैं (१) हिंसा, (२) झूठ (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) दोषारोपण, (१४) चुगली, (१५) असंयम में रति-सुख और संयम में अरति-दुःख, (१६) परनिन्दा, (१७) कपटपूर्ण झूठ, (१८) मिथ्यादर्शन शल्य। इन पापों से बचने का उपदेश दिया है। इससे अपनी आत्मा को शान्ति मिलती ही है—पर समाज और राष्ट्र को भी बहुत लाभ मिलता है। कलह से कटुता बढ़ती है। दूसरों की चुगली करना, परनिन्दा करना इससे वैर बढ़ता है। अपराधों से निवृत होने के लिए प्रत्येक गृहस्थ के लिए भी इन पापों से कोई भी पाप लगा हो तो प्रतिक्रमण में उसके लिए पश्चाताप किया जाता है।

कर्म-बंध के कारण बतलाए गए हैं—मिथ्यात्व अविरति, कषाय, योग और प्रमाद। इनमें सबसे प्रमुख मिथ्यात्व और कषाय हैं। अनादिकाल से आत्मा अपने स्वरूप को भूल चुकी है। धन कुटुम्ब आदि पर पदार्थों को अपना मान कर उन पर ममत्व धारण कर लेती है। विषय-वासनाओं में सुख अनुभव करते हुए उनमें आसक्त बन जाती है। इसलिए मोक्ष मार्ग में सबसे पहला मार्ग सम्यक्‌दर्शन है। इससे शरीर आदि पर पदार्थों से आत्मा को भिन्न मानने रूप भेदविज्ञान प्रगट होता है। वस्तु स्वरूप का वास्तविक ज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकता। अतः सम्यग्दर्शन के बाद सम्यकज्ञान और सम्यक-चारित्र को मोक्ष मार्ग बतलाया गया है। अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों में से ही यह आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही है। कर्म बन्धन से मुक्त हो जाना ही स्वस्वरूप और परमात्म भाव परमानन्द की उपलब्धि है।

संयम और तप :

जैन धर्म में संयम और तप को बहुत प्रधानता दी गई है। इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त करना संयम है और इच्छाओं का निरोध करना ही तप है। इच्छाएं आकाश के समान अनन्त है। तृष्णा का कोई पार नहीं है। इच्छाएँ ही बन्धन हैं। अतः कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए इच्छाओं पर निरोध बहुत ही आवश्यक है। भगवान् महावीर ने स्वयं तप, मौन और ध्यान की साधना साढ़े बारह वर्ष की। उनके द्वारा प्रणित आभ्यंतर तप तो बहुत ही महत्वपूर्ण है। गुणीजनों और बड़ेबूढ़ों का आदर करना विनय रूप तप है। दूसरों की सेवा करना वैयावृत्य तप है। किए हुए पापों की निन्दा गर्हा करना प्रायश्चित तप है। स्वाध्याय के द्वारा आत्मस्वरूप को जानना और ज्ञानवृद्धि करना स्वाध्याय नाम का तप है। इसी तरह ध्यान और कायोत्सर्ग आभ्यंतर तप हैं। जिनसे आत्मा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करती है व शुद्ध बनती है।

जैन धर्म में दस प्रकार के धर्म माने जाते हैं। उनमें चार तो चार कषायों के निरोध रूप हैं—क्षमा, सन्तोष, सरलता और नम्रता। सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता ये ६ और मिलाने से दस प्रकार के श्रमण धर्म हो जाते हैं। जैन धर्म का प्राचीन नाम श्रमण धर्म ही है। मुनियों को श्रमण कहा जाता है और श्रावकों

को श्रमणोपासक। सत्य, चौर्य और ब्रह्मचर्य के साथ पूर्व उल्लिखित अहिंसा और अपरिग्रह को मिलाकर पंच महाव्रत कहा जाता है। साधुओं के लिए इनका पूर्णरूप से पालन करना और श्रावकों के लिए स्थूलरूप से अणुव्रतों का पालन आवश्यक है। इससे जीवन-संयमित और सदाचारमय बन जाता है। यह आत्मोत्थान, समाज कल्याण एवं सुख-शान्ति प्राप्त करने का मार्ग है।

समभाव : आचार में विचार में :

जैन धर्म का मर्म समभाव में समाया हुआ है। राग, द्वेष का न होना ही समभाव है। सारी धार्मिक क्रियायें इस समभाव प्राप्ति के लिए ही की जाती हैं। प्राणी मात्र में समानता का अनुभव करना ही अहिंसा है। अपरिग्रह का सिद्धान्त भी सामाजिक विषमता को हटाने के लिए ही है। एक पास धन आदि वस्तुओं का अम्बार लग जाय और दूसरा खाने-पीने के लिए भी कष्ट उठाए इस विपमता को हटाने के लिए मूर्छा या ममत्व को कम करना बहुत ही आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य के विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः विचारों का संघर्ष मिटाने के लिए भगवान् महावीर ने अनेकान्त को महत्व दिया। एकान्त आग्रह को मिथ्यात्व माना, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्म है, अतः केवल एक दृष्टिकोण विशेप से वस्तु का पूर्णतया प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। केवल अपना ही आग्रह न रख कर दूसरों के विचारों व कथन में जो सत्य का अंश रहा हुआ है उसको भी जानना बहुत जरूरी है। वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के लिए उस वस्तु के अलग-अलग दृष्टिकोण से जो जो स्वरूप है उन सबको ध्यान में लाना आवश्यक है। धर्म-सम्प्रदायों में साधारण मतभेदों को लेकर बहुत संघर्प होता रहा। अपनी ही बात या विचार सत्य है दूसरों के गलत है इस मताग्रह के कारण राग द्वेष और कटुता का बोल बाला रहा। अतः भगवान् महावीर का अनेकान्त सिद्धान्त दूसरों के विचारों का भी समन्वय करना सिखाता है। यदि हम दूसरे के कथन की अपेक्षा ठीक से जान लें तो फिर संघर्ष को मौका नहीं मिलेगा।

भगवान् महावीर ने एक और क्रान्तिकारी सन्देश प्रचारित किया कि वर्ण या जाति से कोई ऊँचा या नीचा नहीं होता। गुण ही मनुष्य को ऊँचा बनाते है। ब्राह्मण जाति में जन्म लेने से कोई ऊँचा और शूद्र में जन्म लेने से नीचा बनता है इस मान्यता का विरोध किया गया। व्यक्ति और जाति के स्थान पर गुणों को महत्व दिया गया। इसीलिए हरिकेशी चांडाल जैन मुनि बनकर उच्च वर्ण वालों के लिए भी पूज्य बना। विशेपता जाति की नहीं गुणों की है।

स्त्रियों को भी भगवान् महावीर ने पुरुपों की तरह ही धार्मिक अधिकार दिए। उसे मोक्ष तक का अधिकारी माना। साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या दूनी से अधिक थीं। इसी तरह श्रावकों से श्राविकाओं की संख्या दुगुनी थी। लाखों स्त्रियों ने धर्म की आराधना करके सद्गति पाई। आज भी साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या अधिक है, और धर्म प्रचार में भी वे काफी अग्रगण्य और प्रयत्नशील हैं। स्त्री समाज

अपनी शक्तियों को विकसित करता रहे, तो आत्म कल्याण में कोई बाधा नहीं है। विवेक में ही धर्म है।

भगवान् महावीर ने समय मात्र भी प्रमाद न करने का उपदेश दिया है। आत्म-विस्मृति जागरुकता का अभाव ही प्रमाद है। समय बहुत ही सूक्ष्म है। आयु प्रति क्षण क्षीण होती चली जा रही है। अतः व्यर्थ की बातों में समय बर्बाद न कर प्रत्येक समय का सदुपयोग किया जाय। महावीर के उक्त सन्देश सार्वभौम एवं सार्वकालिक हैं।

मानव जीवन को उच्च और आदर्श बनाने के लिए तथा विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए ये सन्देश बहुत ही उपयोगी हैं। प्रत्येक व्यक्ति उन्हें आचरण में लाए और दूसरों को भी उन्हें अपनाने के लिए प्रेरणा करें तो ये व्यक्ति विशेष के लिए ही नहीं, सभी के लिए समान रूप से लाभदायक हैं।



द्वितीय खण्ड

सामाजिक संदर्भ

६

समता-दर्शन : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

• आचार्य श्री नानालालजी म० सा०

समता-दर्शन का लक्ष्य :

समता मानव जीवन एवं मानव-समाज का शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों का लक्ष्य समता है क्योंकि समता मानव-मन के मूल में है। इसी कारण कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की प्राप्ति सभी को अभीष्ट है। जिस प्रकार आत्माएँ मूल में समान हैं किन्तु कर्मों का मैल उनमें विभेद पैदा करता है और जिन्हें संयम और नियम द्वारा समान बनाया जा सकता है, उसी प्रकार समग्र मानव-समाज में भी स्वस्थ नियम-प्रणाली एवं सुदृढ़ संयम की सहायता से समाजगत समता का प्रसारण किया जा सकता है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की माँग भी उतनी ही अधिक गहरी है। वर्तमान विषमता के मूल में सत्ता व सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या दलगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेषरूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास में बाधक है। समता ही इसका स्थायी व सर्वजन हितकारी निराकरण है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता, विचार में हो, दृष्टि में हो, वाणी में हो तथा आचरण के प्रत्येक चरण में हो। समता, मनुष्य के मन में है तो समाज के जीवन में भी, समता भावना की गहराइयों में है तो साधना की ऊंचाइयों में भी।

विकासमान समता-दर्शन :

मानव-जीवन गतिशील है। उसके मस्तिष्क में नये २ विचारों का उदय होता है। ये विचार प्रकाशित होकर अन्य विचारों को आन्दोलित करते हैं। फलस्वरूप समाज में विचारों के आदान-प्रदान एवं संघर्ष समन्वय का क्रम चलता है। इसी विचार मन्थन में से विचार-नवनीत निकालने का कार्य युग-पुरुष किया करते हैं।

कहा जाता है कि समय बलवान होता है। यह सही है कि समय का बल अधिकांशतः लोगों को अपने प्रवाह में बहाता है, किन्तु समय को अपने पीछे करने वाले ये ही युग-पुरुष होते हैं जो युगानुकूल वाणी का उद्घोष करके समय के चक्र को दिशा-दान करते हैं। इन्हीं युगपुरुषों एवं विचारकों के आत्म-दर्शन से समता-दर्शन का विकास होता आया है। इस विकास पर महापुरुषों के चिंतन की छाप भी है तो समय-प्रवाह की छाप भी। और जब आज हम समता-दर्शन पर विचार करें तो यह ध्यान रखने के साथ कि अतीत में महापुरुषों ने इसके सम्बन्ध में अपना विचार-सार क्या दिया है—यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता

होगी कि वर्तमान युग के संदर्भ में और विचारों के नवीन परिप्रेक्ष्य में आज हम समता-दर्शन का किस प्रकार स्वरूप निर्धारण एवं विश्लेषण करें ?

महावीर की समता-धारा :

ऐतिहासिक अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि समता-दर्शन का सुगठित एवं मूर्त विचार सबसे पहले भगवान् पार्श्वनाथ एवं भगवान् महावीर ने दिया। जब मानव-समाज विषमता एवं हिंसा के चक्रव्यूह में फंसा तड़प रहा था, तब महावीर ने गंभीर चिन्तन के पश्चात् समता-दर्शन की जिस पुष्ट धारा का प्रवाह प्रवाहित किया, वह आज भी युग-परिवर्तन के बावजूद प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। इस विचारधारा और उनके बाद जो चिन्तन-धारा चली है—यदि दोनों का सम्यक् विश्लेषण करके आज समता-दर्शन की प्रेरणा ग्रहण की जाय और फिर उसे व्यवहार में उतारा जाय तो निस्सन्देह मानव-समाज को सर्वांगीण समता के पथ की ओर मोड़ा जा सकता है।

महावीर ने समता के दोनों पक्षों—दर्शन एवं व्यवहार—को समान रूप से स्पष्ट किया तथा वे सिद्धान्त बता कर ही नहीं रह गये किन्तु उन्होंने उन सिद्धान्तों को अपने आचरण द्वारा क्रियात्मक रूप भी दिया।

सभी आत्माएँ समान हैं :

महावीर ने समता के मूल बिन्दु को सबसे पहिले पहिचाना। उन्होंने उद्घोष किया कि सभी आत्माएँ समान हैं याने कि सभी आत्माओं में अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान क्षमता-शक्ति रही हुई है। उस शक्ति को प्रस्फुटित एवं विकसित करने की समस्या अवश्य है किन्तु लक्ष्य-प्राप्ति के सम्बन्ध में हताशा या निराशा का कोई कारण नहीं है। इसी विचार ने यह स्थिति स्पष्ट की कि जो 'आत्मा सो परमात्मा' अर्थात् ईश्वर कोई अलग शक्ति नहीं, जो सदा से केवल ईश्वर रूप में ही रही हुई हो, बल्कि संसार में रही हुई आत्मा ही अपनी साधना से जब उच्चतम विकास साध लेती है तो वही परम पद पाकर परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वह परमात्मा सर्वशक्तिमान् एवं पूर्ण ज्ञानवान् तो होता है किन्तु संसार से उसका कोई सम्बन्ध उस अवस्था में नहीं रहता।

यह क्रांति का स्वर महावीर ने गुंजाया कि संसार की रचना ईश्वर नहीं करता और इस परम्परागत धारणा को भी उन्होंने मिथ्या बताया कि ऐसे ईश्वर की इच्छा के बिना संसार में एक पत्ता भी नहीं हिलता। संसार की रचना को उन्होंने अनादि कर्म प्रकृति पर आधारित बताकर आत्मीय समता की जो नींव रखी, उस पर समता का प्रासाद खड़ा करना सरल हो गया।

समदृष्टि सम्पन्न बनने की आवश्यकता :

आत्मीय समता की आधारशिला पर महावीर ने सन्देश दिया कि सबसे पहले समदृष्टि बनो। इसे उन्होंने जीवन-विकास का मूलाधार बताया। समदृष्टि का शाब्दिक अर्थ है—समान नजर रखना, लेकिन इसका गूढार्थ बहुत गंभीर और विचारणीय है।

मनुष्य का मन जब तक सन्तुलित एवं संयमित नहीं होता तब तक वह अपनी

विचारणा के घात-प्रतिघातों में टकराता रहता है। उसकी वृत्तियां चंचलता के उतार-चढ़ावों में इतनी अस्थिर बनी रहती हैं कि सद् या असद् का उसे विवेक नहीं रहता। आप जानते हैं कि मन की चंचलता राग और द्वेष की वृत्तियों से चलायमान रहती है। राग इस छोर पर तो द्वेष उस छोर पर मन को इधर-उधर भटकाते हैं। इससे मनुष्य की दृष्टि विषम बनती है। राग वाला अपना और द्वेष वाला पराया। इस प्रकार जहां अपने और पराये का भेद बनता है वहां दृष्टिभेद रहेगा ही।

महावीर ने इसी कारण मानव-मन की चंचलता पर पहली चोट की, क्योंकि मन ही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण होता है। चंचलता राग और द्वेष को हटाने से हटती है और चंचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी।

सबसे पहले समदृष्टिपना आये, यह वांछनीय है। क्योंकि जो समदृष्टिसम्पन्न बन जायगा वह स्वयं तो समता पथ पर आरूढ़ होगा ही, अपने सम्यक् संसर्ग से दूसरों को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इस प्रयास का प्रभाव जितना व्यापक होगा उतना ही व्यक्ति एवं समाज का सभी क्षेत्रों में चलने वाला व्यवस्था-क्रम सही दिशा की ओर अग्रसर होने लगेगा।

श्रावकत्व एवं साधुत्व :

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारंभ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बनाया। समतामय दृष्टि के बाद समतामय आचरण की पूर्ति के लिये दो स्तरों की रचना की गई।

इसमें पहला स्तर रखा श्रावकत्व का। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गये हैं जिनमें पहले के पांच मूल गुण कहलाते हैं एवं शेष सात उत्तर गुण। मूल गुणों की रक्षा के निमित्त उत्तर गुणों का निर्धारण माना जाता है। मूल पांच व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। अनुरक्षक सात व्रत हैं—दिशा मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदण्ड त्याग, सामायिक, देशावकासिक, प्रतिपूर्ण पौषध एवं अतिथि-संविभाग व्रत।

श्रावक के जो पांच मूल व्रत हैं, ये ही साधु के पांच महाव्रत हैं। दोनों में अन्तर यह है कि जहां श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री गमन एवं असीमित परिग्रह का त्याग करता है, वहां साधु सम्पूर्ण रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, मिथुन एवं परिग्रह का त्याग करता है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्तिप्रधान मार्ग कहलाता है—वह इसलिये कि उनकी शिक्षाएं मनुष्य को जड़ पदार्थों के व्यर्थ व्यामोह से हटाकर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश में ले जाना चाहती हैं। निवृत्ति का विलोम है प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत बनकर बाहर ही बाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहां यह भटकाव है, वहां स्वार्थ है, विकार है और विषमता है। समता की सीमा-रेखा में लाने, बनाये रखने और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एवं साधुत्व की उच्चतर श्रेणियां निर्मित की गई।

जानने की सार्थकता मानने में है और मानना तभी सफल बनता है जब उसके अनुसार आचरण किया जाय। विशिष्ट महत्त्व तो करने का ही है। आचरण ही जीवन को आगे बढ़ाता है—यह अवश्य है कि आचरण अन्धा न हो, विकृत न हो।

विचार और आचार में समानता हो :

दृष्टि जब सम होती है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता, विकार नहीं होता और अपेक्षा नहीं होती, तब उसकी नजर में जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। यह निरपेक्ष दृष्टि स्वभाव से देखती है। विचार और आचार में समता का यही अर्थ है कि किसी समस्या पर सोचें अथवा किसी सिद्धान्त का कार्यान्वियन करें तो उस समय समदृष्टि एवं समभाव रहना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी विचारों की एक ही लीक को मानें या एक ही लीक में भेड़वृत्ति से चलें। व्यक्ति के चिन्तन या कृतित्व के स्वातंत्र्य का लोप नहीं होना चाहिये। ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिये।

समदृष्टि एवं समभाव के साथ जब बड़े से बड़े समूह का चिन्तन या आचरण होगा तब समता का व्यापक रूप प्रस्फुटित होगा। इस स्थिति में सभी एक दूसरे के हित चिन्तन में निरत होंगे और कोई भी ममत्व या मूर्च्छा से ग्रस्त न होगा। निरपेक्ष चिन्तन का फल विचार समता में ही प्रकट होता है किन्तु जब उस चिन्तन के साथ दंभ, हठवाद अथवा यशलिप्सा जुड़ जाती है तब वह विचार संघर्ष का कारण बन जाता है। ऐसे संघर्ष का निवारक है महावीर का अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद का सिद्धान्त जिसका मन्तव्य है कि प्रत्येक विचार में कुछ न कुछ सत्यांश होता है। अपेक्षा से उस सत्यांश को समझकर, अंशों को जोड़कर पूर्ण सत्य से साक्षात्कार करने का यत्न किया जाना चाहिए। यह विचार समन्वय का मार्ग है। इससे प्रत्येक विचार की अच्छाई को ग्रहण करने का अवसर मिलता है।

आचार समता के लिये पांचों मूल व्रत हैं। मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार इन व्रतों की आराधना में आगे बढ़ता रहे तो स्वार्थ-संघर्ष मिट सकता है, परिग्रह का मोह छोड़ें या घटायें और राग-द्वेष की वृत्तियों को हटायें तो हिंसा छूटेगी ही, चोरी और झूठ भी छूटेगा तथा काम-वासना की प्रबलता भी मिटेगी। सार रूप में महावीर की समताधारा विचारों और स्वार्थों के संघर्ष को मिटाने में सशक्त है, बशर्ते कि उस धारा में अवगाहन किया जाय।

चतुर्विध संघ : समता का मूर्त रूप :

महावीर ने इस समता-दर्शन को व्यावहारिक बनाने के लिये जिस चतुर्विध संघ की स्थापना की, उसकी आधारशिला भी इसी समता पर रखी गई। इस संघ में साधु साध्वी, श्रावक एवं श्राविका वर्ग का समावेश किया गया। साधना के स्तरों में अन्तर होने पर भी दिशा एक ही होने से श्रावक एवं साधु-वर्ग को एक साथ संघबद्ध किया गया। दूसरी ओर उन्होंने लिंग भेद भी नहीं किया—साध्वी और श्राविका को साधु एवं श्राविक वर्ग की श्रेणी में ही रखा। जाति भेद के तो महावीर मूलतः ही विरोधी थे। इस प्रकार

महावीर के चतुर्विध संघ का मूलाधार ही समता है। दर्शन और व्यवहार के दोनों पक्षों में समता को मूर्त रूप देने का जितना श्रेय महावीर को है, उतना संभवतः किसी अन्य को नहीं।

समता-दर्शन : आधुनिक प्ररिप्रेक्ष्य में :

युग बदलता है तो परिस्थितियाँ बदलती हैं। व्यक्तियों के सहजीवन की प्रणालियां बदलती हैं तो उनके विचार और आचार के तौर-तरीकों में तदनुसार परिवर्तन आता है। यह सही है कि शाश्वत तत्त्व में एवं मूल व्रतों में परिवर्तन नहीं होता। सत्य ग्राह्य है तो वह हमेशा ग्राह्य ही रहेगा, किन्तु सत्य प्रकाशन के रूपों में युगानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मानव-समाज स्थितिशील नही रहता बल्कि निरन्तर गति करता रहता है। गति का अर्थ होता है—एक स्थान पर टिके नही रहें तो परिस्थितियों का परिवर्तन अवश्यंभावी है।

मनुष्य एक चिन्तक और विवेकशील प्राणी है। वह प्रगति भी करता है तो विगति भी। किन्तु यह सत्य है कि वह गति अवश्य करता है। इसी गति-चक्र में परिप्रेक्ष्य भी बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्त्व या पदार्थ को कल देखा था, शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज उसे कुछ भिन्न कोण से देखे और कोण भी तो देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते हैं। अतः स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को भी समझा जाय तथा परिवर्तन के प्रवाह में शाश्वतता तथा मूल व्रतों को कदापि विस्मृत न होने दिया जाय। दोनों का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर रहता है।

इसी दृष्टिकोण से समता-दर्शन को भी आज हमें उसके नवीन परिप्रेक्ष्य में देखने एवं उसके आधार पर अपनी आचरण-विधि निर्धारित करने में अवश्य ही जिज्ञासा रखनी चाहिये। आगे इसी जिज्ञासा से विचार किया जा रहा है।

वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक शक्ति का उभार :

वैज्ञानिक साधनों के विकास ने मानव-जीवन की चली आ रही परम्परा में एक अद्भुत क्रान्ति की है। व्यक्ति की जान-पहिचान का दायरा जो पहले बहुत छोटा था, समय एवं दूरी पर विज्ञान की विजय ने उसे अत्यधिक विस्तृत बना दिया है। आज साधारण से साधारण व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष परिचय काफी बढ़ गया है। रेडियो, टेलिवीजन एवं समाचारपत्रों के माध्यम से तो उसकी जानकारी का क्षेत्र समूचे ज्ञात विश्व तक फैल गया है।

इस विस्तृत परिचय ने व्यक्ति को अधिकाधिक सामाजिक बना दिया है, क्योंकि उपयोगी पदार्थों के विस्तार से उसका एकावलम्बन टूट सा गया और समाज का अवलम्बन पग-पग पर आवश्यक हो गया। अधिक परिचय से अधिक सम्पर्क और अधिक सामाजिकता फैलने लगी। सामाजिकता के प्रसार का अर्थ हुआ सामाजिक शक्ति का नया उभार।

जब तक व्यक्ति का प्रभाव अधिक था, समाज का सामूहिक शक्ति के रूप में प्रभाव नगण्य था। अतः व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिभा से ही सारे समाज को किसी प्रकार का मार्ग-

दर्शन संभव था। तब राजनीति और अर्थनीति की धुरी भी व्यक्ति के ही चारों ओर घूमती थी। राजतंत्र का प्रचलन था और राजा ईश्वर का रूप समझा जाता था। उसकी इच्छा का पालन ही कानून था। अर्थनीति भी राजा के आश्रय में ही चलती थी। पर वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक शक्ति के उभार ने अब परिवर्तन के चक्र को तेजी से घुमा दिया है।

राजनीतिक एवं आर्थिक समता का चिन्तन :

आधुनिक इतिहास का यह बहुत लम्बा अध्याय है कि किस प्रकार विभिन्न देशों में जनता को राजतंत्र से कठिन और बलिदानी लड़ाइयां लड़नी पड़ी तथा दीर्घ संघर्ष के बाद अलग-अलग देशों में अलग-अलग समय में वह राजतंत्र की निरंकुशता से मुक्त हो सकी। इस मुक्ति के साथ ही लोकतंत्र का इतिहास प्रारम्भ होता है। जनता की इच्छा का बल प्रकट होने लगा और जन प्रतिनिध्यात्मक सरकारों की रचना शुरू हुई। इसके आधार पर संसदीय लोकतंत्र की नींव पड़ी।

लोकतंत्र वह शासन-व्यवस्था है जो जनता की जनता के द्वारा तथा जनता के लिये हो। इस व्यवस्था में एक व्यक्ति की नहीं बल्कि समूह की इच्छा प्रभावशील होती है। व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी तथा एक ही व्यक्ति एक बार अच्छा हो सकता है तो दूसरी बार बुरा भी, अतः एक व्यक्ति की इच्छा पर अगणित व्यक्ति निर्भर रहें, यह समता की दृष्टि से न्यायोचित नहीं माना जाने लगा। समूह की इच्छा यकायक नहीं बदलती और न ही अनुचित की ओर आसानी से जा सकती है, अतः समूह की इच्छा को प्रमुखता देने का प्रयत्न ही लोकतंत्र के रूप में सामने आया।

लोकतंत्र के रूप में राजनीतिक समानता की स्थापना हुई। छोटे-बड़े प्रत्येक नागरिक को एक मत समान रूप से देने का अधिकार है और बहुमत मिलाकर अपने प्रतिनिधि का चुनाव किया जाय। यह पक्ष अलग है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर किस प्रकार अच्छी से अच्छी व्यवस्था को भी तहस-नहस कर सकते हैं, किन्तु लोकतंत्र का ध्येय यही है कि सर्वजन साम्य के लिये व्यक्ति की उद्दाम कामनाओं पर नियंत्रण रखा जाय।

चिन्तन की प्रगति के साथ इसी ध्येय को आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी सफल बनाने के प्रयास प्रारम्भ हुए। इन प्रयासों ने मनुष्यकृत आर्थिक विषमता पर करारी चोटें की और जिन सामाजिक सिद्धान्तों का निर्माण किया, उनमें समाजवाद एवं साम्यवाद प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों का विकास भी धीरे-धीरे हुआ और कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के रूप में इस युग में एक पूरा जीवन-दर्शन-प्रस्तुत किया। युग अलग-अलग था, किन्तु क्रान्ति की जो धारा अपरिग्रह के रूप में महावीर ने प्रवाहित की, वैचारिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स पर भी उसका कुछ प्रभाव था। कार्ल मार्क्स को भी यही तड़प थी कि यह अर्थ व्यक्तिगत स्वामित्व के बन्धनों से छूट कर जन-जन के कल्याण का साधन बन सके। व्यक्तिगत स्वामित्व के छूटने का अर्थ होगा परिग्रह का ममत्त्व छूटना। सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्त्व की स्थापना से धनलोलुपता नहीं रहती है। मानवता प्रमुख रहे और धन उसके साधन रूप में गौण स्थान पर, एक परिवार की तरह सारे समाज में आर्थिक एवं सामाजिक समानता का प्रसार होना चाहिये।

अर्थ का अनर्थ मिटे :

सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक विकास की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि इस प्रक्रिया में अर्थ का भारी प्रभाव रहा है। जिस वर्ग के हाथों में अर्थ का नियंत्रण रहा, उसी के हाथों में सारे समाज की सत्ता सिमटी रही बल्कि यों कहना चाहिये कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में समता प्राप्त करने के जो प्रयत्न चले अथवा कि जो प्रयत्न सफल भी हो गये—अर्थ की सत्ता वालों ने उन्हें नष्ट कर दिया। आज भी इसी अर्थ के अनर्थ रूप जगह लोकतंत्र की अथवा साम्यवाद तक की प्रतिक्रियाएं भी दूषित बनाई जा रही हैं।

सम्पत्ति के अनुभव का उदय तब हुआ माना जाता है जब मनुष्य का प्रकृति का निखालिस आश्रय छूट गया और उसे अर्जन के कर्मक्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा। जिसके हाथ में अर्जन एवं संचय का सूत्र रहा—सत्ता का सूत्र भी उसी ने पकड़ा। आधुनिक युग में पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद तक की गति इसी परिपाटी पर चली जो व्यक्तिवादी नियन्त्रण पर आधारित रही अथवा यों कहें कि अर्थ के अनर्थ का विषमतम रूप इन प्रणालियों के रूप में सामने आया जिनका परिणाम विश्व युद्ध नरसंहार एवं आर्थिक शोषण के रूप में फूटता रहा है।

अर्थ का अर्थ जब तक व्यक्ति के लिये ही और व्यक्ति के नियंत्रण में रहेगा तब तक वह अनर्थ का मूल भी बना रहेगा क्योंकि वह उसे त्याग की ओर बढ़ने से रोकेगा, उसकी परिग्रह–मूर्छा को काटने में कठिनाई आती रहेगी। इसलिये अर्थ का अर्थ समाज से जुड़ जाय और उसमें व्यक्ति की अर्थाकांक्षाओं को खुल कर खेलने का अवसर न हो तो संभव है, अर्थ के अनर्थ को मिटाया जा सके।

दोनों छोर परस्पर पूरक बनें :

ये सारे प्रयोग फिर भी बाह्य प्रयोग ही हैं और बाह्य प्रयोग तभी सफल बन सकते हैं, जब अन्तर का धरातल इन प्रयोगों की सफलता के अनुकूल बना लिया गया हो। तकली से सूत काता जाता है और कते हुए सूत से वस्त्र बनाकर किसी भी नंगे बदन को ढका जा सकता है लेकिन कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कातकर उसे किसी दूसरे की आंख में घुसेड़ दे तो क्या हम उसे तकली का दोष मानें? सज्जन प्रकृति का मनुष्य बुराई में भी अच्छाई को ही देखता है लेकिन दुष्ट प्रकृति का मनुष्य अच्छे से अच्छे साधन से भी बुराई करने की कुचेष्टा करता रहता है।

एक ही कार्य के ये दो छोर हैं। व्यक्ति आत्म नियंत्रण एवं आत्मसाधना से श्रेष्ठ प्रकृतियों में ढलता हुआ उच्चतम विकास करे और साधारण रूप से और उसको साधारण स्थिति में सामाजिक नियंत्रण से उसको समता की लीक पर चलाने की प्रणालियां निर्मित की जाय। ये दोनों छोर एक दूसरे के पूरक बनें–आपस में जुड़ें, तब व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति का निर्माण सहज बन सकेगा।

सामान्य स्थिति अधिकांशतः ऐसी ही रहती है कि समाज के बहुसंख्यक लोग सामान्य मानस के होते हैं जिन पर किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण रहे तो वे सामान्य

गति से चलते रहते हैं, वरना रास्ते से भटक जाना उनके लिये आसान होता है। तो जो लोग प्रवुद्ध होते हैं वे स्वयं भ्रष्ट न होकर अपनी सत्चेतना को जागृत रखते हुए यदि ऐसी सामाजिक स्थितियां बनायें जो सामान्य जन के नैतिक विकास को प्रोत्साहित करती हों तो वह सर्वथा वांछनीय माना जायगा।

नये मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा :

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियों के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरों को सारी दिशाओं में गुंजायमान करने की आवश्यकता है। सम्पूर्ण मानव समाज ही नहीं, समूचा प्राणी समाज भी इन स्वरों से आल्हादित हो उठेगा। जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को संघर्ष करना ही होगा क्योंकि मनुष्यता का इस विषम वातावरण में निरन्तर ह्रास होता ही जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी समाप्त नहीं हो सकेगी और आज भी मनुष्यता का अस्तित्व डूबेगा नहीं। वह सो सकती है, मर नहीं सकती और अब समय आ गया है जब मनुष्यता की सजीवता लेकर मनुष्य को उठना होगा—जागना होगा और क्रान्ति की पताका को उठाकर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यों को हटाकर समता के नये मानवीय मूल्यों की स्थापना की जाय। इसके लिये प्रवुद्ध एवं युवा वर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और व्यापक जागरण का शंख फूंकना होगा ताकि समता के समरस स्वर उद्भूत हो सकें।

समता-दर्शन का नया प्रकाश :

सत्यांशों के संचय से समता दर्शन का जो सत्य हमारे सामने प्रकट होता है, उसे यथा-शक्ति यथासाध्य सबके समक्ष प्रस्तुत करने का नम्र प्रयास यहां किया जा रहा है। यह युगानुकूल समता-दर्शन का नया प्रकाश फैला कर, प्रेरणा एवं रचना की नई अनुभूतियों को सजग बना सकेगा। समता दर्शन को अपने नवीन एवं सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये उसके निम्न चार सोपान बनाये गये हैं :—

(१) **सिद्धान्त-दर्शन**—मानव ही नही, प्राणी समाज से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों में यथार्थ दृष्टि, वस्तुस्वरूप, उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एवं सम्यक्, सर्वांगीण व सम्पूर्ण चरम विकास की साधना समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस पहले सोपान पर, पहले सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है।

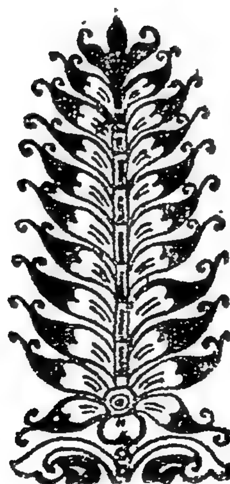
(२) **जीवन-दर्शन**—सबके लिये एक व एक के लिये सब तथा जीओ व जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तों तथा संयम-नियमों को स्वयं के व समाज के जीवन में आचरित करना समता का जीवन्त दर्शन करना होगा।

(३) **आत्म-दर्शन**—समतापूर्ण आचार की पृष्ठभूमि पर जिस प्रकाश स्वरूप चेतना का आविर्भाव होगा, उसे सतत् व सत्साधना पूर्ण सेवा तथा स्वानुभूति के बल पर पुष्ट

करते हुए वसुधैव कुटुम्बकम् की व्यापक भावना में आत्म-विसर्जित हो जाना समता का उन्नायक चरण होगा।

(४) परमात्मा-दर्शन—आत्म विसर्जन के बाद प्रकाश में प्रकाश के समान मिल जाने की यह चरम स्थिति है। तब मनुष्य न केवल एक आत्मा अपितु सारे प्राणी समाज को अपनी सेवा व समता की परिधि में अन्तर्निहित कर लेने के कारण उज्ज्वलतम स्वरूप प्राप्त करके स्वयं परमात्मा हो जाता है। आत्मा का परम स्वरूप ही समता का चरम स्वरूप होता है।

इन चार सोपानों पर गहन विचार से समता दर्शन की श्रेष्ठता अनुभूत हो सकेगी और इस अनुभूति के बाद ही व्यवहार की रूप-रेखा सरलतापूर्वक हृदयंगम की जा सकेगी।



१०

भगवान् महावीर की मांगलिक विरासत

• पद्मभूषण पं० सुखलाल संघवी

सामान्य विरासत :

साधारण तौर पर हमें तीन प्रकार की विरासत मिलती है—शारीरिक, सांपत्तिक और सांस्कारिक। माता-पिता और गुरुजनों की ओर से शरीर के रूप, आकार आदि गुण-धर्म की जो विरासत मिलती है, वह है शारीरिक विरासत। माता-पिता या अन्य किसी से विरासत में जो संपत्ति मिलती है, वह है सांपत्तिक विरासत। तीसरी है सांस्कारिक। संस्कार माता-पिता से मिलते हैं, शिक्षक और मित्रों से भी मिलते हैं और जिस समाज में हमारी परवरिश होती है, उस समाज से भी मिलते हैं। यह ठीक है कि जीवन जीने के लिए, उसको विकसित करने और समृद्ध बनाने के लिए तीनों विरासतों का महत्त्व है, किन्तु इन तीनों में संजीवनी की नवचेतना दाखिल करने वाली विरासत अलग ही है और इसीलिए वह चौथी विरासत मंगल रूप है। सामान्य जीवन जीने में प्रथम तीन विरासतें साधन रूप बनती हैं, उपयोगी होती हैं, किन्तु चौथी मांगलिक विरासत के अभाव में मनुष्य का जीवन उन्नत नहीं बनता, धन्य नहीं बनता। यही चौथी विरासत की विशेषता है। यह कोई नियम नहीं हो सकता कि मांगलिक विरासत हमें माता-पिता, अन्य गुरुजन या साधारण समाज से मिलेगी ही, फिर भी किसी भिन्न प्रवाह से वह जरूर मिलती है।

मांगलिक विरासत :

शारीरिक, सांपत्तिक और सांस्कारिक विरासत स्थूल इन्द्रियों से समझी जा सकती है, परन्तु चौथी विरासत के सम्बन्ध में यह बात नहीं कह सकते। जिस मनुष्य को प्रज्ञा-इन्द्रिय प्राप्त हो, जिसका संवेदन सूक्ष्म-सूक्ष्मतर हो, वही इस विरासत को समझ सकता है या ग्रहण कर सकता है। अन्य विरासतें जीवन के रहते हुए या मृत्यु के समय नष्ट होती हैं, जबकि इस मांगलिक विरासत का कभी नाश नहीं होता। एक बार उसने चेतना में प्रवेश किया कि वह जन्म-जन्मान्तर चलेगी, उत्तरोत्तर उसका विकास होता रहेगा और वह अनेक लोगों को संप्लावित भी करेगी।

महावीर की विरासत :

जो मंगल विरासत भगवान् महावीर ने हमें सौंपी है, वह कौन-सी है? एक बात हम पहले ही स्पष्ट समझ लें। यहां हम मुख्यतः सिद्धार्थ-नन्दन या त्रिशला-पुत्र स्थूल देह-धारी महावीर के सम्बन्ध में नहीं सोच रहे हैं। शुद्ध-बुद्ध और वासनामुक्त चेतन-स्वरूप महान् वीर को ध्यान में रख कर यहां मैं महावीर का निर्देश कर रहा हूं। ऐसे, महावीर

में सिद्धार्थ-नंदन का समावेश हो ही जाता है। इसके अलावा इसमें उनके सदृश सभी शुद्ध-बुद्ध चेतनाओं का समावेश होता है। महावीर में जात-पांत या देश-काल का कोई भेद नहीं। वे वीतरागाद्वैत-रूप से एक ही हैं।

भगवान् महावीर ने जो मंगल विरासत हमें सौंपी है, वह उन्होंने केवल विचार में ही संगृहीत नहीं रखी, जीवन में उतार कर परिपक्व करने के बाद ही उन्होंने उसे हमारे समक्ष रखा है।

भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त विरासत को संक्षेप में चार विभागों में बांट सकते हैं: (१) जीवन-दृष्टि, (२) जीवन-शुद्धि, (३) जीवन-पद्धति में परिवर्तन और (४) पुरुषार्थ।

(१) जीवन-दृष्टि :

हम प्रथम यह देखें कि भगवान् की जीवन-दृष्टि क्या थी। जीवन की दृष्टि यानी उसके मूल्यांकन की दृष्टि। हम सब अपने-अपने जीवन का मूल्य समझते हैं। जिस परिवार, जिस गांव, जिस समाज और जिस राष्ट्र के साथ हमारा सम्बन्ध हो, उसके जीवन की कीमत भी समझते हैं। उससे आगे बढ़कर पूरे मानव-समाज की ओर उससे भी आगे जा कर हमारे साथ सम्बन्ध रखने वाले पशु-पक्षी के जीवन की भी कीमत समझते हैं। किन्तु महावीर की स्वसंवेदन दृष्टि उससे भी आगे बढ़ी हुई थी। वे ऐसे धैर्य-संपन्न और सूक्ष्म-प्रज्ञ थे कि कीट-पतंग तो क्या, पानी-वनस्पति जैसी जीवन-शून्य मानी गयी भौतिक वस्तुओं में भी उन्होंने जीवन तत्त्व देखा था। महावीर ने अपनी जीवन-दृष्टि लोगों के सामने रखी, तब यह नहीं सोचा कि कौन उसे ग्रहण करेगा। उन्होंने इतना ही सोचा कि काल निरवधि है, पृथ्वी विशाल है, कभी तो कोई उसे समझेगा ही।

महावीर ने अपने प्राचीन उपदेश-ग्रंथ आचारांग में यह बात बहुत सरल भाषा में रखी है। और कहा है कि हर एक को जीवन प्रिय है, जैसा हमें खुद को। भगवान् की सरल और सर्वग्राह्य दलील इतनी ही है, 'मैं आनन्द और सुख चाहता हूं, इसलिए मैं खुद हूं। फिर उसी न्याय से आनन्द और सुख चाहने वाले अन्य छोटे-बड़े प्राणी भी होंगे। ऐसी स्थिति में यह कैसे कह सकते है कि मनुष्य में ही आत्मा है, पशु-पक्षी में ही आत्मा है और दूसरों में नहीं है? कीट-पतंग तो अपनी-अपनी पद्धति से सुख खोजते ही हैं। सूक्ष्मतम वानस्पतिक जीवसृष्टि में भी संतति, जनन और पोषण की प्रक्रिया अगम्य रीति से चलती ही रहती है।' भगवान् की यह दलील थी और इसी दलील के आधार पर से उन्होंने पूरे विश्व में अपने जैसा ही चेतन तत्त्व भरा हुआ, उल्लसित हुआ देखा। उसको धारण करने वाले तथा निभाने वाले शरीर और इन्द्रियों के आकार-प्रकार में कितना भी अंतर हो, कार्यशक्ति में भी अंतर हो, फिर भी तात्विक रूप से सर्व में व्याप्त चेतनतत्त्व एक ही प्रकार से विलास कर रहा है। भगवान् की इस जीवन-दृष्टि को हम आत्मौपम्य दृष्टि कहेंगे। तात्विक रूप से, जैसे हम है वैसे ही छोटे-बड़े सर्व प्राणी हैं। जो अन्य जीव-प्राणी रूप हैं, वे भी कभी विकास-क्रम में मानव-भूमि को स्पर्श करते हैं और मानव-भूमि-प्राप्त जीव भी अवक्रांति-क्रम में कभी अन्य प्राणी का स्वरूप धारण करते हैं। इस प्रकार की उत्क्रांति और अवक्रांति का चक्र चलता रहता है, लेकिन उससे मूल चेतन तत्त्व के

स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं होता। जो कुछ भी अन्तर होता है, वह व्यावहारिक अन्तर है।

(२) जीवन-शुद्धि :

भगवान् की आत्मौपम्य-दृष्टि में जीवन-शुद्धि का प्रश्न आ ही जाता है। अज्ञात काल से चेतन का प्रकाश भी आवृत्त हो, ढका हुआ हो, उसका आविर्भाव कमवेशी हो, फिर भी शक्ति तो उसकी पूर्ण विकास की, पूर्ण शुद्धि की है ही। जीवतत्त्व में अगर पूर्ण शुद्धि की शक्यता न हो, तो आध्यात्मिक साधना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। सच्चे आध्यात्मिक अनुभव संपन्न व्यक्तियों की प्रतीति हर जगह एक ही प्रकार की है, 'चेतन-तत्त्व मूल में शुद्ध है, वासना और संग से पृथक् है।' शुद्ध चेतनतत्त्व पर वासना या कर्म की जो छाया उठती है, वह उसका मूल स्वरूप नहीं। मूल स्वरूप तो उससे भिन्न ही है। यह जीवन-शुद्धि का सिद्धान्त हुआ।

(३) जीवन-पद्धति :

अगर तात्विक रूप से जीवन का स्वरूप शुद्ध ही है, तो फिर उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए क्या करें, यह साधना-विषयक प्रश्न खड़ा होता है। भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का जवाब देते हुए कहा है कि जहां तक जीवन-पद्धति का परिवर्तन नहीं होता है, आत्मौपम्य-दृष्टि और आत्मशुद्धि साध्य हो इस प्रकार जीवन में परिवर्तन नहीं होता है, तब तक आत्मौपम्य और जीवन-शुद्धि का अनुभव नहीं आता। जीवन-पद्धति के परिवर्तन को जैन शैली में चरणकरण कहते हैं। व्यवहारिक भाषा में उसका अर्थ इतना ही है—विलकुल सरल, सादा और निष्कपट जीवन जीना। व्यावहारिक जीवन आत्मौपम्य दृष्टि और जीवन की शुद्धि पर के आवरण, माया के परदे बढ़ाते जाने का साधन नहीं है, बल्कि वह साधन है उस दृष्टि और उस शुद्धि को साधने का। जीवन-पद्धति के परिवर्तन में एक ही वात मुख्य समझने की है और वह यह कि प्राप्त स्थूल साधनों का उपयोग इस प्रकार न करें, जिससे कि उसमें हम खुद ही खो जायें।

(४) पुरुषार्थ-पराक्रम :

यह सब वात सही है, फिर भी सोचना यह पड़ता है कि यह सब कैसे सधेगा? जिस समाज में जिस लोक प्रवाह में हम रहते हैं, उसमें तो ऐसा कुछ होता हुआ दिखायी नहीं देता। क्या ईश्वर की या कोई ऐसी दैवी शक्ति नहीं है जो हमारा हाथ पकड़े और लोकप्रवाह की विरुद्ध दिशा में हमें ले जाये, ऊपर उठाये? इसका उत्तर महावीर ने स्वानुभव से दिया है। उन्होंने कहा है कि इसके लिए पुरुषार्थ ही आवश्यक है। जब तक कोई भी साधक स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, वासनाओं के दवाव का सामना नहीं करता, उसके आघात-प्रत्याघात से क्षुब्ध न होते अडिगता से जूझने का पराक्रम नहीं करता, तब तक ऊपर कही हुई एक भी वात सिद्ध नहीं होती। इसी कारण उन्होंने कहा है, संजमम्मि वीरियम्, अर्थात् संयम, चारित्र्य, सादा रहन-सहन, इन सबके लिए पराक्रम करें। वास्तव में, महावीर कोई नाम नहीं है, विशेषण है। जो इस प्रकार का महान् वीर्य-पराक्रम दिखाते हैं, वे सब महावीर हैं। इसमें सिद्धार्थ नंदन तो आ ही जाते हैं, और अन्य ऐसे सारे अध्यात्म-पराक्रमी भी आ जाते हैं। हम निःशंकता से देख सकते हैं कि जो मांगलिक

विरासत महावीर के उपदेश से मिलती है, वही उपनिषद् से भी मिलती है। और, बुद्ध तथा ऐसे ही अन्य महान् वीरों ने उसके अलावा और कहा भी क्या है?

महावीर यानी भूमा :

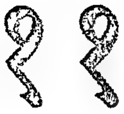
इसी अर्थ में, अगर मैं उपनिषद् का शब्द 'भूमा' इस्तेमाल कर कहूं कि महावीर यानी भूमा, और वही ब्रह्म, तो उसमें कोई असंगति नहीं होगी। महावीर भूमा थे, महान् थे इसी कारण वे सुख रूप थे, इसी कारण वे अमृत थे। उन्हें दुःख कभी स्पर्श नहीं कर सकता, उनकी कभी मृत्यु नहीं होती। दुःख और मृत्यु 'अल्प' की होती है, 'ह्रस्व दृष्टियुक्त' की होती है, पामर की होती है, वासना-बद्ध की होती है। उसका सम्बन्ध सिर्फ स्थूल और सूक्ष्म शरीर के साथ ही संभव है। जिस महावीर के सम्बन्ध में मैं बोल रहा हूं, वह तो स्थूल-सूक्ष्म उभय शरीर से परे होने से 'भूमा' है, 'अल्प' नहीं।

बिन्दु में सिन्धु :

इतिहासकार की पद्धति से सोचने पर यह प्रश्न सहज ही पैदा होता है कि महावीर ने जो मंगल विरासत अन्यों को दी, वह उन्होंने किससे, किस प्रकार प्राप्त की? इसका उत्तर सरल है। शास्त्र में कहा है, और व्यवहार में भी कहा जाता है कि बिन्दु में सिंधु समाता है। सुनने पर यह उलटा-सा लगता है। कहां बिन्दु और कहा सिन्धु? सिन्धु में तो बिन्दु रहता है, किन्तु बिन्दु में सिन्धु किस तरह रह सकता है? फिर भी यह बात बिलकुल सही है। महावीर के स्थूल जीवन का परिमित काल समुद्र का एक बिन्दु मात्र है। भूतकाल तो भूत है, सतरूप में से रहता नहीं। हम कल्पना नहीं कर सकते उतनी त्वरा से वह आता है, और जाता है, किन्तु उसमें संचित हुए संस्कार नये-नये वर्तमान के बिन्दु में समाते जाते हैं। भगवान् महावीर ने जीवन में जो आध्यात्मिक विरासत प्राप्त की और सिद्ध की, वह उनके पुरुषार्थ का फल है, यह सही है, किन्तु उनके पीछे अज्ञात भूतकाल की उसी विरासत की सतत परम्परा रही है। कोई उन्हें ऋषभ, नेमिनाथ या पार्श्वनाथ आदि की परम्परा के कह सकते हैं. किन्तु मैं उसको एक अर्धसत्य के तौर पर ही स्वीकार करता हूं।

भगवान् महावीर के पहले मानव-जाति ने ऐसे अनेक महापुरुष पैदा किये हैं। वे चाहे किसी भी नाम से प्रसिद्ध हुए हों या अज्ञात भी रहे हों, उन समग्र आध्यात्मिक पुरुषों की साधना-संपत्ति मानव-जाति में उत्तरोत्तर इस प्रकार संक्रान्त होती रही कि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह सारी संपत्ति किसी एक ने ही साधी है। ऐसा कहना केवल भक्ति कथन होगा। भगवान् महावीर ने भी ऐसे ही आध्यात्मिक काल स्रोत से उपरोक्त मांगलिक विरासत प्राप्त की और स्वपुरुपार्थ से उसको संजीवित कर विशेप रूप से विकसित किया तथा उसे देशकालानुकूल समृद्ध कर हमारे सामने रखा। मैं नहीं जानता कि उनके उत्तर-कालीन त्यागी संतों ने उसे मांगलिक विरासत से कितना प्राप्त किया और कितना साधा, किन्तु कह सकते हैं कि उस बिन्दु में, जैसे भूतकाल का महान् समुद्र समाविष्ट है, वैसे ही भविष्य का अनन्त समुद्र भी उस बिन्दु में समाविष्ट है, अर्थात् भविष्य की धारा उसी बिन्दु द्वारा चलेगी और अनवरत चलेगी।

••••



महावीर : बापू के मूल प्रेरणा-स्रोत

• डॉ० भागचन्द जैन

भगवान महावीर और बापू अपने-अपने युग के क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होंने समयानुसार जनसमाज में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्रांति का बीड़ा उठाया जिसका मूल आधार मानवता का अधिकाधिक संरक्षण करना था। लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर का आविर्भाव हुआ था। समूचा भारतवर्ष उनके व्यक्तित्व और विचारों से प्रभावित था। आज भी उनके अनुयायी—जैन प्रत्येक प्रान्त में फैले हुए हैं और देश की अभिवृद्धि करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। विशेषतः गुजरात की पावन वसुन्धरा प्रारम्भ से ही जैन शिक्षा और संस्कृति में अग्रणी रही है। बापू की भी जन्मभूमि होने का उसे सौभाग्य मिला है। फलतः जैन सिद्धान्तों से बापू का प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं है।

पारिवारिक पृष्ठभूमि : धर्म सहिष्णुता

यद्यपि बापू के पिता वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे परन्तु परिवार पर जैन धर्म के आचार-विचार का भी प्रभाव कम नहीं था। महावीर की धर्मसहिष्णुता का पाठ बापू को अपने पारिवारिक वातावरण से मिला। जैन धर्म के आचार्यों और विद्वानों के लिए भी उस परिवार से सदैव आदर-सम्मान मिलता रहा। वे जब भी आते उनसे धार्मिक तत्वचर्चा होती रहती। जैन भिक्षुओं के आने पर उन्हें भिक्षा देकर निश्चित रूप से सम्मानित किया जाता था। भिक्षु बेचर स्वामी तो बापू के परिवार के मानो सलाहकार ही थे। उनकी सलाह सहमति के बिना प्रायः कोई भी महत्वपूर्ण कार्य हाथ में नहीं लिया जाता था।[1]

रायचन्द भाई : एक आध्यात्मिक गुरु

बापू को बाल्यावस्था से ही जैन संस्कृति का परिवेश मिला है। इसलिए उनके प्रत्येक सिद्धान्त में जैन-आचार-विचार का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। उन पर जैन संस्कृति के प्रभाव का उत्तरदायित्व रायचन्द भाई को विशेष रूप से दिया जा सकता है। बापू ने स्वयं एकाधिक बार कहा है कि "मेरे जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव तीन महापुरुषों ने छोड़ा है—टालस्टाय, रस्किन और रायचन्द भाई। टालस्टाय ने अपनी

१—आत्मरक्षा : अनुवादक, पोद्दार, पृ० २६–५७।

पुस्तकों द्वारा और उनके साथ हुए थोड़े पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टू दि लास्ट' से जिसके गुजराती अनुवाद का नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा, और रायचन्द भाई ने अपने गाढ़ परिचय से। इनमें रायचन्द भाई को मैं प्रथम स्थान देता हूं।"

यह बात किसी से छिपी नहीं कि शतावधानी कवि रायचन्द स्वयं जैन थे और जैन धर्म के एक प्रबुद्ध विचारक भी थे। 'आत्म कथा' में बापू ने उनके विषय में लिखा है—"उनका (रायचन्द का) गम्भीर शास्त्रज्ञान, शुद्ध चारित्र्य, और आत्मदर्शन की उत्कट लगन का प्रभाव मुझ पर पड़ा। उस समय यद्यपि मुझे धर्मचर्चा में अधिक रस नहीं मिलता था पर रायचन्द भाई की धर्मचर्चा को मनोयोग से सुनता था, समझता था और उसमें रुचिपूर्वक भाग लेता था। उसके बाद अनेक धर्माचार्यों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे मिला पर जो छाप मुझ पर रायचन्द भाई ने डाली वह दूसरा कोई नहीं डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे अन्तर में उतर जाते। उनकी बुद्धि और सच्चायी के लिए मेरे मन में आदर था।"[१]

रायचन्द भाई बापू के समवयस्क थे। वे बापू से लगभग दो वर्ष बड़े थे। प्रारम्भ में उन्हें वैष्णवी वातावरण मिला परन्तु शीघ्र ही वे जैन धर्म की ओर झुक गये और बाल्यावस्था में ही पूर्ण जैन हो गये। बापू से जैन हो जाने के बाद ही उनका सम्पर्क हुआ होगा। दोनों का यह सम्पर्क सन् १८९१ में हुआ।

रायचन्द भाई पर गांधी जी को बहुत विश्वास था। उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—"मैं जानता था कि वे (रायचन्द भाई) मुझे जान-बूझकर उल्टे रास्ते नहीं ले जावेंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे जिसे वे अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनका आश्रय लेता।"

अफ्रीका में ईसाई सज्जनों ने गांधी जी को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। उसका फल यह हुआ कि उनको वैदिक धर्म में विचिकित्सा पैदा हो गई। उसे दूर करने के लिए उन्होंने यहां रायचन्द भाई से पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर से बापू को सन्तोष हुआ और यह विश्वास आ गया कि वैदिक धर्म में उन्हें जो भी चाहिए, मिल सकता है। इससे पता चलता है कि बापू के मन में रायचन्द भाई के प्रति कितना सम्मान रहा होगा।

कवि रायचन्दजी के सम्पर्क से बापू को जैन सिद्धान्तों के विषय में भी पर्याप्त जानकारी हो गई थी। फलतः उनका आध्यात्मिक मानस जैन सिद्धान्तों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। महावीर द्वारा प्रतिपादित सार्वभौमिक अहिंसा की पृष्ठभूमि में उनके प्रायः सभी आचार-विचार जागरित हुए। रायचन्द भाई के उद्बोधन के कारण बापूजी दक्षिण अफ्रीका में अनेक अवसर आने पर भी धर्म से विचलित नहीं हो पाये। दोनों महापुरुषों के बीच पत्र-व्यवहार अन्त तक चलता रहा। रायचन्द भाई ने बापू को पुस्तकें भी भेजी जिनका

१—वही, पृ० १६६।

उन्होंने मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। उन पुस्तकों में 'पंजीकरण', 'मणिरत्नमाला', 'योगवासिष्ठिका', मुमुक्षुप्रकरण' एवं 'हरिभद्रसूरि का 'षड्दर्शन समुच्चय' प्रमुख थीं।

अपरिग्रहशीलता :

बापूजी अपरिग्रहशीलता की प्रतिमूर्ति थे। जैन धर्म के अनुसार वीतरागी और अपरिग्रही व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है। बापू इसे अच्छी तरह जानते थे। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि वाह्याडम्बर से मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। शुद्ध वीतरागता में आत्मा की निर्मलता है। यह अनेक जन्मों के प्रयत्न से मिल सकती है। रोगों को निकालने का प्रयत्न करने वाला यह जानता है कि रोग रहित होना कितना कठिन है। मोक्ष की प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जब तक जगत की एक भी वस्तु मन में रमी है तब तक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लग सकती है अथवा लगती भी हो तो केवल कानों को। ठीक वैसे ही जैसे कि हमें अर्थ के समझे बिना किसी संगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। इस प्रकार की केवल कर्णप्रिय क्रीड़ा में व्यर्थ समय निकल जाता है और मोक्ष का अनुकूल आचरण-पथ दूर होता चला जाता है। वस्तुतः आन्तरिक वैराग्य के बिना मोक्ष की लगन नहीं होती। इस वैराग्य की अपूर्व दशा से बापू पूर्ण प्रभावित रहे हैं।

सर्वधर्म-समभाव :

बापू जी को सर्वधर्मसमभावी बनने का वातावरण बाल्यावस्था में ही मिल चुका था। रायचन्द भाई से घनिष्ठता होने पर उनके विचारों में और भी दृढ़ता आई। अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने लिखा है—"शंकर हो या विष्णु, ब्रह्मा हो या इन्द्र, बुद्ध हो या सिद्ध, मेरा सिर तो उसी के आगे झुकेगा जो रागद्वेष रहित हो, जिसने काम को जीता हो और जो अहिंसा और प्रेम की प्रतिमा हो।" गांधीजी की यह सर्वधर्मसमभाविता निश्चित ही जैनधर्म की देन है। जैनधर्म में रागादिक अष्टादश दोषों से विरहित व्यक्ति वन्दनीय होता है। इस प्रसंग में जैनाचार्य हेमचन्द्र का श्लोक स्मरण आता है जिसमें उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि से मात्र वीतरागी और तर्कसिद्ध भाषी को नमन करने की प्रतिज्ञा की है चाहे वह तीर्थंकर हो या अन्य कोई विचारक—

> पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
> युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः प्रतिग्रहः॥

धर्म की व्याख्या :

धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैन धर्म में उन अर्थों में से कर्तव्य रूप अर्थ का अधिक विश्लेषण किया गया है। गांधीजी ने रायचन्द भाई के माध्यम से धर्म को इसी रूप में समझा था। उन्होंने 'आत्म-कथा' में इस तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार किया है।

रायचन्द भाई ने धर्म की व्याख्या संकीर्णता के दायरे से हटकर सिखाई थी जिसका अनुकरण बापू ने अन्त तक किया। इस व्याख्या के अनुसार धर्म का अर्थ मत-मतान्तर नहीं। धर्म का अर्थ शास्त्रों के नाम से कही जाने वाली पुस्तकों का पढ़ जाना, कण्ठस्थ कर लेना अथवा उनमें जो कुछ कहा गया है, उसे मानना भी नही है। धर्म तो आत्मा

का गुण है और वह मनुष्य जाति में दृश्य अथवा अदृश्य रूप से मौजूद है। धर्म से हम मनुष्य जीवन में कर्तव्य समझ सकते हैं। धर्म द्वारा दूसरे जीवों के साथ अपना सच्चा सम्बन्ध पहिचान सकते हैं। यह धर्म ही स्व-पर के भेद का विभेदक है। जैन धर्म मे इसे ही भेद विज्ञान कहा है जो मुक्ति प्राप्ति का मूल कारण है।

बापू के सत्तावीस प्रश्न :

बापू आत्मार्थी, गुणग्राही और जिज्ञासु थे। जीवन्मुक्त दशा प्राप्त करने के इच्छुक थे। दक्षिण अफ्रीका में पहुंचने पर उनकी यह इच्छा और बलवती हुई। रायचन्द भाई पर उनको सर्वाधिक श्रद्धा और विश्वास था। फलतः बापू ने उनसे २७ प्रश्न पूछ कर अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। उनके ही शब्दों में वे प्रश्न इस प्रकार हैं—[1]

(१) आत्मा क्या है ? क्या वह कुछ करती है और उसे कर्म दुःख देता है या नहीं ?

(२) ईश्वर क्या है ? ईश्वर जगत् का कर्ता है, क्या यह सच है ?

(३) मोक्ष क्या है ?

(४) मोक्ष मिलेगा या नहीं ? उसे इसी देह में निश्चित रूप से जाना जा सकता है या नहीं।

(५) ऐसा पढ़ने में आया है कि मनुष्य देह छोड़ने के बाद कर्म के अनुसार जानवरों में जन्म लेता है। वह पत्थर और वृक्ष भी हो सकता है, क्या यह ठीक है ?

(६) कर्म क्या है ?

(७) पत्थर अथवा पृथ्वी किसी कर्म का कर्ता है क्या ?

(८) आर्य धर्म क्या है ? क्या सभी की उत्पत्ति वेद से हुई है ?

(९) वेद किसने बनाये ? क्या वे अनादि हैं ? यदि वेद अनादि हैं तो अनादि का क्या अर्थ ?

(१०) गीता किसने बनाई ? वह ईश्वर कृत तो नहीं है ? यदि ईश्वरकृत हो तो क्या उसका कोई प्रमाण है ?

(११) पशु आदि का यज्ञ करने से क्या थोड़ा सा भी पुण्य होता है ?

(१२) जिस धर्म को आप उत्तम कहते हो, क्या उसका कोई प्रमाण दिया जा सकता है ?

(१३) क्या आप ईसाई धर्म के विषय में जानते हैं कुछ ? यदि जानते हैं तो क्या अपने विचार प्रकट करेंगे ?

(१४) ईसाई लोग यह कहते हैं कि बाइबिल ईश्वर प्रेरित है। ईसा ईश्वर का अवतार है। वह उसका पुत्र है और था। क्या यह सही है ?

(१५) पुराने करार में (ओल्ड टेस्टामेन्ट में) जो भविष्य कहा गया है, क्या वह सब ईसा के विषय में ठीक-ठीक उतरा है ?

1—रायचन्द भाई के आध्यात्मिक पत्र।

(१६) इस प्रश्न में ईसामसीह के चमत्कार के विषय में लिखा है।

(१७) आगे चलकर कौन-सा जन्म होगा ? क्या उस बात की इस भव में जानकारी हो सकती है ? अथवा पूर्व में कौन-सा जन्म था, यह जाना जा सकता है ?

(१८) दूसरे भव की जानकारी कैसे पड़ सकती है ?

(१९) जिन मोक्ष प्राप्त पुरुषों का आप उल्लेख करते हो, वह किस आधार से करते हो ?

(२०) बुद्ध देव ने भी मोक्ष नहीं पाया, यह आप किस आधार से कहते हो ?

(२१) दुनिया की अन्तिम स्थिति क्या होगी ?

(२२) इस अनीति में से सुनीति उद्भूत होगी, क्या यह ठीक है ?

(२३) क्या दुनिया में प्रलय होता है ?

(२४) अनपढ़ को भक्ति करने से मोक्ष मिलता है। क्या यह सच है ?

(२५) कृष्णावतार व रामावतार का होना क्या यह सच्ची बात है ?

(२६) ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे ?

(२७) यदि मुझे सर्प काटने आवे तो उस समय मुझे उसे काटने देना चाहिए या उसे मार डालना चाहिए ? यहां ऐसा मान लेते हैं कि उसे किसी दूसरी तरह हटाने की मुझ में शक्ति नहीं है।

बापू के इन प्रश्नों में अनेक प्रश्न आत्मा, कर्म और जगत् के सन्दर्भ में किए गए हैं। रायचन्द जी ने उन सभी का यथोचित उत्तर दिया जिनसे बापू को सन्तोष भी हुआ।

१६ मार्च, १८९५ के एक अन्य पत्र के उत्तर में रायचन्द भाई ने जैन धर्म के अनुसार आत्मा के स्वरूप को उपस्थित किया और अन्त में लिखा "तुम्हारे संसार-क्लेश से निवृत्त होने की सम्भावना देख कर मुझे स्वाभाविक सन्तोष होता है। उस सन्तोष में मेरा कुछ स्वार्थ नहीं है। मात्र तुम समाधि के मार्ग पर आना चाहते हो, इस कारण संसार क्लेश से निवृत्त होने का तुमको प्रसंग प्राप्त होगा।"

रायचन्द भाई ने आर्य आचार-विचारों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से बापू को अनेक पत्र लिखे थे। आर्य आचार अर्थात् मुख्य रूप से दया, सत्य, क्षमा आदि गुणों का आचरण करना और आर्य विचार अर्थात् मुख्य रूप से आत्मा का अस्तित्व, नित्यत्व, वर्तमान काल में उस स्वरूप का अज्ञान तथा उस अज्ञान के कारणों को समझकर अव्याबाध सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना। कवि रायचंद ने यह भी सुझाव दिया था कि दया की भावना विशेष रखनी हो तो जहाँ हिंसा के स्थानक हैं तथा वैसे पदार्थ जहां खरीदे-बेचे जाते हैं, वहां रहने अथवा जाने-आने के प्रसंग नहीं आने देना चाहिए। अन्यथा अपेक्षित दया भावना लुप्त होने लगती है। अभक्ष्य पदार्थों के सेवन से भी दूर रहना चाहिए।

मांसादि भक्षण से अरुचि :

बापू को माँस भक्षण से बड़ी अरुचि थी। विदेश जाने के पूर्व जैन धर्मावलम्बी

वेचर स्वामी के माध्यम से बापू की मां ने उन्हें तीन प्रतिज्ञायें दी—मांसाहार, मद्यपान और स्त्री-गमन। आत्म-कथा में स्वयं बापू ने लिखा है कि "मांसाहार से उनके विमुख रहने का कारण जैनधर्म का प्रभाव रहा है। गुजरात में जैन सम्प्रदाय का बड़ा जोर था। उसका प्रभाव हर जगह, हर प्रवृत्ति में पाया जाता है। इसलिए मांसाहार का जो विरोध, जैसा तिरस्कार गुजरात में जैनों तथा वैष्णवों में दिखाई देता है वैसा भारत या अन्य देशों में कहीं नहीं दिखाई देता। मैं इन्हीं संस्कारों में पला था।" गांधीजी ने उक्त तीनों प्रतिज्ञायें आजीवन बड़ी सफलतापूर्वक निभाई।[1] वे अन्त तक शाकाहारी और भूत-दयावादी रहे। पत्नी की कठोर बीमारी में भी बापू ने उन्हें अफ्रीका में मांस भक्षण नहीं कराया।

सर्वोदयवादिता :

गांधी जी पक्के सर्वोदयवादी थे। उनका हर सिद्धान्त सर्वोदयवाद की नींव पर निर्मित था। दक्षिण अफ्रीका के प्रवास में उन्होंने रस्किन की "अन्टू दि लास्ट" पुस्तक पढ़ी जिससे वे बहुत प्रभावित हुए। बापू ने उसका हिन्दी-गुजराती अनुवाद "सर्वोदय" नाम से किया। सर्वोदय शब्द का प्रचार यहीं से प्रारम्भ हुआ है।

सर्वोदय शब्द के इतिहास पर यदि हम ध्यान दें तो हमें यह स्पष्ट होगा कि उसका सर्व प्रथम प्रयोग जैन साहित्य में हुआ है। प्रसिद्ध जैन तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर की स्तुति 'युक्त्यनुशासन' में इस प्रकार की है—

सर्वान्तवत्तद् गुण मुख्यकल्पं
सर्वान्तिशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थ मिदं तवैव ॥

यहां 'सर्वोदय' शब्द दृष्टव्य है। सर्वोदय का तात्पर्य है—सभी की भलाई। महावीर के सिद्धान्तों में सभी की भलाई निहित है। उसमें परिश्रम और समान अवसर का भी लाभ प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित है। बापू को यह शब्द निश्चित ही जैनधर्म और साहित्य से प्राप्त हुआ होगा।

हरिजन प्रेम :

जैन धर्म में कर्म का महत्व है, जाति का नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्म उसका उत्तराधिकारी है। जाति के बन्धन से किसी की प्रतिभा और श्रम पर कुठाराघात नहीं किया जा सकता। बापू ने महावीर के इस सिद्धान्त को अक्षरशः समझा और उसे जीवन-क्षेत्र में उतारने का प्रयत्न किया। हरिजनों की परिस्थितियों के विश्लेषण का भी यही मानदण्ड उन्होंने बनाया था। हरिजन समाज के उद्धार के पीछे उनकी यही मनोभूमिका थी। उसे हम 'उत्तराध्ययन सूत्र' की निम्न गाथा में देख सकते हैं—

1. आत्मकथा, पृ० ५७।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

राजनीति में सत्य-अहिंसा का प्रयोग :

महात्मा गांधी सत्य और अहिंसा के पुजारी थे। उन्होंने जीवन के विकास के ग्यारह नियम बताए थे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता निवारण, शरीर श्रम, सर्वधर्म समभाव और स्वदेशी। सत्य-अहिंसा में इन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। ये सभी नियम जैन धर्म में मिलते हैं।

बापू ने अहिंसा का अर्थ किया है—प्रेम का समुद्र और वैर-भाव का सर्वथा त्याग। उनकी दृष्टि में अहिंसा वही है जिसमें दीनता और भीरुता न हो, डर-डर के भागना भी न हो। वहां तो दृढ़ता, वीरता और निश्चलता होनी चाहिए।

सत्य और अहिंसा का सफल प्रयोग बापू ने राजनीति के क्षेत्र में भी किया। इतिहास में शायद यह प्रथम अवसर था कि जब सत्य और अहिंसा के बल पर इतना बड़ा स्वातन्त्र्य संग्राम लड़ा गया हो। उन्होंने सत्याग्रह का मूल सत्य और आत्मा की अन्तःशक्ति को स्वीकार किया है। इसलिए राजनीतिक संघर्ष का उन्होंने आत्मिक राजनीति नाम दिया।[1] अतः उनकी अहिंसा व्यक्तिगत न होकर सामाजिक और देश-विदेश की समस्याओं का हल करने का एक अनुपम उपकरण था।

सत्य और परमेश्वर :

परमेश्वर के स्वरूप को बापू ने अनादि, अनन्त, ज्ञान-रूप और वचनमगोचर माना है। उसके साक्षात्कार को जीवन का ध्येय स्वीकार किया है। जीवन के दूसरे सब कार्य इस ध्येय को सिद्ध करने के लिए होने चाहिए।[2] बापू के अनुसार परमेश्वर के लिए यदि हम एक छोटे शब्द का प्रयोग करना चाहें तो वह है सत्य।[3]

निष्काम कर्मठता :

बापू निष्काम कर्मठता की प्रतिमूर्ति थे। जैन धर्म का हर सिद्धान्त निष्काम कर्मठता की शिक्षा देता है। बापू को यह शिक्षा बाल्यावस्था से ही प्राप्त हुई थी जिसका उपयोग उन्होंने बाद में स्व-पर की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में किया।

श्री गौरीशंकर भट्ट ने लिखा है—"स्वातन्त्र्य संग्राम की प्राप्ति में निष्काम कर्मठता की आवश्यकता होती है। यह निष्काम कर्मठता गांधी जी को जैन धर्म से मिली। गांधी जी की सम्पूर्ण विचार धारा पारलौकिक धर्म से प्रभावित है पर उनका उत्तम पुरुष पूर्णतः लौकिक और इहजनी है। उनके विचार जहाँ अहिंसा और अपरिग्रह की भावना से ओत-प्रोत हैं, वहां लोक कल्याण की भावना भी उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। सत्याग्रह इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है। सत्यकाम के लिए सदैव अहिंसात्मक आग्रह और असत्य धर्म के

1—गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव : काका कालेलकर, पृष्ठ ५३९.।
2—गांधी विचार दोहन, पृष्ठ १।
3—वही, पृष्ठ ३६।

लिए निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग उसकी मूल भावना थी। सत्याग्रही होने के लिए आत्म-शुद्धि, मन-वचन तथा कर्म शुद्धि व सत्यनिष्ठ निष्पक्ष भावना अपेक्षित है। आत्म नियंत्रण, अहिंसा, दृढ़निश्चय व अपरिग्रह ये चार सत्याग्रह के सूत्र हैं। सत्याग्रह के साथ लोकसंग्रह की भावना निहित है।[1]

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद :

वस्तु तत्व को समझने और विभिन्न मतों में आदरपूर्वक समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से वापू ने जैनधर्म के महत्वपूर्ण सिद्धांत स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद को आत्म-कथा में समझाने का प्रयत्न किया है। ये दोनों सिद्धांत अहिंसा भावना पर अवलम्बित हैं। वापू ने कहा है—"जब कभी अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी तो अवश्य अहिंसा के महान् प्रवर्तक भगवान् महावीर की याद सबसे अधिक होगी और उनकी बतायी अहिंसा का सबसे अधिक आदर होगा।

जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेप का धर्म नहीं, यह तो प्राणिमात्र का धर्म है। उस पर किसी जाति वर्ग अथवा देश का अधिकार नहीं। उसमें तो सभी एकान्तिक मतों को अनेकान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। गांधीवाद भी किसी फिरका, पन्थ अथवा सम्प्रदाय विशेप को लिए हुए नहीं है। उसमें विभिन्न धर्मों से उत्तम प्रकार की शिक्षाओं को एकत्रित किया गया है। अत: समूचे रूप में वह जैन धर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता। इसलिए उन्होंने अपने हिन्दू धर्म को आत्मोन्नति में कहीं बाधक भी नहीं माना। धर्मान्तरण करने की भी आवश्यकता वापू ने नहीं समझी।[2]

गांधीजी ने यद्यपि अपने पीछे कोई पन्थ नहीं छोड़ा, फिर भी आज उनके विचारों और उपदेशों को 'गांधीवाद' कहा जाने लगा है। उसमें सत्य और अहिंसा की रक्षा को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और इस उद्देश्य की पूर्ति का मार्ग जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के संघर्ष में न बढ़कर बल्कि अपनी आवश्यकताओं को घटा कर आध्यात्मिक सन्तोप पाने का प्रयत्न बताया गया है।[3] व्यक्ति और समाज के प्रयत्नों का लक्ष्य भौतिक समृद्धि समझना गांधीवाद के अनुसार चण्डाल सम्यता है। इस सम्यता से मनुष्य धर्म और ईश्वर को भूल जाता है।[4]

इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा वापू महामानव महावीर द्वारा प्रचारित जैन सिद्धान्तों से प्रेरित थे। यह रायचन्द भाई के ही सम्पर्क का परिणाम था। वैष्णव होते हुए भी उनका समूचा जीवन आत्ममूलक जैन आदर्श का जीवन था। महावीर की लोक संग्रही भावना ने वापू के साधनाशील जीवन को आलोकित किया। इसी भावना से उन्होंने आत्मकल्याण करते हुए भारत में स्वतंत्रता का पुनीत दीपक जलाया और मातृभूमि की परतंत्रता की कठोर शृङ्खलायें छिन्न-भिन्न कर सारे विश्व में अहिंसा की शक्ति को प्रतिष्ठित किया।

••••

1—भारतीय संस्कृति : एक समाजशास्त्रीय समीक्षा।
2—गांधी : व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव : काका कालेलकर, पृ० ४६६।
3—गांधीवाद की शव परीक्षा : यशपाल।
4—हिन्दू स्वराज्य, पृ० ५०-५१।

१२

आदर्श परिवार की संकल्पना और महावीर

• डॉ० कुसुमलता जैन

व्यष्टि और समष्टि के मंगल-प्रणेता :

तीर्थंकर महावीर का व्यक्तित्व वह प्रकाशपुञ्ज है, जो शताब्दियों से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व को ज्योतिर्मय कर मंगलमय जीवन के लिये अनुप्रेरित कर रहा है। राजभवन का वैभव उन्हें आकर्षित न कर सका, तीन वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। द्वादश वर्षों की दीर्घ-साधना के उपरान्त परमात्मतत्व की उपलब्धि हेतु मंगल उपदेश दिया, निवृत्ति-मूलक श्रमण संस्कृति को पल्लवित किया, श्रमण संस्कृति में जीव के चरमलक्ष्य की दृष्टि से मुनि धर्म की प्राणप्रतिष्ठा की गई है, तथापि गृहस्थ धर्म को अग्राह्य नहीं समझा गया है, अतः तीर्थंकर, महावीर और आदर्श परिवार दो विरोधी आयाम नहीं हैं। भगवान् महावीर के सिद्धान्त आदर्श परिवार के निर्माण में भी उतने ही सहयोगी हैं, जितने कि जीव की निर्वाणप्राप्ति में। आत्म-कल्याण के महान् साधक तीर्थंकर महावीर ने लोकमंगल के लिये अनवरत विहार किया और अपने वचनामृतों से विश्व को आप्लावित किया, अतएव वे व्यष्टि और समष्टि के मंगल भविष्य के प्रणेता के रूप में स्मृत किये जाते हैं।

परिवार : व्यक्तियों का लघुतम समवाय :

व्यक्तियों की इकाई की संयुक्ति से परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण होता है। परिवार व्यक्तियों का लघुतम समवाय है। आदर्श परिवार वह परिवार है, जिसके सदस्यों में पारस्परिक स्नेह और सद्भावना विद्यमान हो। प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य के प्रति त्याग भावना और उसकी उन्नति की कामना रखता हो। परिवार की प्रतिष्ठा की उपलब्धि में सहयोग करना प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य समझे। परिवार में प्रगति के योग-दान की इस प्रवृत्ति को विदायक वृत्ति कह सकते हैं। परिवार के सदस्यों का मद्य, मांस, मधु तथा अभक्ष्य के सेवन से बचना, आचरण विशुद्ध रखना तथा वैधानिक सामाजिक मर्यादा में रहकर जीवन व्यतीत करना निषेधात्मक वृत्ति है। समाज और राष्ट्र के अभ्युदय में यथा-शक्य सहयोग प्रदान करना आदर्श परिवार का कर्तव्य है। उक्त गुणों से युक्त परिवार आदर्श परिवार है। भगवान् महावीर पुरुषार्थ मूलक संस्कृति के आदर्श हैं, उनके दिव्य सन्देश नैतिक अभ्युथान के कीर्ति-स्तम्भ हैं। आदर्श परिवार के निर्माण में भगवान् महावीर की भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी लोकमंगल के निर्माण में।

आदर्श चरित्र ही आदर्श परिवार :

युगसन्त मुनि श्री विद्यानन्द जी ने 'इन्सान और घराना' शीर्षक लेख में आदर्श चरित्र को ही आदर्श परिवार का लक्षण बताते हुए लिखा है—'घराना कोई ऊंचे महलों से नहीं बनता। यदि किसी झोंपड़ी में रहने वाले व्यक्ति का भी रहन-सहन, आचार अच्छा है, और सत्यनिष्ठ है, तो उसका घराना अच्छा घराना कहलायेगा। यदि कोई ऊंचे महलों में रहने वाला व्यक्ति भ्रष्ट है, उसका रहन-सहन ठीक नहीं है, तो वह घराना, वह कुल कभी उत्तम नहीं हो सकता। एक उत्तम घराने को बनाने में सात पीढ़ियां लग जाती हैं। उत्तम कुल बनाने के लिये पुरुषों से अधिक भार नारियों पर है। जब पुरुष चरित्र से गिरता है, तो अपने ही कुल को धब्बा लगता है, पर जब एक नारी अपने शील से गिरती है तो दो घरों को नष्ट कर देती है। जीव का चरित्र ही संसार है, धर्म है। चरित्र ही मन्दिर है। चरित्र ही ईश्वरत्व की प्राप्ति कराता है।'

गृहस्थ की आचार-संहिता :

भगवान् वर्द्धमान महावीर ने गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये पृथक् आचार-संहिता निर्धारित की। गृहस्थ की आचार-संहिता का पालन करने वाला व्यक्ति आदर्श गृहस्थ है। आदर्श-परिवार का प्रमुख गुण चरित्र है। वस्तुतः समस्त सम्पन्नता से युक्त किन्तु चरित्रहीन परिवार को आदर्श परिवार की संज्ञा से विभूषित नहीं किया जा सकता। परिवार की सम्पन्नता, भौतिक उपलब्धियां मात्र वृक्ष है और उसकी प्रतिष्ठा चरित्ररूपी पुष्पों से उड़ने वाली पावन गंध पर आधारित है। चरित्र, धर्म की श्रेष्ठ और सुवासित उपलब्धि है। भगवान् महावीर ने सर्वाधिक महत्त्व चरित्र पर दिया। मन, वचन, काय से चरित्र को संवारने को योग एवं तप कहा। विषय-वासना से सदैव विरत रहने का सन्देश दिया। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, परिग्रह, परिमाण तथा ब्रह्मचर्य इन पांच अणुव्रतों के पालन का निर्देश किया।

व्रत का अर्थ : संकल्प शक्ति का विकास :

व्रत का अर्थ है संकल्प शक्ति का विकास। संकल्प शक्ति जिस व्यक्ति में जितनी तीव्र होगी, वह अपने जीवन में उतना ही सफल होगा। यह शक्ति अभ्यास से संवर्द्धित होती है, स्थिरता प्राप्त करती है। अणुव्रत इसी अभ्यासक्रम को विकसित करने का मार्ग है। व्रत का आरम्भ अणु से होता है। अणुव्रत व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन की सीमारेखा है। यह आत्मानुशासन है, स्वीकृत नियन्त्रण है, आरोपित नहीं। यह मानवीय धरातल की न्यूनतम मर्यादा है। यह प्रेम, मैत्री और संयम से अपने आपको पाने का मार्ग है। अणुव्रत का सार है—संयम जीवन है, असंयम मृत्यु।

अहिंसा-व्रत नींव का प्रमुख पाषाण है, जिस पर अवशिष्ट व्रतरूपी आचार-संहिता का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है। अहिंसा वीतराग प्रेम की जननी है। अहिंसाणुव्रती सदस्यों के परिवार में क्रोध और घृणा जैसी विकृतियों को स्थान नहीं, वहां क्षमा का ही साम्राज्य रहता है। सत्याणुव्रत निष्कपट व्यवहार द्वारा पारिवारिक सदस्यों के संबंधों को सरल बनाता है। उदरपूर्ति के लिये गृहस्थ जिस आजीविका या व्यवसाय को अपनाये उसमें

शुद्धता और प्रमाणिकता का ध्यान रखना उसका कर्तव्य है। परिवार को आर्थिक सम्पन्नता की ओर ले जानें वाली सदस्यों की प्रवृत्ति अपरिहार्य है, किन्तु असीम संचय की दूषित प्रवृत्ति पारिवारिक सुखों को नष्ट कर देती है। संचय की दूषित प्रवृत्ति से पीड़ित व्यक्ति परिवार के सदस्यों के सुख-दुःख में साझीदार न बनकर मात्र अपने को सम्पत्ति उपार्जन करने वाली मशीन समझता है।

वर्तमान युग में परिवारों में आर्थिक सम्पन्नता की प्रतिस्पर्द्धा व्याप्त है। निरन्तर धन की चिन्ता करने वाले अनेक व्यक्ति स्वजनों को उचित समय नहीं दे पाते, इससे सुख घटता है, स्नेह चुकता है और विघटन की प्रवृत्ति का जन्म होता है। विघटन होने की स्थिति में पति-पत्नी और परिवार के सदस्यों में आन्तरिक रिक्तता का जन्म होता है। अंतः मात्र सम्पत्ति को सुख का साधन अथवा प्रतिष्ठा समझना निरी मूर्खता है। भगवान् महावीर ने इसी लिये मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति को परिग्रह कहा है। भौतिक पदार्थों में आसक्ति मिथ्या है। संचय की दूषित प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने का परिग्रह परिमाण के रूप में उपदेश दिया। श्रमणों के लिये पूर्ण परिग्रह का त्याग शरीर तक से ममत्व का परित्याग करना विहित है। गृहस्थ को परिवार, समाज और राष्ट्र के सुखों के लिये परिग्रह परिमाण आवश्यक है। संचय की प्रवृत्ति सामाजिक, नैतिक और राष्ट्रीय नियमों के अतिक्रमण हेतु प्रेरित करती है। व्यक्ति को चिन्तित एवं स्वास्थ्यविहीन बना देती है। परिग्रह के परिमाण का निर्धारण इस वृत्ति को रोकता है। परिग्रह परिमाण का स्थिरीकरण सुख, शान्ति और परिवार की समृद्धि की कसौटी है। भगवान् की वाणी का प्रत्येक शब्द आदर्श परिवार की संरचना में उपयुक्त है।

स्याद्वाद : दैनिक व्यवहार की आवश्यकता :

विचारों से आचरण प्रभावित होता है और आचरण से विचार। भगवान् महावीर वैचारिक क्रान्ति के युगदृष्टा थे। परिवार के विघटन और परिवार में अशान्ति का मुख्य कारण होता है एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना। वैचारिक सहिष्णुता के लिये भगवान् महावीर ने अनेकान्त-स्याद्वाद का सिद्धान्त विशाल विश्व को दिया। व्यक्ति जिस सत्य को समझता है, वह पूर्ण नहीं, आंशिक सत्य है। वह उसके ज्ञान और मान्यताओं का सत्य है। वस्तु के अन्य पक्ष भी सत्य हैं। वस्तु अनेकधर्मी है, व्यक्ति उस वस्तु के एक धर्म या आंशिक सत्य को देखता है। दूसरे के दृष्टिकोण को समझकर आचरण करना परिवार के सदस्यों का प्रथम कर्तव्य है। स्याद्वाद का सिद्धान्त दर्शन की गूढ़ता नहीं, दैनिक व्यवहार की आवश्यकता है। यह सत्य को समझने की कुन्जी है जो व्यक्ति के स्वस्थ दृष्टिकोण के निर्माण में सहायक होती है और समस्याओं को सुलझाने में उसकी भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

कर्म-सिद्धान्त : पारस्परिक सौहार्द का प्रेरक :

द्वेष मानसिक अशान्ति का जनक है। ईर्ष्या और प्रतिशोध उसकी सन्तानें हैं। प्रतिशोध और दुर्भावनाओं को वह पल्लवित करता है। परस्पर कटुता को आदर्श परिवार में कहीं स्थान नहीं है। प्रायः यह देखने में आता है कि पूर्ण योग्यता होते हुए, अपेक्षित पुरुषार्थ करते हुए भी योग्यता और पुरुषार्थ के अनुरूप प्रतिफल प्राप्त नहीं होता।

अल्पश्रम और अधिक धन उपार्जन की घटनायें भी देखने में आती हैं। मानव जीवन की यह विषमता अनेक व्यक्तियों में व्याप्त है। यह अनेक परिवारों की समस्या है। एक व्यक्ति कम सम्पत्ति उपार्जित करता है, दूसरा अधिक। इससे यदि मानसिक अशान्ति उत्पन्न हो तो वह आदर्श परिवार के लिए घातक प्रवृत्ति है।

इस समस्या का समाधान वर्द्धमान महावीर ने कर्म-सिद्धान्त के रूप में दिया। शाश्वत सत्य को अनावृत करते हुए उन्होंने कहा—मनुष्य स्वयं ही कर्मो का कर्ता एवं भोक्ता है। पूर्वाजित कर्म जब सत्ता में आते हैं, फल देना प्रारम्भ कर देते हैं तो मनुष्य का पुरुषार्थ निष्फल हो जाता है। इस कारण निष्ठापूर्वक श्रम करने पर भी सम्पत्ति की उपलब्धि न हो तो परिवार के अन्य सदस्यों का कर्तव्य है कि वे व्यक्ति की विवशता को देखते हुए उसके प्रति सद्भाव रखें। परिवार की शान्ति का यह मूल मन्त्र है। यह कर्म-फल सिद्धान्त व्यक्ति को दुर्दिन में धैर्य प्रदान करता है, उन्हें स्वयं अपने कर्मो के प्रति उत्तरदायी घोषित कर सन्तोष प्रदान करता है, भविष्य में दुष्कर्मो से बचाता है, वर्तमान में सत्कर्मो के लिए प्रेरित करता है, अनुचित अनैतिक कार्यो से रोकता है।

परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन :

परिवार वह है जिसमें व्यक्ति साथ रह कर एक साथ सुख-दुःख भोगते हैं, परस्पर समान आचरण करते हैं, अतः व्यक्तियों की असमान उपलब्धियों के कारण परिवार के व्यक्तियों के परस्पर स्नेह में न्यूनता नहीं आनी चाहिए। अल्प सामर्थ्य और अल्प योग्यता वाले व्यक्ति को भी परिवार की सुख-सुविधा में समान भाग मिलना चाहिए। 'परस्परोपग्रहो जीवनाम्' सूत्र परिवार के लिए भी मंगलमन्त्र है। परस्पर उपकार करते हुए जीवन व्यतीत करना ही जीवन की वास्तविक कला है, मनुष्य और मनुष्यता का लक्षण है। परिवार का निर्माण किसी अनुबन्ध पर आधारित नहीं है, किन्तु जन्म और पूर्वाजित संस्कारों का प्रतिफल है।

नारी की उचित प्रतिष्ठा :

विश्व के अन्य महापुरुषों ने नारी को हीन और उपेक्षा भरी दृष्टि से देखा, किन्तु महावीर के सिद्धान्तों में नारी को समान महत्ता दी गई है। पुरुषों के समान स्त्री को आत्म-साधना के लिए भी स्वतन्त्र मार्ग प्रदर्शित किया। भगवान् महावीर ने अपने विशाल संघ में नारी जाति के दीक्षित होने की व्यवस्था प्रदान की। महासती चन्दनबाला के उद्धार की घटना इसकी साक्षी है। गृहस्थ नारी को श्राविका की संज्ञा दी गई। आदर्श परिवार की कल्पना नारी जीवन को समुन्नत किए बिना मिथ्या कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। गृहस्थ जीवन एक लम्बी यात्रा है, जो सच्चरित्र नारी को सहयात्री के रूप में पाकर ही सम्भव है।

आदर्श विश्व का निर्माण :

आदर्श परिवार से आदर्श समाज और आदर्श समाज से आदर्श राष्ट्र का जन्म होता है। राष्ट्रों का समूह ही विश्व है। महावीर व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के मंगलभाग्य के प्रणेता थे। उनके विचारों के अनुरूप हमें आदर्श गृहस्थ, आदर्श परिवार और आदर्श विश्व का निर्माण करना है।

•••

१३

अनैतिकता के निवारण में महावीर-वाणी की भूमिका

• डॉ० कुन्दनलाल जैन

शस्य-श्यामला भारत-भूमि :

कहा जाता है कि भारत 'सोने की चिड़िया' के रूप में प्रसिद्ध था। यहां दूध-दही की नदियां बहती थीं। इन जनश्रुतियों का तात्पर्य यही जान पड़ता है कि प्राचीन काल में हमारा देश भारत धन-धान्य से पूर्ण एवं समृद्ध था। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के समय में, जब कि यहां गणतंत्र-राज्य की शासन-प्रणाली प्रचलित थी, भारत व्यापार की दृष्टि से अत्यधिक उन्नत रहा है। विदेशों से व्यापार करने की प्रथा यहां प्रचलित रही थी। बड़े-बड़े सार्थवाह एक देश से दूसरे देशों में जाकर व्यापार करते थे जिससे यहां नित्य प्रति धन की वर्षा सी होती रहती थी। धान्य की तो इतनी प्रचुरता थी कि शस्य-श्यामला के रूप में आज भी भारत-भूमि का गुणगान किया जाता है। हीरे, मणि, माणिक्य, रत्न एवं जवाहरात आदि भी जितने अधिक यहां रहे उतने शायद ही किसी देश में रहे हों। तभी तो मोतियों आदि की झालरें, वन्दनवारें गृहद्वारों और राजमहलों की शोभा बढ़ाती थी। काष्ठकला और हर्म्य आदि में भी शोभा वृद्धि के लिये इन अमूल्य रत्नों का प्रयोग किया जाता था।

धन-लिप्सा और आक्रमण :

गुप्तकाल में भारत की भौतिक सम्पदा इतिहास-प्रसिद्ध रही है। अनेक विदेशी यात्रियों ने यहां की धन-सम्पदा की अतिशयता का विस्तृत वर्णन किया है। किन्तु आगे चलकर धन-धान्य की इस विपुलता ने विदेशी लुटेरों शासकों को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। इतिहास साक्षी है कि महमूद गजनवी और गौरी के आक्रमण इसी धन लिप्सा के परिणाम थे। ये लुटेरे बादशाह अपने साथ करोड़ों की सम्पत्ति लूट कर ले गये थे। तैमूरलंग की कथा भी कुछ ऐसी ही है। जिस तख्तताउस (मयूरासन) को वह अपने साथ ले गया था उसमें जड़े हुए जवाहरातों का मूल्य ही अकेला करोड़ों में आंका जाता है।

भौतिकता साध्य नहीं साधन :

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि पहले भारत भौतिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न रहा है, जिसका अर्थ है कि हमारे यहां भौतिकता की उपेक्षा नहीं की जाती थी। पर यह

भौतिकता, जिसके पीछे आज का मानव मात्र पागल सा हो गया है, हमारा जीवन लक्ष्य या साध्य की कमी नहीं रही। वह केवल साधन रूप में ही मान्य रही है। भौतिक समृद्धि होते हुए भी हमने आध्यात्मिकता को ही प्रधानता दी। इसी कारण बड़े-बड़े राजा-महाराजा और चक्रवर्ती सम्राट् तक भी समय आने पर भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर वानप्रस्थ या संन्यास की दीक्षा ले लेते थे। अन्य गृहस्थ भी परिग्रह परिमाण में आस्था रखकर अतिरिक्त धन का दान देकर वितरण कर देते थे, धन-धान्य का संचय करके आज के लोगों की भांति जनता के लिए विषम परिस्थितियां उत्पन्न नहीं करते थे। फलतः उस युग में देश के भीतर अपराधवृत्ति अपेक्षाकृत बहुत कम थी।

नैतिकता का ह्रास :

किन्तु मुगलकालीन शासन से भारत जहां विदेशियों की दासता-शृंखला में निगड़-बद्ध हुआ, तभी से भारत में अध्यात्म का ह्रास होने लगा, यद्यपि भौतिक उन्नति अवश्य हुई। शासकों में भोग विलास की प्रवृत्ति ने अपना सुदृढ़ अधिकार कर लिया था। वह सामन्ती युग सुरा और सुन्दरी में दिन प्रति दिन निमग्न होता गया। कहा जाता है कि एक-एक हरम (अन्तःपुर) में रानियों और बेगमों की संख्या हजारों तक पहुँच गई थी, जिसका बड़ा भयंकर परिणाम अपराधवृत्ति के रूप में सामने आया।

पाश्चात्य संसर्ग में आने के पश्चात् तो देश की भौतिक समृद्धि में जहां बड़ी तीव्रता के साथ ह्रास प्रारम्भ हुआ वहीं लोगों की विचारधारा में भी परिवर्तन होने लगा। लोगों में आध्यात्मिक प्रवृत्ति क्षीण होने लगी और भौतिकता को प्रमुखता दी जाने लगी। यंत्रों के प्रचार और प्रसार ने अनेक प्रकार की सुविधाएं देते हुए भी लोगों को प्रमादी बना दिया और श्रम के महत्त्व को कम कर दिया। एक वर्ग में धन की प्रचुरता होने लगी और दूसरा वर्ग धनाभाव के कारण पहले वर्ग का मुखापेक्षी बनता गया। इस अर्थ-विषमता के फलस्वरूप एक वर्ग धन का अपव्यय करने में जुट गया और दूसरा वर्ग जीविकोपार्जन के लिए भी लालायित रहने लगा। इस कारण एक ओर धन का दुरुपयोग होकर उस वर्ग के लोगों में नाना-प्रकार के दुर्व्यसन अपना घर बनाने लगे और दूसरी ओर लोग अपने भरण-पोषण करने के लिए अनेक प्रकार के अपराध करने को विवश हो गए। इस प्रकार दोनों वर्गों में अनैतिकता, सदाचार और भ्रष्टाचार आदि की अपराधवृत्ति तीव्रता से पनपने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों की धार्मिक भावना लुप्त सी होकर आध्यात्मिकता समाप्त होने लगी।

नये अपराधों का जन्म :

विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति भी अध्यात्म के स्थान पर भौतिकवाद के विकास में योगदान करने लगी। इससे लोगों में नास्तिकता और अनीश्वरवादिता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसी भौतिकता की होड़ में न केवल हमारे देश में अपितु सम्पूर्ण विश्व में नए प्रकार के अपराध जन्म लेने लगे, नए-नए रोगों का संक्रामक रूप सामने आने लगा, जिसके परिणामस्वरूप पापाचार, कदाचार, अनाचार, भ्रष्टाचार आदि अनेक अवांछनीय तत्त्व समाज में प्रवेश पाने लगे। ये अवांछनीय तत्त्व विश्व-शान्ति के लिए बड़े बाधक और घातक

सिद्ध हुए। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति शंकालु और भयभीत हो गया और शीत युद्ध के रूप में भय का प्राबल्य हो गया। इसका भयंकर परिणाम समाज पर भी पड़ा। भौतिक उन्नति की तृष्णा के कारण लोगों में अपराधवृत्ति इस चरम सीमा पर पहुंच गई कि आज अनैतिकता ही नैतिकता, बेईमानी ही ईमानदारी और असत्य ही सत्य जैसा बनने लगा। आए दिन होने वाली राहजनी, वध, हत्याएं, चोरी, डकैती, लूटमार और बलात्कार की घटनाएं नित्य प्रति के समाचार पत्रों के विषय बन गए जिन्हें पढ़ सुनकर ऐसा लगने लगा जैसे देश में अनुशासन समाप्त हो गया, कानून और नियम का कोई महत्त्व नहीं रह गया, सर्वत्र जैसे अराजकता व्याप्त हो गई। इससे लोगों की धार्मिक वृत्ति समाप्त प्रायः होकर अधार्मिक प्रवृत्ति प्रबल होने लगी। आचार-विचार भी तदनुकूल होने लगे। संक्षेप में भौतिकवाद आज जितना अधिक प्रधान होता जा रहा है, अनैतिकता की जड़ें हमारे जीवन में उतनी ही अधिक गहरी होती जा रही हैं।

सामाजिक अव्यवस्था :

इस अनैतिकता ने समाज, राजनीति और धर्म आदि सभी को कुप्रभावित किया है। बढ़ती हुई इस अनैतिकता के कारण हमारी सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था, समाज की मर्यादाएं आदि सभी भंग हो गई हैं। चोर बाजारी, काला बाजारी, अधिक लाभ की प्रवृत्ति और धन-धान्य के एक स्थान पर संचित हो जाने से समाज में अनेक कुप्रवृत्तियां जन्म लेने लगी हैं। खाद्य-पदार्थों में मिलावट, नकली औषधियां, कमरतोड़ महंगाई आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जहां धन का आधिक्य हो गया वहां धनिक लोग धनमद में डूबकर नाना प्रकार के दुर्व्यसनों के शिकार होने लगे, और जहां निर्धनता है, वहां भी लोग व्यभिचार, चोरी-डकैती, लूटमार और हत्या जैसे जघन्य पाप-कर्मों में प्रवृत्त होने को विवश हो गए है।

राजनैतिक भ्रष्टाचार :

राजनीति की भी बड़ी दुर्दशा हो गई। राजनीति नीति न होकर अनीति बन गई है। आज की राजनीति ने सर्वत्र अविश्वास की भावना उत्पन्न करदी है। जनतंत्र के युग में जहां समाज और देश के हित की चिन्तना होना चाहिए थी, वहां वैयक्तिक स्वार्थ, पदलोलुपता और भाईभतीजावाद पनपने लगा है। जहां इन राजनीतिज्ञों को समाज और देश के हित की चिन्ता होनी चाहिए थी, वहां वे अपने पद, स्थान और कुर्सी आदि की चिन्ता अधिक करने लगे। इस व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के कारण छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े पदाधिकारी भी पथभ्रष्ट हो गए हैं। उत्कोच आदि का भ्रष्टाचार पनपने लगा है। परिणामतः समाज और देश में व्यवस्था, कानून आदि के स्थान पर अव्यवस्था और अशान्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही है।

धार्मिक अनास्था :

धर्म की तो दुर्दशा ही समझिए। अब तो धर्म का नाम सुनते ही लोगों की नाक-भौंह सिकुड़ने लगती है जैसे धर्म मानो कोई घृणाजन्य वस्तु है। धार्मिक आस्था और निष्ठा समाप्त होने से हमारे नैतिक आचरणों, आत्म-चरित्र पर बड़ा कुठाराघात हुआ है।

धर्मायतन व्यभिचार के अड्डे बनने लगे। आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि पर हमारी आस्था घटने लगी है। आडम्बर, पाखण्ड, ढोंग और ब्राह्य-प्रदर्शन मात्र ही आज हमारे धर्म के अवशेष रह गए हैं। इन सबके फलस्वरूप आस्तिकता के स्थान पर नास्तिकता और ईश्वरवादिता के स्थान पर अनीश्वरवादिता अपने चरण बढ़ाने लगी है। इस प्रकार धर्म मार्ग से हटने के कारण आध्यात्मिकता की उपेक्षा करके हम भौतिकता के दास बनने लगे हैं और भौतिकता के चरणों में नत होकर खाओ, पियो, मौज उड़ाओ में विश्वास करने लगे हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आज मानवता भौतिकवाद से उत्पन्न अनैतिकता और चरित्रहीनता के दानव से त्रस्त होकर त्राहि-त्राहि कर उठी है। क्या इस दानवता (पाशविकता) से आज की मानवता अपना उद्धार कर सकेगी? यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है।

महावीर-वाणी की भूमिका :

इस प्रश्न का समाधान भगवान् महावीर की वाणी में निहित है। उस पुनीत गरिमामय वाणी का अनुसरण करके हम निश्चय ही एक ऐसी क्रान्ति ला सकते हैं जिससे विश्व के प्राणिमात्र का कल्याण संभव है। उस वाणी की आधारशिला है "अहिंसावाद"। अहिंसा के माध्यम से ही मानवता, विश्वप्रेम, विश्व बन्धुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् का सर्वव्यापी प्रसार किया जा सकता है। अहिंसा जैसा कि कुछ लोगों का विचार है, कायरता की जननी है। यह विचार निश्चय ही अविवेकपूर्ण है। अहिंसा तो लोगों को निर्भीक और वीर बनाती है। सच्चा अहिंसावादी कभी कायर नहीं हो सकता। यह तथ्य तो स्वयं महात्मा गांधी के जीवन में चरितार्थ हुआ देखा जा सकता है।

जियो और जीने दो :

'जियो और जीने दो' अर्थात् 'सहअस्तित्व' अहिंसावाद का मूल मंत्र है। 'सह-अस्तित्व' स्वर्गीय पं० नेहरू द्वारा प्रसारित पंचशीलों में एक है, जिसका मूलाधार जैन धर्म के पञ्चाणुव्रतों अथवा बौद्धों की पंच-प्रतिपदाओं में विद्यमान है। राजनीतिक क्षेत्र में सह-अस्तित्व का पालन करने से विश्व-शान्ति की स्थापना संभव है। किन्तु धन और सत्ता-शक्ति के मद में अन्धे अमेरिका जैसे देशों ने इसकी उपेक्षा कर सर्वत्र भय का राज्य व्याप्त कर दिया है। इसका परिणाम वियतनाम के विनाश और अब कम्बोडिया के जनत्रास में दृष्टिगत हुआ। चीन की विस्तारवादी नीति, पाकिस्तान की युद्धलिप्सा उसी सहअस्तित्व की उपेक्षा के कुफल हैं।

चरित्र-निर्माण आवश्यक :

अहिंसावाद को जीवन में उतारने के लिए व्यक्तिगत और राष्ट्रगत चारित्र-निर्माण की परम आवश्यकता है। चारित्र-निर्माण के बिना अहिंसा के तत्त्व को अधिगम करना संभव नहीं है। भगवान् महावीर की वाणी में चारित्र की विशुद्धता पर विशेष बल दिया

गया है, क्योंकि अन्त में चारित्र की शुद्धता से ही आत्म-कल्याण होता है। सम्यक् चारित्र की प्राप्ति के विना सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान भी नहीं हो सकते। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के समन्वय से ही जीव का उद्धार हो सकता है। उमास्वामी ने अपने 'तत्वार्थ सूत्र' के प्रारम्भ में ही यह वात कही है 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' अतः चारित्र निर्माण ही हमारे जीवन का प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। इसी से समाज की विषमता अनैतिकता आदि का निवारण निश्चित है।

चारित्र के अभाव में ही आज हमारा देश अनेक व्याधियों और कठिनाइयों से त्रस्त होकर अराजकता और अशान्ति की ओर वढ़ता जा रहा है। यह चारित्र वाह्य और अंतरंग रूप में दोनों प्रकार से निर्मल वनाने की आवश्यकता है। वाह्य चारित्र की शुद्धता से ही अंतरंग चारित्र निर्मल हो सकता है। अंतरंग चारित्र आत्मा की स्वाभाविक परिणति का नाम है। यह आत्मा का स्वाभाविक रूप है किन्तु उस पर रागद्वेषादि भावनाओं के कारण ऐसा आवरण पड़ जाता है जो सहज ही नहीं हटाया जा सकता। यह कृत्रिम आवरण जैसे-जैसे हटता जाता है वैसे-वैसे आत्मा के उस गुण या रूप की विकृति होने लगती है। उस आवरण को जैन-दर्शन में 'कर्म' अथवा सिद्धान्त रूप में 'कर्मवाद' की संज्ञा दी गई है। ये कर्म आठ प्रकार के वताए गए हैं—ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इनमें भी मोहनीय कर्म का आवरण सवसे अधिक प्रवल है। इसलिए जव तक मोहनीय (चारित्र मोहनीय) कर्म के आवरण का आत्यन्तिक क्षय नहीं किया जाता, तव तक आत्मा के उपयोग रूप ज्ञान और दर्शन गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस कर्म के आवरण को हटाने के लिए हमें तपस्या का जीवन अपनाने की आवश्यकंता है। तभी हमारी प्रवृत्ति भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर वढ़ सकती है।

तपोमय जीवन :

गृहस्थावस्था में भी तपश्चर्या संभव है। नित्य प्रति के जीवन में मुनि दर्शन, स्वाध्याय, संयम, दान आदि कर्म करके तपोमय जीवन वनाया जा सकता है। किन्तु आज का मानव अपने जीवन की व्यस्तता के वहाने यह सामान्य दैनिक कर्म करने में भी अपनी झूठी असमर्थता वताने लगता है। ऐसे लोगों से हमारा यही कहना है कि वे जीवन की इस तथाकथित कृत्रिम व्यस्तता में कम से कम भगवान् का नाम तो स्मरण कर ही सकते हैं। किसी भी अवस्था में नाम स्मरण का भी अपना महत्त्व है। जैनाचार्यों ने इसके महत्त्व के विषय में लिखा है :—

> अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपिवा।
> ध्यायेत् पंचनमस्कारं सर्वपापैः विमुच्यते॥
> अपवित्रः पवित्रो व सर्वावस्थां गतोऽपिवा।
> यः स्मरेत् परमात्मानं, स वाह्याभ्यंतरे शुचिः॥

अर्थात् पवित्र या अपवित्र किसी भी अवस्था में परमात्मा का नाम स्मरण करके अपने वाह्य और अंतरंग दोनों को पवित्र वना सकता है। कवीर, महात्मा तुलसीदास आदि संतों ने

भी इस नाम-स्मरण की महत्ता को स्वीकार किया है, क्योंकि नाम स्मरण के द्वारा राग-द्वेष की अवांछनीय दुर्भावनाओं में कमी होने से पवित्र आचरण की दिशा में प्रेरित होकर मानव अंतरंग चारित्र का निर्माण कर सकता है और आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

अणुव्रतों का पालन :

भगवान् महावीर ने समाज में चार संघों की स्थापना की थी—श्रावक, श्राविका, मुनि और अर्जिका। उपर्युक्त व्यवस्था में प्रथम दो गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित हैं और अंतिम दो का सम्बन्ध संन्यास आश्रम से है। इस चतुः संघ के लिए भगवान् ने एक आचार-संहिता दी, जिसके प्रथम चरण में पांच व्रत हैं। गृहस्थ के लिए उन व्रतों का पालन स्थूल रूप में करने का विधान है, क्योंकि गृहस्थ की अपनी सीमाएं होती हैं, इसीलिए स्थूल रूप में उन व्रतों का पालन करना बताया गया है। उन व्रतों को अणुव्रतों की संज्ञा दी गई है। ये पांच अणुव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन व्रतों का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, उनकी मर्यादाएं भी बढ़ती जाती हैं। अतः मुनि अवस्था आने पर यही अणुव्रत-महाव्रत कहलाने लगते हैं। इन पांच व्रतों में सात व्रत और मिल जाने से बारह महाव्रत हो जाते हैं, जिनका पूर्ण पालन मुनि अवस्था में ही संभव है। गृहस्थ अपने नित्य प्रति के जीवन में आने वाले अनेक प्रसंगों—स्नान, भोजन, उद्योग धंधे, व्यापार आदि के कारण आंशिक रूप में ही (स्थूल रूप में) उन व्रतों का पालन कर पाता है, इसीलिए स्थूल रूप में पालन करने के कारण ये व्रत अणुव्रत और सम्पूर्ण रूप में पालन करने से महाव्रत कहलाते हैं।

व्रतों के अतिचारों से बचें :

कभी-कभी मनुष्य प्रमाद के कारण अणुव्रतों का पालन भी निर्दोष रूप में नहीं कर पाता और व्रतों की कठिनाई को सरल बनाने के हेतु उनसे बच निकलने का रास्ता निकालने का प्रयत्न करता है और उनमें कोई न कोई छिद्र (दोष) निकाल लेता है। ऐसे छिद्रों या दोषों से बचने के लिए भी सावधान किया गया है। इन दोषों का नाम व्रतों की भाषा में है 'अतिचार'। व्रत-पालन में इन अतिचारों से भी दूर रहने का विधान किया गया है। अतिचार सहित उन अणुव्रतों का विश्लेषण निम्नलिखित रूप में किया जाता है :—

(१) अहिंसाणुव्रत :

मन वचन काय से अतिचारों से दूर रहते हुए जीवों के हनन न करने का नाम ही अहिंसाणुव्रत है। छेदन, बंधन, पीड़ा, अतिभार लादना, और पशुओं को आहार देने में त्रुटि करना—ये पांच इस व्रत के अतिचार हैं।

(२) सत्याणुव्रत :

जिस वचन से किसी का अहित न हो, ऐसा वचन स्वयं बोलने और दूसरों से बुलवाने का नाम है 'सत्याणुव्रत'। मिथ्या उपदेश देना, किसी का रहस्य प्रगट करना, दूसरे की निन्दा या चुगली करना और झूठी बातें लिखना तथा किसी की धरोहर का अपहरण करना—ये पांच इस व्रत के अतिचार हैं।

(३) अचौर्याणुव्रत :

रखे हुए, गिरे हुए, अथवा भूले हुए दूसरे के धन को ग्रहण न करना ही अचौर्याणुव्रत है। चोरी का उपाय बताना, चोरी की वस्तु लेना, कानून का उल्लंघन करना, पदार्थों में मिलावट करना और तौलने नापने के बाटों को हीनाधिक रखना ये पांच उक्त व्रत के अतिचार हैं।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत :

परस्त्री का उपभोग न तो स्वयं करे और न दूसरे को ऐसा करने की प्रेरणा दे। कामुकता पूर्ण वचन बोलना, स्वस्त्री में भी तीव्र कामेच्छा, वेश्यागमन आदि भी इस व्रत के अतिचार हैं।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत :

आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। अनावश्यक वाहनों या वस्तुओं का संग्रह, दूसरे का वैभव देखकर ईर्ष्या करना, लोभ करना, आदि इसके अतिचार हैं।

अतिचारों से दूर रहते हुए उपर्युक्त अणुव्रतों का पालन करके कोई भी गृहस्थ सदाचरण कर सकता है। इन व्रतों को धारण करने में जाति, कुल, ऊंच, नीच आदि की कोई बाधा नहीं है। किसी भी जाति, कुल का व्यक्ति अर्थात् मानव मात्र इन व्रतों को अपने जीवन में उतार सकता है।

सुसंस्कृत समाज-निर्माण :

ये अणुव्रत सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित समाज के निर्माण में बड़े सहायक होते हैं। व्यक्ति समाज की इकाई है, व्यक्ति के निर्माण से ही समाज का निर्माण होता है। अतः अणुव्रत जब इकाई रूप व्यक्ति को सच्चरित्र बनाता है, तब ऐसी इकाइयों से बना हुआ समाज भी निश्चय से सच्चरित्र, सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित बनेगा। अणुव्रती समाज में अनाचार, कदाचार, भ्रष्टाचार, पापाचार की कुप्रवृत्तियां और विषमताएं नहीं पनप सकती, फिर अनैतिकता को स्थान ही कहां? कुप्रवृत्तियों के अभाव में अनैतिकता तो स्वयंमेव ही समाप्त हो जायगी।

हमारा संकल्प :

इस प्रकार वर्ग हीन, सच्चरित्र और सुव्यवस्थित समाज के निर्माण हेतु व्यक्तिगत और राष्ट्रगत चारित्र का विकास करने में भगवान् महावीर की वाणी की उपादेयता स्वयं सिद्ध है। इस लोक मंगल विश्वजनीन भगवान् की वाणी का प्रसार एवं प्रचार हमारा परम कर्तव्य है और विशेष कर भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव पर उनकी वाणी का संदेश जन-जन तक पहुंचाकर आज की पनपती हुई अनैतिकता का मूलोच्छेदन करने के लिए हमें कृत संकल्प और दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाना चाहिए।

●●●●

१४

महावीर की दृष्टि में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी

• प्रो० कमलकुमार जैन

युग-द्रष्टा महावीर :

भगवान महावीर युग द्रष्टा थे। उनके उपदेशों का गम्भीर अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जीवन का ऐसा कोई अंग और क्षेत्र नहीं है जो उनकी केवलज्ञानी दृष्टि से बच गया हो और जिन पर चलकर आधुनिक काल की अनेकानेक समस्याओं का सीधा, व्यावहारिक और आदर्श समाधान प्राप्त न किया जा सकता हो।

राजधानी में स्थित 'केन्द्रीय शिक्षा संस्थान' में शिक्षा शास्त्र का शिक्षक होने के नाते स्वाभाविक रूप से मेरी यह जिज्ञासा और रुचि थी कि मैं महावीर स्वामी के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करूं। और इस अध्ययन के पश्चात् मेरी यह दृढ़ धारणा है कि आधुनिक सन्दर्भ में शिक्षा-जगत् में व्याप्त शोचनीय अवस्था को सुधारने के लिए भगवान महावीर के उपदेश अत्यन्त सार्थक और प्रेरणादायक हैं।

महावीर-वाणी अधिकतर, प्राकृत और संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध है, किन्तु मैं भाषा की जटिलता में न फंस कर भगवान् महावीर के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत कर रहा हूं।

१. शिक्षा :

भगवान महावीर के अनुसार 'शिक्षा मानव को आत्म-बोध के माध्यम से मुक्ति की ओर अग्रसर करने वाली प्रक्रिया है,' जिसे सूक्ति रूप में 'सा विद्या या विमुच्चए' भी कहा जा सकता है।

अर्हन्त तुल्य बनाने की प्रक्रिया :

एक अन्य प्रसंग में भगवान कहते हैं, 'शिक्षा व्यक्ति को अर्हन्त तुल्य बनाने की प्रक्रिया है।' इस परिभाषा को समझने के लिए यह जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि अर्हन्त कौन है? अर्हन्त वे महान् आत्मा होते हैं जिनमें राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व, दान अन्तराय, वीर्य अन्तराय, भोग अन्तराय, उपभोग अन्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, काम, निद्रा प्रभृति दूषणों का नितान्त अभाव होता है।

यदि शिक्षा को इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए ढाला जाय तो यह संसार जिसमें आज पाप अनाचार, लम्पटता, दुष्टता इत्यादि का ही बोलवाला है, स्वर्ग बन सकता है। यहां

पर यह संशय प्रकट किया जा सकता है कि यह तो एक काल्पनिक और अव्यावहारिक उद्देश्य है, तो मेरा विनम्र निवेदन यह है कि चलने वाली चींटी भी मीलों की दूरी तय कर लेती है और न चलने वाला गरुड़ भी जहां बैठा है, वहीं बैठा रह जाता है। यद्यपि हर व्यक्ति अर्हन्त नहीं बन सकता, किन्तु उद्देश्य तो हमें महान् रखना ही पड़ेगा।

सम्यक् दृष्टि का विकास :

एक अन्य स्थल पर भगवान ने कहा है, 'विकार दूर करने वाला ज्ञान ही विद्या है।' आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि विद्या और शिक्षा के नाम पर हमें ज्ञान के स्थान पर अज्ञान प्रदान किया जाता है, क्योंकि ज्ञान वह होता है जो हर विषय और वस्तु का निरपेक्ष रूप विद्यार्थी के समक्ष प्रस्तु करे। किन्तु आज ऐसा कहां होता है? आज तो एक रंग विशेष में रंगा हुआ एक पक्षीय विकृत रूप ही निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए छात्रों के मस्तिष्क में भरा जाता है, परिणामतः सम्यक् ज्ञान के अभाव में हमारा दर्शन भी सम्यक् नहीं होता और तदनुसार हमारा चारित्र और व्यवहार भी सम्यक् नहीं हो पाता।

भगवान महावीर के उपदेशों में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की रत्नत्रयी पर विशेष बल दिया गया है और इन तीनों में भी सर्वप्रथम स्थान दिया गया है सम्यक् ज्ञान को, जो शिक्षा के आदर्श स्वरूप का परम आवश्यक और प्रथम आधार है।

अपने उपदेशों में भगवान कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त शक्ति—गुण भरे होते हैं किन्तु अज्ञान के कारण ये गुण मलिन हो जाते हैं। शिक्षा इस मलिनता को दूर करने की प्रक्रिया है। भगवान महावीर के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति निर्भय, सादा, पुरुषार्थी, धर्म श्रद्धावन्त, दयालु, सेवा भावी, सत्यवादी, ब्रह्मचारी, सन्तोषी, उदार, और विषय-संयमी बनता है।

यदि इन गुणों को शिक्षा का आधार मान लिया जाय और इनकी सिद्धि और प्राप्ति के लिए सच्ची चेष्टा की जाय तो संसार की ऐसी कौनसी समस्या है जो चिन्ता का विषय बन सकती है?

सर्वांगीण शिक्षा :

भगवान महावीर की शिक्षा एकांगी न होकर सर्वांगी है। वे केवल आत्मा के विकास पर ही बल नहीं देते प्रत्युत शरीर और मस्तिष्क का विकास भी परमावश्यक मानते हैं। उनके अनुसार उपयुक्त व्यायाम द्वारा नियमित रूप से शरीर को कसना, अपना प्रत्येक कार्य मन लगा कर स्वतः करना, शारीरिक कष्ट को बल बढ़ाने का साधन मानना एवं हर्ष पूर्वक श्रम कार्य करना शारीरिक शिक्षा है। हितकारक और अहितकर बात में भेद करने, अपने दर्शन और चरित्र को सम्यक् बनाने तथा आत्म-बोध के लिए सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करना मानसिक शिक्षा है। अहिंसा, सत्य, सन्तोष, क्षमा, दया, विनय, सेवाभाव, संयम, ब्रह्मचर्य आदि गुणों द्वारा आत्म-परिष्कार करते हुए अर्हन्त तुल्य होने का प्रयास करना आध्यात्मिक शिक्षा है।

यहां पर हम देखते हैं कि शरीर मस्तिष्क और आत्मा तीनों के विकास का अत्यन्त

व्यावहारिक, समन्वित और सन्तुलित मार्ग प्रशस्त किया गया है। इस बात पर भी बल दिया गया है कि एक अंग के विकास के अभाव में अन्य अंगों का पूर्ण विकास सम्यक् नहीं है तथा विकास चाहे शरीर का हो, मस्तिष्क का हो अथवा आत्मा का, उद्देश्य वही है अर्हन्त तुल्य बनना।

सम्यक् चारित्र ही शिक्षा :

आज यद्यपि परिमाण की दृष्टि से शिक्षा का अत्यन्त प्रचार और प्रसार हुआ है, अनेकानेक विश्वविद्यालय हैं जहां सभी प्रकार की शिक्षा देने का प्रबन्ध है, फिर भी अनुशासन के नाम पर नित्य प्रति हमें छात्रों और अध्यापकों, अधिकारियों और सरकार के मध्य टकराव के अनेक दृश्य देखने को मिलते हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि आधुनिक शिक्षा विद्यार्थी के चरित्र और व्यवहार पर वांछित बल और ध्यान नहीं देती। इसी समस्या के समाधान के लिए भगवान महावीर ने एक स्थल पर कहा है:—

'चारित्तं खलु सिखा'

अर्थात् चरित्र ही शिक्षा है। यदि पढ़-लिख कर छात्र का चरित्र निर्माण ही नहीं हुआ तो ऐसी शिक्षा का क्या लाभ? चरित्र की परिभाषा करते हुए भगवान ने कहा है:—

'असुहाहो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चरित्तं'

अर्थात् अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होना ही चरित्र कहलाता है। सम्यक् चारित्र ही शिक्षित मनुष्य की विशेषता है।

महावीर के उपदेशों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने किसी बात को अस्पष्ट नहीं छोड़ा है। जिस विषय के सम्बन्ध में भी उन्होंने अपना अभिमत प्रकट किया है उसकी सिद्धि और प्राप्ति के लिए उपाय भी सुझाए हैं। उदाहरणार्थ शिक्षा का उद्देश्य सम्यक् चारित्र को बताते हुए यह भी बताया है कि सम्यक् चारित्र का विकास कैसे किया जा सकता है?

उनके अनुसार चारित्र के आधार निम्न पंच महाव्रत, चार भावनाएं एवं दश उत्तम धर्म हैं :

पंच महाव्रत -

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

चार भावनाएं :

(१) **मैत्री भावना**—'मित्ती में सव्वे भूएसु वैरं मज्झं ण केणई' अर्थात् सबसे मेरी मैत्री हो, किसी से भी वैर न हो।

(२) **प्रमोद भावना**—गुणीजनों को देखकर उनसे सम्पर्क स्थापित करके प्रसन्न और प्रमुदित होना।

(३) **कारुण्य भावना**—पीड़ित, दुखी प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा प्रकट करना।

(४) **मध्यस्थ भावना**—अपने विरोधी के प्रति भी तथा जो प्रयत्नों के उपरान्त

भी राह पर नहीं लाया जा सकता, उसके प्रति भी द्वेष और घृणा भाव न रख कर अधिकाधिक मध्यस्थता या उदासीनता का भाव रखना।

दश उत्तम धर्म :

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम अकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य।

मेरा विश्वास है कि यदि उपर्युक्त व्रतों, भावनाओं और दस धर्मों को पाठ्य क्रम में प्रारम्भ से ही सम्मिलित कर लिया जाय तो हमारे छात्रों का चरित्र सम्यक् अवश्य बन सकेगा और क्योंकि देश के युवकों पर न केवल भविष्य प्रत्युत वर्तमान भी अवलम्बित होता है, अतः छात्रों का चरित्रवान होना कितना लाभदायक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

२. शिक्षक :

भगवान् महावीर के शिक्षा सम्बन्धी विचारों और उपदेशों का विश्लेषण करने के पश्चात् अब देखें कि उन्होंने शिक्षक की भी कितनी आदर्श परिभाषा दी है—

महावृत्त धरा धीरा भैक्ष मात्रोप जीविनः
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः

जो भिक्षा मात्र से वृत्ति करने वाले सामायिक व्रत में सदैव रहकर धर्म का उपदेश देते हैं, वही पुरुष गुरु कहे जाते हैं।

निव्वाण साहए जोए जह्मा साहून्ति साहुणो,
समा य सव्व भूएसु तह्मा ते भाव साहुणो।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य त्याग आदि महाव्रतों का मन, वचन, काय से स्वयं पालन करने वाला, दूसरों से कराने वाला तथा अन्य करने वालों की स्तुति करने वाला ही गुरु कहा जाता है।

इन दो परिभाषाओं में जिस बात पर विशेष बल दिया गया है वह यह है कि शिक्षक को भौतिकवादी न होकर सादा, त्यागी और व्रती होना चाहिए तथा उन सभी बातों और आदर्शों का स्वयं पालन करना चाहिए जिनकी वह अपने छात्रों से अपेक्षा करता है। आज हमारा दुर्भाग्य ही यह है कि हमारे शिक्षक पूरी तरह भौतिकवादी हो गए हैं तथा उनकी कथनी और करनी में वांछित तालमेल नहीं है।

आदर्श शिक्षा के गुण :

एक आदर्श शिक्षक का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है :—

प्राज्ञः प्राप्तमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान प्रागेव दृष्टस्तोरः
प्रायः प्रश्नसः प्रभु परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्म्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः

अर्थात् आदर्श शिक्षक,

१. सभी शास्त्रों का ज्ञाता होता है।
२. लोकमर्यादा का ध्यान रखता है।
३. तृष्णाजयी और अपरिग्रही होता है।
४. उपशमी होता है।
५. छात्रों के प्रश्न, जिज्ञासा और सन्देह को समझकर उनका सन्तोषजनक समाधान करता है।
६. प्रश्नों के प्रति सहनशील होता है।
७. स्व-पर निन्दा से ऊपर उठा हुआ होता है।
८. गुणनिधान, स्पष्ट भाषी एवं मिष्टभाषी होने के कारण सबका मन हरने वाला होता है।

आदर्श शिक्षक का एक अन्य परमावश्यक गुण यह है कि उसे परमार्थी होना चाहिए। यदि उसने स्वयं की सन्तुष्टि के लिए ज्ञानोपार्जन किया है और उससे छात्रों का भला न करपाता है तो वह शास्त्र ज्ञाता होते हुए भी मूर्ख ही है :—

पंडिय पंडिय पंडिय कुण छोडि वितुल़ कडिया।
पय-अत्थं तुट्ठोसि परमत्थ ण जाणइ मूढोसि॥

भगवान महावीर के उपदेशों में शिक्षक, गुरु आचार्य अथवा उपाध्याय को कितना महत्त्व दिया गया है यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुयायी जिस प्रथम नमस्कार मन्त्र का जाप करते हैं उसमें न केवल आचार्यो और उपाध्यायों को सम्मिलित किया गया है प्रत्युत्त इनका स्थान सर्वस्व त्यागी पूज्य साधुओं से भी ऊपर रखा गया है और इनको नमस्कार का अधिकारी वतलाया गया है :—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

अर्थात् अरिहन्तो को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यो को नमस्कार हो, उपाध्याणों को नमस्कार हो तथा लोक में सभी साधुओं को नमस्कार हो।

३. शिक्षार्थी :

भगवान् महावीर ने जहां एक ओर आदर्श शिक्षक का स्वरूप निर्धारित किया है वहीं आदर्श शिक्षार्थी का स्वरूप भी वर्णित किया है क्योंकि शिक्षक और शिक्षार्थी शिक्षा रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं और दोनों के आदर्श व्यवहार से ही आदर्श शिक्षा सम्भव है।

शिक्षार्थी का सर्व प्रथम गुण विनय है। विनय के अभाव में कोई भी आदर्श शिष्य नहीं वन सकता और ज्ञानोपार्जन नहीं कर सकता।

शिक्षार्थी को श्रद्धावान भी होना चाहिए तथा पढ़ाने का सम्पूर्ण दायित्व शिक्षक पर न सौंप कर स्वयं भी पढ़ने का, सीखने का सच्चा उद्यम करना चाहिए।

किसी प्रकार की शंका होने पर तथा उत्सुकता होने पर निन्दा या आलोचना की भावना से नहीं प्रत्युत पूर्ण विनयवान होकर प्रश्न करना चाहिए ।

गुरु द्वारा जो पाठ पढ़ाया गया है उस पर पूर्ण चिन्तन मनन करके उसका चरित्र और व्यवहार में अनुशीलन भी करना चाहिए ।

आदर्श विद्यार्थी पाठ के प्रति पूर्ण प्रीति अर्थात् रुचि अनुभव करता है । अरुचि या उदासीनता की भावना से कभी ज्ञानोपार्जन नहीं किया जा सकता ।

इसके अतिरिक्त भगवान् ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि शिक्षार्थी पांच व्रतों, चार भावनाओं एवं दश उत्तम धर्मो पर (जिनका उल्लेख शिक्षा का स्वरूप समझाते हुए किया गया है) यथाशक्ति चले । उसका सतत प्रयास यह रहना चाहिए कि वह जो कुछ सीख रहा है उस पर चलते हुए शनैः-शनैः अर्हन्त तुल्य बनने में सफलता प्राप्त करे ।

यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि भगवान् महावीर द्वारा उपदेशित शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्ध में यहां जिस विचारधारा का वर्णन किया गया है वह अत्यन्त आदर्शवादी होते हुए भी इतनी व्यावहारिक है कि यदि उस पर चला जाय तो आज शिक्षा-क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं का निश्चित समाधान ढूंढा जा सकता है ।



१५

भगवान् महावीर की दृष्टि में नारी

• विमला मेहता

ईसा के लगभग पांच सदी पूर्व समाज की प्रचलित सभी दूषित मान्यताओं को अहिंसा के माध्यम से बदल देने वाले महावीर वर्द्धमान ही थे। उनके संघ में एक ओर हरिकेशी और मैतार्य जैसे अति शूद्र थे तो दूसरी ओर महाराजा अजातशत्रु व वैशाली-पति राजा चेटक जैसे सम्राट् भी थे। विनम्र परन्तु सशक्त शब्दों में महावीर ने घोषणा की कि समस्त विराट विश्व में सचराचर समस्त प्राणी वर्ग में एक शाश्वत स्वभाव है—जीवन की आकांक्षा। इसीलिए 'मा हणो'। न कष्ट ही पहुँचाओ न किसी अत्याचारी को प्रोत्साहन ही दो। अहिंसा के इस विराट स्वरूप का प्रतिपादन करने का ही यह परिणाम है कि आज महावीर, अहिंसा, जैन धर्म, तीनों शब्द एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं।

क्रांतिकारी कदम :

युग-पुरुष महावीर जिन्होंने मनुष्य का भाग्य ईश्वर के हाथों में न देकर मनुष्य मात्र को भाग्य निर्माता बनने का स्वप्न दिया, जिन्होंने शास्त्रों, कर्मकाण्डों और जनसमुदाय की मान्यताएं ही बदल दी, उन महावीर की दृष्टि में मानव जगत् के अर्धभाग नारी का क्या स्थान है ?

यदि उस समय के सामाजिक परिवेश में देखा जाए तो यह दृष्टिगोचर होता है कि जिन परिस्थितियों में महावीर का अविर्भाव हुआ वह समय नारी के महापतन का समय था। 'अस्वतन्त्रता स्त्री पुरुष-प्रधाना' तथा 'स्त्रियां वैश्या स्तथा शूद्राः येपि स्युः पाप यो नयः' जैसे वचनों की समाज में मान्यता थी। ऐसे समय महावीर द्वारा नारी का खोया सम्मान दिलाना एक क्रांतिकारी कदम था। जहां स्त्री वर्ग में इस परिवर्तन का स्वागत हुआ होगा वहां सम्भवतः पुरुष-वर्ग विशेषकर तथाकथित उच्च वर्ग को ये परिवर्तन सहन न हुए होंगे।

नारी को खोया सम्मान मिला :

बचपन से निर्वाण प्राप्ति तक का महावीर का जीवन चरित्र एक खुली पुस्तक के समान है। उनके जीवन की घटनाओं और विचारोत्तेजक वचनों का अध्ययन किया जाय तो उसके पीछे छिपी एक मात्र भावना, नारी को उसका खोया सम्मान दिलाने का सतत् प्रयत्न का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

राज्य-कुल और असीम वैभव के मध्य चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन महावीर का जन्म हुआ और यौवनावस्था को प्राप्त करते-करते उनका कद सात हाथ लम्बा और सुगठित गौरवर्ण-देह का सौन्दर्यमय व्यक्तित्व और राजकीय वैभवपूर्ण वातावरण उन्हें सांसारिक भोग-विलास की चुनौती देता रहा। जैनों की दिगम्बर परम्परा के अनुसार वे ब्रह्मचारी व अविवाहित रहे। श्वेताम्बर परम्परा की शाखा के अनुसार वे भोगों के प्रति आसक्त नहीं हुए। ऐतिहासिक तथ्यों व जैन आगमों के अनुसार समरवीर नामक महासामन्त की सुपुत्री व तत्कालीन समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी यशोदा के साथ उनका विवाह हुआ और प्रियदर्शना नामक एक कन्या भी उत्पन्न हुई।

तो महावीर ने नारी को पत्नी के रूप में जाना। बहन सुदर्शना के रूप में बहन का स्नेह पाया और माता त्रिशला का अपार वात्सल्य का सुख देखा। अट्ठाइस वर्ष की उम्र में माता से दीक्षा की अनुमति मांगी, अनुमति न मिलने पर मां, बहन, पत्नी व अबोध पुत्री की मूक भावनाओं का आदर कर वे गृहस्थी में ही रहे। दो वर्ष तक यों योगी की भांति निर्लिप्त जीवन जीते देख पत्नी को अनुमति देनी पड़ी।

महावीर व बुद्ध :

महावीर व बुद्ध में यहां असमानता है। महावीर अपने वैराग्य को पत्नी, मां, बहन व पुत्री पर थोप कर चुपचाप गृह-त्याग नहीं कर गए। गौतमबुद्ध तो अपनी पत्नी यशोधरा व पुत्र राहुल को आधीरात के समय सोया हुआ छोड़कर चले गए थे। सम्भवतः वे पत्नी व पुत्र के आंसुओं का सामना करने में असमर्थ रहे हों। पर बुद्ध ने मन में यह नहीं विचार किया कि प्रातः नींद खुलते ही पत्नी व माता की क्या दशा होगी? इसके विपरीत महावीर दो वर्ष तक सबके बीच रहे। परिवार की अनुमति से मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को वे दीक्षित हो गए। दीक्षा लेने के उपरान्त महावीर ने नारी जाति को मातृ-जाति के नाम से सम्बोधित किया। उस समय की प्रचलित लोकभाषा अर्धमागधी प्राकृत में उन्होंने कहा कि पुरुष के समान नारी को धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त होने चाहिएं। उन्होंने बताया कि नारी अपने असीम मातृ-प्रेम से पुरुष को प्रेरणा एवम् शक्ति प्रदान कर समाज का सर्वाधिक हित साधन कर सकती है।

विकास की पूर्ण स्वतंत्रता :

उन्होंने समझाया कि पुरुष व नारी की आत्मा एक है अतः पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। पुरुष व नारी की आत्मा में भिन्नता का कोई प्रमाण नहीं मिलता अतः नारी को पुरुष से हेय समझना अज्ञान, अधर्म व अतार्किक है।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य पालन करने वाले पति-पत्नी के लिए महावीर ने उत्कृष्ट विधान रखा। महावीर ने कहा कि ऐसे दम्पति को पृथक् शैया पर ही नहीं अपितु पृथक् शयन-कक्ष में शयन करना चाहिए। किन्तु जब पत्नी पति के सन्मुख जावे तब पति को मधुर एवम् आदरपूर्ण शब्दों में स्वागत करते हुए उसे बैठने को

भद्रासन प्रदान करना चाहिए क्योंकि जैनागमों में पत्नी को 'धम्मसहाया' अर्थात् धर्म की सहायिका माना गया है।

वासना, विकार और कर्मजाल को काट कर मोक्ष प्राप्ति के दोनों ही समान भाव से अधिकारी हैं। इसी प्रकार समवसरण, उपदेश, सभा, धार्मिक पर्वों में नारियाँ निस्संकोच भाग लेगी। मध्य सभा के खुले रूप में प्रश्न पूछ कर अपने संशयों का समाधान कर सकती हैं। ऐसे अवसरों पर उन्हें अपमानित व तिरस्कृत नहीं किया जाएगा।

दासी-प्रथा का विरोध :

उन्होंने दासी प्रथा, स्त्रियों का व्यापार और क्रय-विक्रय रोका। महावीर ने अपने बाल्यकाल में कई प्रकार की दासियों जैसे धाय, क्रीतदासी, कुलदासी, ज्ञातिदासी आदि की सेवा प्राप्त की थी व उनके जीवन से भी परिचित थे। इस प्रथा का प्रचलन न केवल सुविधा की खातिर था, बल्कि दासियां रखना वैभव व प्रतिष्ठा की निशानी समझा जाता था। जब मेघकुमार की सेवा-सुश्रुषा के लिए नाना देशों से दासियों का क्रय-विक्रय हुआ तो महावीर ने खुलकर विरोध किया और धर्म-सभाओं में इसके विरुद्ध आवाज बुलन्द की।

बौद्ध आगमों के अनुसार आम्रपाली वैशाली गणराज्य की प्रधान नगरवधू थी। राजगृह के नैगम नरेश ने भी सालवती नामक सुन्दरी कन्या को गणिका रखा। इसका जनता पर कुप्रभाव पड़ा और सामान्य जनता की प्रवृत्ति इसी ओर झुक गई। फलस्वरूप गणिकाएं एक ओर तो पनपने लगी, दूसरी ओर नारी वर्ग निन्दनीय होता गया।

भिक्षुणी का आदर :

जब महावीर ने भिक्षुणी संघ की स्थापना की तो उसमें राजघराने की महिलाओं के साथ दासियों व गणिकाओं-वेश्याओं को भी पूरे सम्मान के साथ दीक्षा देने का विधान रखा। दूसरे शब्दों में महावीर के जीवन-काल में जो स्त्री गणिका, वेश्या, दासी के रूप में पुरुष वर्ग द्वारा हेय दृष्टि से देखी जाती थी, भिक्षुणी-संघ में दीक्षित हो जाने के पश्चात् वही स्त्री समाज की दृष्टि में वन्दनीय हो जाती थी....। नारी के प्रति पुरुष का यह विचार परिवर्तन युग-पुरुष महावीर की ही देन है।

भगवान् बुद्ध ने भी भिक्षुणी संघ की स्थापना की थी, परन्तु स्वयंमेव नहीं। आनन्द के आग्रह से और गौतमी पर अनुग्रह करके। पर भगवान् महावीर ने समय की मांग समझ कर पम्परागत मान्यताओं को बदलने के ठोस उद्देश्य से संघ की स्थापना की। जैन शासन-सत्ता की बागडोर भिक्षु-भिक्षुणी, श्रावक-श्राविका इस चतुर्विध रूप में विकेन्द्रित कर तथा पूर्ववर्ती परम्परा को व्यवस्थित कर महावीर ने दुहरा कार्य किया।

इस संघ में कुल चौदह हजार भिक्षु, तथा छत्तीस हजार भिक्षुणियां थीं। एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अट्ठारह हजार श्राविकाएं थी। भिक्षु संघ का नेतृत्व इन्द्रभूति के हाथों में था तो भिक्षुणी संघ का नेतृत्व राजकुमारी चन्दनबाला के हाथ में था।

पुरुष की अपेक्षा नारी सदस्यों की संख्या अधिक होना इस बात का सूचक है कि महावीर ने नारी जागृति की दिशा में सतत् प्रयास ही नहीं किया, उसमें उन्हें सफलता भी मिली थी। चन्दनवाला, काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, महाकृष्णा आदि क्षत्राणियां थीं तो देवानन्दा इत्यादि ब्राह्मण कन्याएं भी संघ में प्रविष्ठ हुईं।

'भगवती सूत्र' के अनुसार जयन्ती नामक राजकुमारी ने महावीर के पास जाकर गम्भीर तात्विक एवं धार्मिक चर्चा की थी। स्त्री जाति के लिए भगवान् महावीर के प्रवचनों में कितना महान् आकर्षण था, यह निर्णय भिक्षुणी व श्राविकाओं की संख्या से किया जा सकता है।

नारी जागरण : विविध आयाम :

गृहस्थाश्रम में भी पत्नी का सम्मान होने लगा तथा शीलवती पत्नी के हित का ध्यान रख कर कार्य करने वाले पुरुष को महावीर ने सत्पुरुष बताया। सप्पुरिसो.... पुत्तदारस्स अत्याए हिताय सुखाय होति....विधवाओं की स्थिति में सुधार हुआ। फलस्वरूप विधवा होने पर बालों का काटना आवश्यक नहीं रहा। विधवाएं रंगीन वस्त्र भी पहनने लगीं जो पहले वर्जित थे। महावीर की समकालीन थावचा सार्थवाही नामक स्त्री ने मृत पति का सारा धन ले लिया था जो उस समय के प्रचलित नियमों के विरुद्ध था। 'तत्यण' वारवईए थावचा नामं गाहावइणी परिवसई अड्ढा जाव....।

महावीर के समय में सती प्रथा बहुत कम हो गई थी। जो छुटपुट घटनाएं होती भी थीं वे जीवहिंसा के विरोधी महावीर के प्रयत्नों से समाप्त हो गईं। यह सत्य है कि सदियों पश्चात् वे फिर आरम्भ हो गईं।

बुद्ध के अनुसार स्त्री सम्यक सम्बुद्ध नहीं हो सकती थी, किन्तु महावीर के अनुसार मातृजाति तीर्थंकर भी बन सकती थी। मल्ली ने स्त्री होते हुए भी तीर्थंकर की पदवी प्राप्त की थी।

महावीर की नारी के प्रति उदार दृष्टि के कारण परिव्राजिका को पूर्ण सम्मान मिलने लगा। राज्य एवम् समाज का सबसे पूज्य व्यक्ति भी अपना आसन छोड़ कर उन्हें नमन करता व सम्मान प्रदर्शित करता था। 'नायधम्मकहा' आगम में कहा है—

तए णं से जियसत्तु चोक्खं
परिव्वाइयं एज्जमाणं पासइ
सिहासणाओ अवभुट्ठेई....सक्कारेई
आसणेणं उवनि मंतेई।

इसी प्रकार बौद्ध-युग की अपेक्षा महावीर युग में भिक्षुणी संघ अधिक सुरक्षित था। महावीर ने भिक्षुणी संघ की रक्षा की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया।

आज जब देश व विदेश में महावीर स्वामी की पच्चीस सौं-वी निर्वाण तिथि मनाई जा रही है, यह सामयिक व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा कि महावीर स्वामी के उन प्रवचनों का विशेष रूप से स्मरण किया जाए जो पच्चीस सदी पहले नारी जाति को पुरुष के समकक्ष खड़ा करने के प्रयास में उनके मुख से उच्चरित हुए थे। ••••

१६

नवीन समाज-रचना में महावीर की विचार-धारा किस प्रकार सहयोगी बन सकती है ?

(इस विषय पर विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत चार चिन्तनशील समाज सेवियों के विचार प्रस्तुत हैं।)

(१)

जो भी उत्पादन हो उसे सब बांटकर खायें

• विरधीलाल सेठी

समष्टि के हित के साथ व्यष्टि के हित के समन्वय की समस्या संसार में सदा से अधिक रही है। व्यक्ति अपने सुख को समाज के सुख से अधिक महत्व देता रहा है और उसकी भौतिक सुख साधन बढ़ाने की तृष्णा का कोई अंत नहीं है। व्यक्ति की यह स्वार्थी वृत्ति ही संसार में व्याप्त विषमता, संघर्ष और अशांति का कारण है। अतः महापुरुषों ने व्यक्ति की स्वार्थी वृत्ति पर नियंत्रण द्वारा उसका समाज के हित के साथ समन्वय करने के उद्देश्य से धर्म और राज्यसत्ता—दो संस्थाओं को जन्म दिया। धर्म का उद्देश्य था व्यक्ति को भौतिक सुख साधनों से निरपेक्ष सुखी जीवन की कला बताना और उसमें ऐसी कर्तव्य भावना पैदा करना कि वह बिना किसी के दबाव के स्वयं ही इस प्रकार जीवन व्यतीत करे कि दूसरों के सुख में बाधक न बने प्रत्युत अपने सुख के साथ दूसरों के सुख का भी वर्धन करे। राज्य सत्ता की आवश्यकता हुई समाज के हित को कर्तव्य भावना से रहित स्वार्थी लोगों पर नियन्त्रण रखने के लिए। परन्तु धर्म को अधिक महत्व दिया गया क्योंकि समष्टि-गत कर्तव्य की भावना के बिना राज्य सत्ता भी अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती। वह वहीं सफल हुई है जहां या तो राज्य सत्ता कर्तव्य भावना वाले निःस्वार्थ व्यक्तियों के हाथ में थी या सत्ताधीशों पर ऐसे लोगों का अंकुश था। ऐसा न होने पर, लोकतांत्रिक राज्यसत्ता भी असफल ही रही है और संघर्ष के वातावरण और चरित्र संकट ने उग्ररूप धारण कर लिया।

व्यक्ति भौतिक साधनों से निरपेक्ष सुखी जीवन की कला के महत्व को समझे और बिना किसी के दबाव के समाज के सुख में ही अपना सुख समझे, इस उद्देश्य से यह संसार क्या है, क्या किसी ने इसे बनाया है, हमारा 'मैं' क्या है—आदि प्रश्नों के भी महापुरुषों ने दार्शनिक समाधान दिये। आचार-शास्त्र के आधुनिक महाविद्वान कांट ने भी व्यक्ति के नैतिक जीवन के लिए इस प्रकार के दार्शनिक विश्वास की आवश्यकता को अनुभव कर

उसे नैतिकता की आधार भूत शिला माना है। भगवान् महावीर ने कहा है कि गुण पर्याय वाले चेतन-अचेतन के क्रिया कलापयुक्त यह विश्व अनादि से है और रहेगा। इसका निर्माता कोई नहीं है। भगवान् महावीर की यह विचारधारा वैज्ञानिक पद्धति के अधिक अनुकूल और बुद्धिवादी लोगों के लिए आकर्षक है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा हाड़-मांस के नश्वर शरीर तथा जड़ जगत् से भिन्न एक अविनाशी तत्त्व है जो शरीर के नष्ट हो जाने के बाद किसी भी देश, प्रांत, कुल और योनि में जन्म धारण कर सकता है अतः सबको अपना कुटुम्बी मानकर किसी को दुःख मत पहुँचाओ। ऐसा कोई कार्य न करो जो अन्य जीवों के हित का विरोधी हो।

इस समय भी एक ही मार्क्सवादी विचारधारा वाले होते हुए भी रूस तथा चीन वाले एक दूसरे को दुश्मन समझते हैं। राष्ट्रवाद और जातिवाद के विष से संसार में संघर्ष का वातावरण बना हुआ है और धनवान तथा साधन सम्पन्न लोगों को अधिकांश अपने ही भोगविलास की चिंता है, चाहे साधनहीन लोगों को खाने को अनाज भी न मिले। इसका कारण यही है कि वे अपने वर्तमान शरीर की दृष्टि से ही सोचते हैं। अपनी आत्मा की दृष्टि से यह नहीं सोचते कि संभव है मरने के बाद उनका स्वयं का उसी देश, जाति, कुल व योनि में जन्म हो जावे कि जिसे वे इस समय अपना दुश्मन समझते हैं। इस प्रकार भगवान् महावीर ने आत्मा की नित्यता और विश्वबन्धुत्व की भावना को महत्त्व देते हुए संसार में शांति स्थापना के लिग अहिंसा के पालन का उपदेश दिया।

उन्होंने यह भी कहा कि सुख का मूल स्रोत तुम्हारी आत्मा के अंदर है, वह पराश्रित नहीं है, कहीं बाहर से नहीं आता। बाह्य पदार्थो से प्राप्त सुख क्षणिक और परिणाम में दुखदायी होता है तथा उनके परिग्रह अर्थात् उनके मोह, ममत्व व उनके स्वामित्व की भावना से, दुःख ही मिलता है। अतः यदि सुखी रहना चाहते हो तो संयम से रहो, अपने जीवन निर्वाह के लिए कम से कम आवश्यकताएं रक्खो और भोगोपभोग की वस्तुओं और धन का संग्रह मत करो। इस प्रकार भगवान् महावीर का उपदेश व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का विरोधी है। जहां उनके द्वारा निर्दिष्ट साधु की चर्या उस निष्परिग्रही जीवन की आदर्श स्थिति है वहां गृहस्थ के लिए भी कम से कम परिग्रह रखने का उपदेश है और कहा है कि बहुत परिग्रह रखने वाला व्यक्ति मरने पर नरकगति में जाता है। परन्तु निष्परिग्रही या अल्पपरिग्रही जीवन उसी व्यक्ति का हो सकता है कि जिसकी आवश्यकताएं कम-से-कम हों अर्थात् जो संयमी हो। अतः भगवान् महावीर ने सुख-शांति के लिए संयम और अपरिग्रह दोनों को आवश्यक माना है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी, मनुष्य मात्र में भाईचारे, विश्व बंधुत्व के व्यवहार के लिए भी अपरिग्रह और संयम आवश्यक है। कुछ समय पूर्व संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य और कृषि संगठन के महासंचालक ने कहा था कि पृथ्वी पर जो अनाज पैदा होता है उसके लगभग तीन चौथाई भाग को तो विश्व की जन संख्या के एक तिहाई साधन संपन्न लोग ही खा जाते हैं। शेष दो तिहाई या आधे लोग भूखे रहते हैं या उन्हें ऐसा भोजन मिलता है जिससे ठीक पोषण नहीं मिलता। परिणामस्वरूप प्रतिवर्ष ४ करोड़ व्यक्ति तो भूख से

मर ही जाते हैं। ऐसी स्थिति में, विशेष कर ऐसी अवस्था में कि जब एक ओर तो जन-संख्या बढ़ रही है, दूसरी ओर भूमि और प्राकृतिक साधन सीमित हैं प्रत्युत खनिज साधन तो कम होते ही जा रहे हैं और कुछ महत्त्वपूर्ण खनिजों जैसे कोयला के लिए विशेषज्ञों का कहना है कि पचास वर्ष बाद हमारे यहां समाप्त प्राय हो जायेगा। अभी तो संसार के सामने मुख्य समस्या मूलभूत आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर उनकी प्रचुरता करने की तथा सब लोगों को रोजगार देने की है। कम-से-कम इस समस्या का निराकरण होने तक तो यही आवश्यक है कि भगवान् महावीर द्वारा उपदेशित संयम और अपरिग्रह या अल्प परिग्रह का सब पालन करें। जो भी उत्पादन हो उसे सब बांट कर खायें और उपयोग करें। इसीलिए महात्मा गांधी ने कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल इतना ही मिले कि वह अपनी सब प्राकृतिक आवश्यकताएं पूरी कर सके, अधिक नहीं।

परन्तु अधिक से अधिक सुख साधन बढ़ाने की मनुष्य की तृष्णा का कोई अन्त नहीं है। उसी के कारण यह संसार व्यापी अशान्ति है और उसे नियंत्रित करने के लिए ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है कि एक ओर तो लोगों में संयमी और अल्प परिग्रही जीवन के लिए भावना पैदा हो और दूसरी ओर उत्पादन को सादे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित कर, उनकी प्रचुरता की जावे ताकि विलासिता, शानशौकत और फैशन की बेशकीमती वस्तुएं व साधन जिन्हें, धनवान व साधन सम्पन्न लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, किसी को उपलब्ध न हो सके। रेल, सिनेमा आदि में केवल एक श्रेणी हो, शफाखानों में केवल जनरल वार्ड हो, कोई होटल विलासिता के साधनों से युक्त न हो, घरेलू उपयोग के लिए प्राइवेट कारें न हों। और इस प्रकार भोगोपभोग के लिए धनवानों का धन निरुपयोगी हो जाने से (और मूलभूत आवश्यकता की वस्तुओं की प्रचुरता हो जाने से उनके लिए भी) लोगों में संग्रह की तृष्णा न रहे। इस चरित्र संकट का भी तब ही निराकरण हो सकेगा।

यहां यह स्पष्ट कर देना भी उचित है कि उसी देश या व्यक्ति को गरीब कहा जा सकता है कि जिसके पास सादा जीवन की आवश्यकताओं—सादा खाना, कपड़ा, शुद्ध पानी, मकान व रोग चिकित्सा के लिए भी पर्याप्त साधन न हो। जिसके पास ये साधन तो हैं परन्तु विलासिता व शानशौकत के साधन नहीं हैं, उसे गरीब नहीं कहा जा सकता, धनवान भले ही नहीं कहा जावे। अतः उपयुक्त व्यवस्था गरीबी की समाज व्यवस्था नहीं होगी प्रत्युत धनवानों तथा सत्ताधीशों द्वारा गरीबों का शोषण समाप्त कर उनकी गरीबी मिटाने की व्यवस्था होगी। इस व्यवस्था में जनहित के लिए धनवानों का धन या सम्पत्ति बल प्रयोग या कानून द्वारा छीनने या अधिकाधिक टैक्स लगाने का भी प्रश्न नहीं पैदा होगा क्योंकि भोग-विलास के लिए या भावी आवश्यकता के लिए धन का अधिक संग्रह निरुपयोगी हो जाने से वे स्वयं उसे जनहित के कार्यों व उद्योग धन्धों में लगाना उचित समझने लगेंगे।

यह कथन भी भ्रम पूर्ण है कि ऐसा नियंत्रण लोकतंत्र में सम्भव नहीं है। यह सही है कि लोकतन्त्र में सबको अपना-अपना विकास करने का समान अवसर और स्वतन्त्रता होती है परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, उसका यह भी उद्देश्य है कि जिन लोगों में

समाज हित के अनुकूल उत्पादन और उपभोग करने की कर्तव्य भावना हो उनके उत्पादन और उपभोग को इस प्रकार नियंत्रित करें कि उससे विषमताएं पैदा होकर समाज हित विरोधी न हो जावे। जब इस समय भी प्रत्येक लोकतान्त्रिक सरकार का खाद्य पदार्थों आदि आवश्यकता की वस्तुओं तक के उत्पादन और उपभोग पर नियन्त्रण है तो विलासिता आदि की अनावश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह सम्भव क्यों नहीं हो सकता ?

कहा जाता है कि धनवानों और साधन सम्पन्न अधिक योग्यता वाले लोगों को विलासिता के साधन उपलब्ध नहीं होने दिये जावेंगे तो लोगों में अच्छा काम करने की प्रेरणा व रुचि नहीं रहेगी। यह भी भ्रम मात्र है। प्रस्तावित व्यवस्था में लोगों को अपनी-अपनी योग्यता, काम, प्रतिभा व उत्तरदायित्व के अनुरूप वेतन, लाभ तथा आदर प्रतिष्ठा तो मिलेगी ही अतः अच्छा से अच्छा काम करने की प्रेरणा मिल सकेगी। प्राचीन भारत में धनवानों का रहन-सहन अधिकांशतः सादा ही होता था। अपनी-अपनी योग्यता तथा प्रतिभा के अनुरूप लाभ व प्रतिष्ठा मिलने से उन्हें उससे तो अपने काम में प्रेरणा मिलती ही थी, साथ ही सादा जीवन के कारण धन का संग्रह अनावश्यक हो जाने से उसका उपयोग जनहित के कार्यों में करके समाज में आदर व प्रतिष्ठा प्राप्त करने की तथा पुण्य बंध की भावना होती थी, उससे भी इन्हें प्रेरणा मिलती रहती थी। इस प्रकार यह विचारधारा मिथ्या है कि उत्पादन बढ़ाने व वैज्ञानिक विकास में लोगों को प्रेरणा देने के लिए विलासिता के सुख साधनों का उपलब्ध कराना आवश्यक है। वास्तविकता तो यह है कि संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं एवं जिन्होंने बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक खोजें की हैं व समाजहित के बड़े-बड़े काम किये हैं उनका सादा व संयमी जीवन ही था। भोग-विलास व शानशौकत का जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति तो संसार पर सर्वदा भार रूपी होकर रहे हैं। वे बातें तो करते हैं उन लोगों के हित की, उनकी गरीबी दूर करने, रहन-सहन का स्तर ऊंचा करने की कि जिनकी मूलभूत आवश्यकताएं भी पूरी नहीं हो पा रही हैं, परन्तु अधिकांश साधनों का उपयोग किया जा रहा है व अरबों रुपया उधार लिया जा रहा है साधन सम्पन्न लोगों की भोगविलास की तृष्णा को पूरा करने एवं अनेक शान-शौकत व विलासिता के साधन पैदा करने में।

यह सही है कि जनसंख्या तेजी से बढ़ती जा रही है पर वह अभी इतनी नहीं बढ़ गई है कि उस पर नियंत्रण न किया जा सके। वैज्ञानिक साधनों तथा भूमि का यदि विवेकपूर्वक उपयोग किया जाय तो मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होकर गरीबी दूर होने में अनेक वर्ष लगजाने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। न इसके लिए विदेशों से उधार लेकर अनेक बड़े-बड़े कारखाने लगाने की आवश्यकता है क्योंकि प्राकृतिक साधन सीमित हैं और मशीनों के उपयोग का उसी सीमा तक औचित्य है यदि उससे बेकारी न फैले। इस समय संसार में जो अशांति है, वर्ग संघर्ष तथा चरित्र संकट ने उग्र रूप धारण कर रक्खा है वह भी उत्पादन में प्रेरणा देने के नाम पर अनेक प्रकार के भोग-विलास के साधन पैदा किये जा रहे हैं, उसके कारण ही है। नेताओं ने रहन-सहन का स्तर ऊंचा करने की होड़ पैदा करदी है! उसी के लिए लोग तथा जिनकी मूलभूत आवश्यकताएं भी पूरी नहीं हो पाती

वे (कर्तव्य भावना वाले कुछ लोगों को छोड़कर) मिलावट, रिश्वत, टैक्स चोरी, ब्लेक मार्केट आदि से पैसा कमाने का प्रयत्न करते हैं। जिनके हाथ में सत्ता है, संगठन की शक्ति है या जिनमें तोड़-फोड़ आदि कानून विरोधी हरकतें करके अपनी बात मनवा लेने की शक्ति है, वे उसे कानूनी रूप देकर अपनी आय बढ़वा लेते हैं चाहे देश की गरीबी का विचार करते हुए उसका कोई औचित्य न हो। मिलावट, टैक्स चोरी आदि की रोक के लिए कानून बनाये जाते हैं परन्तु वे सब असफल हो रहे हैं और अपराध बढ़ते जा रहे हैं। स्थिति यहां तक बिगड़ गई है कि साधारण आवश्यकता की वस्तु भी चोर बाजार से ही खरीदनी पड़ती है। नेता सोचते हैं कि सहकारिता, राष्ट्रीयकरण व समाजीकरण से सब ठीक हो जायेगा। परन्तु उसमें भी काम करने वालों का केवल नाम बदलता है, चरित्र नहीं बदलता। पहले मालिक कहलाता था, फिर मजदूर कहलाने लगता है, और उससे इतना अंतर और पड़ जाता है कि पहले की अपेक्षा काम भी आधा करने लग जाता है।

इस प्रकार रोग की ज्यों-ज्यों चिकित्सा की जा रही है वह और बढ़ता जा रहा है क्योंकि दवा ही गलत दी जा रही है। अमरीका आदि सम्पन्न देशों में यद्यपि भोगोपभोग की वस्तुओं का उत्पादन प्रचुर मात्रा में है, धन भी बहुत है फिर भी वहाँ शांति नहीं है। वहां एक ओर हिप्पी बढ़ रहे हैं, दूसरी ओर डाकाजनी चोरी, रिश्वत, टैक्स चोरी आदि अपराध बढ़ रहे हैं। कुछ समय पूर्व संयुक्त राष्ट्र अमरीका के जांच के संघीय कार्यालय के संचालक श्री जे० एडगर हूवर ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि वहां जिस तेजी से जनसंख्या बढ़ रही है उससे चौगुनी गति से अपराध बढ़ रहे हैं।

अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि भौतिकवाद पर आधारित पाश्चात्य सभ्यता, जिसे राजनीति विज्ञान के माने हुए विद्वान श्री हर्मन फिनर ने "ऊंचे रहन-सहन के स्तर के छद्म वेश में मनुष्य की तृष्णा" (The greed of man masquerading under the garb of a high standard of living.) कहा है और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिंद स्वराज्य" में महात्मा गांधी ने जिसके लिए लिखा है, "यह सभ्यता अधर्म है पर इसने यूरोप वालों पर ऐसा रंग जमाया है कि वे इसके पीछे दीवाने हो रहे हैं—जो लोग हिन्दुस्तान को बदल कर उस हालत पर ले जाना चाहते हैं जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है वे देश के दुश्मन हैं, पापी हैं" के प्रवाह में और अधिक न बहकर संसार के देशों की सरकारें नवीन समाज रचना के लिए भगवान् महावीर द्वारा उपदेशित संयम और अपरिग्रह के सिद्धान्त पर आधारित सादे जीवन की अर्थ व्यवस्था को (जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा पिछले पृष्ठों में दी गई है) अपनायें और भारतवर्ष इसमें पहल करके उस आदर्श को सब देशों के सामने रखे। उस समाज व्यवस्था में भोगोपभोग की विषमता का कोई प्रश्न नहीं होने से राष्ट्रवाद, जातिवाद, मजदूरवाद आदि तथा इनके कारण उत्पन्न वर्ग संघर्ष तथा चरित्र संकट अपने आप समाप्त हो जावेंगे। संसार का लगभग आधा उत्पादन युद्धों में तथा युद्धों की तैयारी में स्वाहा हो रहा है। उसका भुखमरी और गरीबी की समस्या का निवारण करने में उपयोग हो सकेगा और संसार में वास्तविक शांति की स्थापना हो सकेगी।

(२)

अध्यात्मवाद के द्वारा मानव-जीवन संतुलित किया जा सकता है

• डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

तीर्थंकर महावीर मानव संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ थे। सर्वांगीण जागतिक विकास उनका ध्येय था। उनके हृदय में प्राणीमात्र के लिए सहानुभूति थी। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व अलौकिक था, चरित्र पूज्य और निष्कलंक था। उनका आदर्श जीवन हमें वर्तमान में भी महती प्रेरणा प्रदान करता है। उन्होंने उस युग में भी उदार दृष्टि से ही धर्मोपदेश दिया। व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें जैन तीर्थ संचालक के नाते जैन कहा जा सकता है किन्तु उन्होंने जाति, समाज, देश, काल और साम्प्रदायिकता जैसी सीमाओं से ऊपर उठकर प्राणी मात्र के लिए दिव्योपदेश प्रस्तुत किये। उनका चिन्तन जीवमात्र के लिए था। उन्होंने कहा—'जिओ और जीने दो'। जैसा तुम्हें जीने का अधिकार है वैसा ही दूसरे जीवों को भी है। अतः किसी जीव को सताना पाप है। वे महापुरुष थे, अतः उन्हें सम्प्रदाय के बन्धन कैसे बांध सकते थे। उनका जीवन सत्य के शोधन एवं रहस्योद्घाटन में ही लगा था।

महावीर की अहिंसा तत्कालीन परिस्थितियों में जीव दया का अनुचिंतन मात्र ही न थी। उन्होंने उसे मानस की गहराई में जाकर अनुभव किया। उनकी अहिंसा आत्मा का सहज स्वभाव होने के कारण परमधर्म कहलाई। आधुनिक युग में गांधीजी ने भी महावीर की अहिंसा को अपनाकर अपनी आत्म-दृढ़ता के द्वारा एक सैनिक शक्ति वाले विशाल साम्राज्य को चुनौती दी। उनकी अहिंसा हिंसक में भी अहिंसक भाव उत्पन्न करने वाली थी। अतः वह व्यावहारिक जीवन में सुख-शांति की जनक थी। गांधीजी के सफल अहिंसक आन्दोलन को देखकर विश्व के अनेक गुलाम देशों ने इसे अपने स्वातन्त्र्य संग्राम में अपनाया और विजय प्राप्त की। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि इस अहिंसा में धीरता, वीरता एवं दृढ़ता विद्यमान है। इसमें वह आत्मतेज विद्यमान है जो शत्रु के हिंसक भावों को भी निरस्त्र करने में समर्थ है। महावीर की अहिंसा अत्यन्त व्यापक एवं मानव जीवन का मूलमंत्र थी। वे देश में अहिंसक क्रांति करना चाहते थे और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। उनका मन्तव्य था—

अहिंसा–प्रेम का विस्तार हो, सुख-शांति का समन्वय हो।

आज विश्व-मानव अणु–युद्ध के कगार पर खड़ा है। जरा सी हिंसा भड़कने पर विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर विश्व मानव का पूर्ण विनाश अवश्यंभावी है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद के शब्दों में—

भयभीत सभी को भय देता, भय की उपासना में विलीन;
हिंसा भयभीत का स्वभाव है, अहिंसा निर्भीक का सहज भाव है।

महावीर ने तीस वर्ष तक उपदेश दिया, हिंसा बन्द हो गई, स्त्रियों और शूद्रों को धार्मिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। आज भी हम महावीर के उन प्रभावक उपदेशों का अनुमान कर सकते हैं और उनसे प्रेरणा लेकर नवीन समाज की रचना कर सकते हैं। दो विश्व युद्धों से पीड़ित मानवता का उद्धार अहिंसक विचारधारा से ही हो सकता है। आज का विज्ञान हिंसक विचार धारा के लोगों के हाथ में पड़कर विनाशकारी सिद्ध हो सकता है। आज के इस अशांत वातावरण में, जब जीवन के मूल्य बदल रहे हैं, सर्वत्र उथल-पुथल है, विचारों में अस्थिरता बढ़ती जा रही है और नैतिकता तो कर्पूर की भांति उड़ी जा रही है—महावीर की आध्यात्मिकता एवं उससे उद्भूत सिद्धान्त मानव को त्राण प्रदान कर सकते हैं। महावीर के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(१) **अहिंसावाद**—जिओ और जीने दो।

(२) **अनेकान्त और स्याद्वाद**—विचार के क्षेत्र में भी अहिंसक बनो।

(३) **कर्मवाद**—कर्मो को सुधारने से ही हम सुखी बन सकते हैं।

(४) **अपरिग्रहवाद**—इसी को सच्चा समाजवाद कह सकते हैं।

(५) **अध्यात्मवाद**—बिना आत्मा के शरीर अमंगल रूप है, इसी प्रकार आध्यात्मिकता के बिना हमारा चिन्तन छिछला एवं जड़ है।

अनेकान्त के द्वारा जटिल विरोधी समस्याएं भी सहज में हल की जा सकती हैं। समस्त वस्तुएं अनन्त धर्मात्मक हैं। अतः एक बार में ही हम उनके अनन्त धर्मों को नहीं जान सकते। एकान्त 'ही' का समर्थक है तो अनेकान्त 'भी' का समर्थक है। अनेकान्त सिद्धान्त सत्यालोचक है और यह हमें दूसरों के साथ मिलजुलकर रहना सिखाता है।

कर्मवाद का सिद्धान्त स्वरूप में अत्यन्त सूक्ष्म और गहन होने पर भी अनुभव गम्य एवं बुद्धिगम्य है। 'प्रत्येक प्राणी जो कर्म करता है, वही उसका भाग्य विधाता है।' यह सिद्धान्त हमें असत् मार्ग से हटाकर सत् मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। संसार में ज्ञानी-मूर्ख, सुखी-दुखी, धनी-निर्धन, दीर्घायु-अल्पायु, आदि विभिन्न प्रकार के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं। इस विभिन्नता में कर्म ही कारण है। जीव का तीव्र, मध्यम और मन्द कषायी होना, भावों द्वारा गृहीत कार्माण-वर्गणाओं का अलग-अलग व्यक्ति द्वारा भिन्न परिणमन होता है। उसी के अनुसार वे सुखी या दुःखी बनते हैं। कर्म जाल से मुक्त होने के लिए हमें दर्शन, ज्ञान और चरित्र्य की तेज तलवार प्रयुक्त करनी होगी। जीव की आत्म मलिनता और निर्मलता के अनुसार कर्मबन्धन की हीनता एवं प्रकर्ष में अन्तर पड़ता है।

महावीर का अपरिग्रहवाद तो समाजवाद का सर्वाधिक सफल आधार बन सकता है। प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करे। अपरिग्रह की आज जन-जीवन में जितनी आवश्यकता है उतनी शायद पहले कभी न रही होगी। आज के जीवन में परिग्रह का ताण्डव नृत्य मानवता की जड़ें हिला रहा है। आज की विषम परिस्थितियों में संघर्ष का अन्त अपरिग्रहवाद के द्वारा किया जा सकता है। गांधीजी ने

अपरिग्रह को आश्रम-व्रतों में स्थान देते हुए कहा—हम किसी भी वस्तु के स्वामी नहीं हैं, स्वामी समाज है। समाज की अनुमति से ही हम वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। हमें केवल ट्रस्टी हैं। वास्तव में चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का माल हो जाता है। इस प्रकार नवीन एवं सुखी समाज की रचना में महावीर का अपरिग्रहवाद ही एकमात्र विषमता को दूर करने का उपाय सिद्ध हो सकता है।

महावीर ने अध्यात्म के द्वारा जगत् और जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया। संसार के दुःखातुर प्राणियों के समक्ष उन्होंने एक सच्चा सीधा मार्ग उपस्थित किया है। जीवन और पुद्गल दोनों ही स्वतन्त्र हैं किन्तु यह जीव अज्ञानवश अनादिकाल से पुद्गल को अपना मानकर अनन्त संसार का पात्र रहा है और आवागमन के चक्र में पड़कर दुःखी हो रहा है। इस प्रकार महावीर ने मानव को आत्मकल्याण की ओर प्रेरित किया। आज भौतिकतावाद का बोलवाला है। अध्यात्मवाद के द्वारा मानव जीवन संतुलित किया जा सकता है।

महावीर के सिद्धान्त आज २५०० वर्ष बाद भी उतने ही प्रभावक एवं वैज्ञानिक हैं और गांधीजी ने इन सिद्धान्तों पर चलकर एक अहिंसक क्रांति की। नवीन समाज रचना में महावीर की विचारधारा मानव के लिए त्राण प्रस्तुत करने वाली है। उत्पात–व्यय–ध्रुव–युक्त जो सत् पदार्थ है, वही यथार्थ एवं वास्तविक स्थिति है। इस प्रकार महावीर का चिंतन प्रगतिशील एवं वैज्ञानिक है और वह आधुनिक चेतना से ओतप्रोत है।

•••

(३)

परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन

• श्री मिश्रीलाल जैन

भारतीय समाज जर्जर हो गया है। स्वतन्त्रता के सूर्योदय के साथ उसने सामाजिक, आर्थिक, नैतिक अभ्युत्थान के स्वर्णिम सपने अपनी आंखों में बसाए थे वे बिखर चुके हैं। प्राचीन संस्कृति सांसें तोड़ रही हैं। समाज पाश्चात्य सभ्यता के अंधे अनुसरण में व्यस्त है। पाश्चात्य सभ्यता भौतिक प्रवृतियों के आधार पर विकसित हुई है और भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आधार पर, इस कारण पाश्चात्य सभ्यता मे उसका समन्वय नही हो पा रहा है। भारतीय संस्कृति संक्रामक काल से गुजर रही है। वैज्ञानिकों के सृजक हाथ अणु-हाईड्रोजन जैसे विनाशक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में व्यस्त है। यद्यपि वैज्ञानिक शोधों ने मानव हृदय में जमी हुई अंध विश्वास की पर्तों को दूर करने का सम्यक् कार्य किया है किन्तु दुर्भाग्य से वैज्ञानिकों की प्रतिभा का उपयोग अनुपातिक रूप से निर्माण कार्यों में कम और युद्धोपयोगी विनाशक सामग्री के निर्माण में

अधिक हो रहा है। कहने को विश्व के राष्ट्र एक-दूसरे के निकट आ गए हैं, किन्तु अनवरत युद्धों और शीत युद्धों ने विश्व में घृणा और द्वेष फैलाने का दुर्भाग्य पूर्ण कार्य किया है।

वस्तुओं के मूल्य, मुद्रा का अत्यधिक प्रसार दिनप्रतिदिन बढ़ रहा है। व्यक्ति का मूल्य प्रतिक्षण घट रहा है। संसार में सबसे कोई मूल्य रहित है तो श्रेष्ठ और मूल्यवान मानव। नैतिकता जिस स्तर पर आ गई है उसे देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि मानवीय मूल्यों के दृष्टिकोण से भारतीय समाज का नैतिक स्तर निम्नतर स्तर पर आ गया है। भ्रष्टाचार, संचय की दूषित प्रवृत्ति, अनैतिकता भारतीय जन-जीवन का अंग बन गई है। सट्टा एवं लाटरियों के प्रचार-प्रसार ने मनुष्य को पुरुषार्थवादी बनने की अपेक्षा निष्क्रिय और भाग्यवादी बनाने में योगदान किया है। वर्तमान समाज परिवर्तन की प्रतीक्षा में है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है।

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की विचारधारा प्रत्येक बदलते मूल्यों और संदर्भों में पूर्ण और उपयोगी है। महावीर ने दीर्घ काल तक सतत साधना द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त की थी। उनके आत्म-ज्ञान में प्रत्येक परिवर्तन परिलक्षित होता था। उनके सिद्धांत शाश्वत हैं। उन्हें देश-काल की सीमा में बद्ध नहीं किया जा सकता। वर्द्धमान की विचारधारा नवीन समाज निर्माण में सर्वाधिक उपयोगी है।

वर्तमान युग व्यक्तिवादी होता जा रहा है। समाज और राष्ट्र के प्रति उसे अपने दायित्वों का बोध नहीं रहा। महावीर की विचारधारा इस दूषित प्रकृति से विमुख होने का आश्वासन प्रदान करती है। तीर्थंकर महावीर ने "जिओ और जीने दो" एवं "परस्परोपग्रहो जीवानाम्"। जैसे मंगल सन्देश दिए इन सन्देशों में स्व-पर के समान अस्तित्व की कामना है। परस्पर उपकार करते हुए जीवन व्यतीत करना ही वास्तविक जीवन है। समाज में सभी के समान अस्तित्व का आश्वासन हो और सभी परस्पर सुख-दुःखों में सहभागीदार हों. इससे अधिक स्वस्थ समाज और समाजवाद की स्थापना की कल्पना भी सम्भव नहीं हो सकती! इन दोनों सूत्रों में यह सन्देश निहित है कि दूसरे के अस्तिव को स्वयं के अस्तित्व के समान स्वीकार करो। परिग्रह से बचो, अत्यधिक संचय की दूषित प्रवृत्ति व्यक्ति की मानसिक चेतना को कुण्ठित कर देती है। सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन में अरुचि उत्पन्न कर देती है। वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही घातक है इसलिए महावीर ने दान का उपदेश दिया। जब तक समाज की मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं आयेगा, समस्त प्रक्रियायें निष्फल ही होंगी।

तीर्थंकर की विचारधारा ने हिंसा को सामाजिक जीवन से निष्कासित कर दिया था, किन्तु भौतिकवादी युग के प्रत्येक चरण के साथ हिंसा की असत प्रवृत्ति समाज में पुनः व्याप्त हो गई। युद्धों की विभीषिका के अतिरिक्त सामान्य जन-जीवन भी असुरक्षित हो गया है। मांसाहारी प्रवृत्ति का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। मांस-मदिरा के निरंतर प्रयोग के कारण मनुष्य स्वस्थ जीवन व्यतीत नहीं कर पा रहा है। मांस का प्रयोग शारीरिक एवं मानसिक विकृतियों का जनक है। तीर्थंकर महावीर की दिव्य वाणी से अमृत छन्दनिःसृत हुए। उन्होंने कहा कि स्वयं की सांसों के प्रति सभी ममता रखते हैं,

अपने जीवन को सभी सुरक्षित रखना चाहते हैं फिर दूसरे की सांसों को, जीवन को समाप्त करने का दुराग्रह क्यों ? समाज में अहिंसा की प्राण प्रतिष्ठा करने हेतु प्रभु ने यहां तक कहा—आचार्य समंतभद्र के शब्दों में—"अहिंसा भूतानां जगति विदितं परमब्रह्म।" अर्थात् अहिंसा में साक्षात् परमेश्वर का निवास है। स्पष्ट है कि तीर्थंकर महावीर ने मानव-हृदय में निवास करने वाली सद्-असद् प्रवृत्तियों के अध्ययन के पश्चात् ही अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था। प्रकृति की समस्त प्रक्रियाओं में अहिंसा व्याप्त है। मां के अधरों पर जन्मी लोरियां, पराए दुःखों में सहायता के उठते हुए हाथ, पराए दुःखों में द्रवित नेत्र इसके स्वयं साक्षी हैं। इसलिए सुखद समाज की रचना जिनवाणी के शरण सेवन में ही निहित है।

प्रत्येक व्यक्ति सिक्के के उस पहलू को देखता है जिसमें उसका स्वार्थ निहित हो, उस पृष्ठ को पढ़ता है जिसमें उसका स्वार्थ अंकित हो, किंतु भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की दृष्टि में वस्तु को समझकर आचरण करने का मंगल उपदेश दिया। संसार में अनेक विषमताओं का कारण दूसरे के दृष्टिकोण को न समझते हुए आचरण करना है। स्याद्वाद जीने की कला है, सत्य तक पहुंचने का अचूक साधन है, दृष्टि निर्मल करने की औषधि है। विश्व में आदर्श समाज की स्थापना करनी है तो स्याद्वाद के सिद्धांतों को जीवन में उतारना होगा, क्योंकि स्याद्वाद पूर्ण दर्शी है और परस्पर विरोधों का परिहार करके समन्वयवादी दृष्टिकोण का सृजन करता है। वह विचारों को शुद्धि प्रदान कर मनुष्य के मस्तिष्क में से हठपूर्ण विचारों को दूर करके शुद्ध एवं सत्य विचारों के लिए प्रत्येक मानव का आह्वान करता है और यथार्थ दृष्टि का निर्माण सुखी और समाजवादी समाज के निर्माण की मौलिक आवश्यकता है।

सुख एक मनःस्थिति है। सुख की कोई परिभाषा निश्चित करना सम्भव नहीं है। किन्तु इतना निर्विवाद रूप से प्रमाणित है कि जो स्वतन्त्र है वह सुखी है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भगवान् महावीर ने सबसे अधिक जोर दिया। उनके सन्देशों का सार है—"पराधीन रहकर जीवन बिताने से मृत्यु श्रेष्ठ है।" इस सिद्धांत का तीर्थंकर वाणी में चरम विकास मिलता है। जन्म-मृत्यु के बंधन भी एक प्रकार की परतंत्रता है। इसलिए विकारी प्रवृत्तियों के विसर्जन हेतु सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को आचरण में उतारने का मंगल उपदेश दिया। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका जितना महत्त्व है, उतना ही सामाजिक दृष्टि से। सामाजिक विषमताओं का मुख्य कारण है—व्यक्तियों की दूषित विचारधारा, अज्ञानता और आचरण में शिथिलाचार। यदि प्रत्येक व्यक्ति दर्शन, ज्ञान, चारित्र की त्रिवेणी का सेवन करे तभी भारत में, विश्व में हम आदर्श समाज की स्थापना को साकार देख सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र जनता की अज्ञानता को दूर करने के लिए सबसे अधिक व्यय शिक्षा पर करता है ताकि जनता में ज्ञान का विकास हो और स्वस्थ दृष्टिकोण बने, सामाजिक रीति-रिवाजों के अनुकूल समाज का आचरण हो और इस प्रकार आचरणों को नियंत्रित करने हेतु अनेक कानून-कायदे प्रत्येक देश में प्रचलित हैं, परन्तु इनका परिपालन एक समस्या बनी हुई है। कारण मनुष्य की स्वार्थी बुद्धि

कहीं न कहीं इन वैधानिक प्रावधानों से बचने के उपाय खोजती रहती है। वैधानिक प्रावधानों से पालन के वास्तविक समाधान की ओर गम्भीरता पूर्वक विचार ही नहीं किया जाता। मनुष्य का हृदय सद्-असद् प्रवृतियों का अद्भुत संगम है। धर्म मानव का असद् प्रवृत्तियों को नष्ट करने वाला सबसे प्रभावक सत्य है। किन्तु विज्ञान की चकाचौंध धर्म को प्रति क्षण मनुष्य के हृदय से दूर करती जा रही है। मनुष्य का जीवन भौतिक सुखों की उपलब्धियां खोजने वाला यंत्रमात्र बन गया है, उसका भावात्मक पहलू प्रतिक्षण टूट रहा है। यदि यही स्थिति रही तो मनुष्य यंत्र मात्र बनकर रह जायेगा। इसलिए सुखी समाज की रचना के लिए उसे तीर्थंकर महावीर के सिद्धांतों के अनुरूप ढालना होगा, सम्यक् दृष्टिकोण, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्रतिष्ठा करनी होगी।

व्यक्तियों की इकाई की संयुक्ति विश्व है। बूंद-बूंद की संयुक्ति सागर है। इसलिए आदर्श समाज की रचना हेतु व्यक्ति का हित देखना होगा, उसका शृंगार करना होगा। मानव-मात्र का मंगलमय भविष्य ही नवीन समाज का स्वरूप हो सकता है। वर्द्धमान महावीर की विचारधारा वास्तव में प्रत्येक युग के लिए मूल्यवान् दस्तावेज है।

भगवान् महावीर के पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के उपदेश ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों वर्तमान युग के लिए भविष्य वाणी हों। तीर्थंकर ने कहा था—जाति और कुल के बन्धन कृत्रिम हैं। जिसका आचरण आदर्श हो, वही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता जन्म की कसौटी पर प्रमाणित होनी चाहिए। सभी प्राणियों में समान आत्मायें हैं। वे मात्र कर्मों के कारण पृथक्-पृथक् गतियों में भ्रमण कर रही हैं। प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है, जिसे क्रमशः भावनाओं और आचरण की विशुद्धि से ही उपलब्ध किया जा सकता है। तीर्थंकर ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसा पुनीत गंतव्य निश्चित किया। यदि प्रत्येक व्यक्ति अथवा समाज का बहुमत इस पुनीत गंतव्य को अपना लक्ष्य बना ले तो आदर्श समाज की स्थापना सहज और सम्भव है। तीर्थंकर महावीर की विचारधारा का मूल उद्देश्य परमात्म तत्व की उपलब्धि का मार्ग है। उनकी विचारधारा निवृत्तिमूलक है, किन्तु आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण मुक्ति के पथिक की मानस-सन्तानें हैं। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण एक सीमा तक साथ-साथ चलते हैं। इसीलिए महावीर ने अपनी विचारधारा को स्याद्वाद में व्यक्त किया और परमात्म तत्व की उपलब्धि ही जिनका एक मात्र साधन है, ऐसे साधु की एवं गृहस्थ जीवन में रहकर भी धर्म-साधना कर सके, ऐसे व्यक्तियों की आचार संहिता पृथक्-पृथक् निर्धारित की। आदर्श समाज के व्यक्ति का आचरण कैसा हो, इसलिए व्यक्ति की दिनचर्या तक नियत करदी। देव-दर्शन, गुरु-उपासना स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये दैनिक षट् कर्म प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं। इन छः कार्यों में अनेक समस्याओं का समाधान निहित है। व्यक्ति के आध्यात्मिक, मानसिक एवं नैतिक चेतना का यह मंगल सूत्र है। इसमें व्यक्ति को आदर्श बनाने की अपार क्षमता है। व्यक्ति के आचरण को आदर्श बनाए बिना आदर्श समाज की कामना मात्र कल्पना है। अतएव कहा जा सकता है कि नवीन समाज-रचना का मंगल भविष्य, तीर्थंकर वाणी में निहित है।

(४)

नवीन समाज-रचना स्याद्वाद पर आधारित हो

• श्री जवाहरलाल मूणोत

भारत के पढ़े-लिखे वर्ग के लिये, यह विषय-वस्तु कुतूहल का विषय प्रतीत होगा। भला महावीर-विचारधारा का आधुनिक युग की समस्याओं से ताल-मेल कैसे हो सकता है? वे पूछेंगे—हम मानते हैं, महापुरुष थे श्री महावीर। अपने युग में उन्होंने समाज की संरचना में बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया होगा। आज भी लाखों-लाखों लोगों के लिए वे भगवान् तीर्थंकर हैं। यह सब तो ठीक है लेकिन यह बतलाइये कि इस युग की जटिल समस्याओं के लिये हम महावीर के पास कैसे जायें? उससे क्या होना जाना है?

इस प्रकार के विचारों को आप अनदेखा नहीं कर सकते। अगर महावीर के महत्त्व को आधुनिकता के संदर्भ में समझना-परखना है तो इन लोगों की शंकाओं का जवाब देना ही होगा। केवल श्रद्धालु जनता के मन पर पड़ी महावीर की छाप से ही तो महावीर की इस युग की असंदिग्ध उपादेयता को जांचा नहीं जा सकता।

मैंने जिस शंका की ओर संकेत किया है, उसका पहला और प्रमुख नतीजा यह निकलता है कि हमारे पढ़े-लिखे प्रबुद्ध वर्ग के लिए, महावीर केवल एक ऐतिहासिक महत्त्व के व्यक्ति बन गये हैं। पर हमें स्मरण रखना चाहिये कि महावीर इतिहास के एक अध्याय नहीं, मानव-जीवन को ज्ञान द्वारा परिष्कृत करने के शाश्वत हथियार हैं। महावीर का इस युग के लिए सबसे अधिक समीचीन और उपयुक्त संदर्भ है—अनेकांत अथवा स्याद्वाद। आप कहेंगे, इस युग की (और वस्तुतः प्रत्येक युग की) समस्या मूलरूप से हिंसा की ही है। पिछले पांच हजार वरसों के आदमी के इतिहास का सदा हरा अध्याय केवल हिंसा का है। पांच हजार वरसों में आदमी ने कई हजार लड़ाइयां लड़ी हैं और जैसे-जैसे संहारक शक्तियां प्रगति करती गई हैं, संहार का ताण्डव विराट् होता जा रहा है। अगर महावीर वाणी की आज पुनर्स्थापना करनी है तो उनके अहिंसा के उपदेश का ही व्यापक प्रचार करना होगा।

पर इस सम्बन्ध में मेरी विनती है कि संदर्भहीन अहिंसा की बात कम गले उतरेगी। इसके लिए हमें सोचना होगा कि आखिर हिंसा कहां जन्म लेती है? समाज में, व्यक्ति के मन में, उसकी शिक्षा-दीक्षा में? और अगर हिंसा का जन्म इस जटिल सामाजिक परिवेश में पैदा होता है, पनपता है, तो उसे कैसे समाप्त करेंगे? इसके लिए मानसिक वैचारिक हिंसा की प्रवृत्ति को रोकना होगा।

मैं आप लोगो का ध्यान, इसी संदर्भ में, एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर खींच रहा हूं। संसार की शिक्षा, संस्कृति और वैज्ञानिक विकास की सार्वदेशिक संस्था यूनेस्को

स्वाभाविक ही, जगत् की विगड़ती मानसिक दुरवस्था से चिंतित है। १९७१ के वर्ष को इस संस्था ने **'रंग-वाद और रंग-भेद से संघर्ष'** का वर्ष मानकर सारी दुनिया में मनाया। दुनिया भर के विद्वान्, विचारक और तत्त्व-वेत्ता इस गहन सवाल पर विचार करने लगे कि कम से कम भविष्य में संसार में रंग-भेद से उत्पन्न तनाव व हिंसा को तो समाप्त किया जा सके। लेकिन यूनेस्को के विचारकों को क्या नजर आया ? सुनिये—

जगत् के महान् तत्ववेत्ता और चिंतक प्रोफेसर लेवी स्ट्रास ने अत्यन्त विषादपूर्ण स्वरों में कहाः—"हमारे पास यह कहने के लिये कोई आधार नहीं है कि संसार में रंग-भेद कम हो रहा है।" यह सच है कि सारी दुनिया में असहिष्णुता बरावर बढ़ रही है। आज की दुनिया में भिन्न-भिन्न राज्यों और विचारधाराओं में आपस में समझौता हो भी जाय तो भी इस जगत् के लोग आपस में प्रेम और सद्भाव से नहीं रह सकेंगे। आज तो इन्सानियत अपने आप से नफरत करने लग गई है। रंग-वाद असल में तो, आदमी की आदमी के प्रति असहिष्णुता और तअस्सुव का ही दूसरा नाम है। समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और नृतत्त्वज्ञों की वरसों की खोज-बीन और अनुसन्धान का निचोड़ यही है कि वास्तविक समस्या है—आदमी के इस संसार के अन्य जीवों के साथ के सम्बन्ध की। पश्चिमी संस्कृति ने, आदमी को स्वयं अपने आत्माभिमान की इज्जत तो दी परन्तु उसे यही समझाया गया कि वह इस सृष्टि का मालिक है, निर्माण का कर्ता है। इसका नतीजा यह हुआ कि उसने अन्य जीवों का आदर करना छोड़ दिया। मानसिक हिंसा का यही असली स्वरूप है।

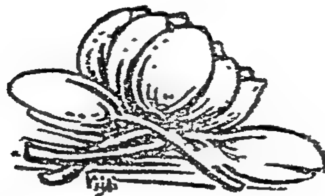
प्रोफेसर स्ट्रास से पूछा गया—वैज्ञानिक विचारधारा का प्रसार और प्रचार, क्या इस रंग-भेद के विष को समाप्त नहीं कर डालेगा ? प्रोफेसर साहव ने कहा—नहीं। इस बारे में तो हम सव नृतत्त्वज्ञ और समाजशास्त्री एकमत हैं। केवल ज्ञान का प्रसार, विज्ञान का प्रचार और आवागमन तथा संचार साधनों का विश्वव्यापी फैलाव, मनुष्य को मानवता से और अपने आप से सहज और उपयुक्त रूप से जीना नहीं सिखला सकेगा। ऐसा मनुष्य—वैज्ञानिक, विश्व का भविष्य का इन्सान, तव विविधता के प्रति आदर ही खो बैठेगा और समानता के नाम पर संहारक-एकता की प्रतिष्ठा करने लगेगा। आदमी का संकट, केवल अज्ञान और पूर्वाग्रहों को दूर करने का ही संकट नहीं है। यही होता तो सम्पूर्ण सुशिक्षित समाज, हिंसा-द्वेष से परे, एक आदर्श समाज हो सकता था, परन्तु ऐसा तो है नहीं।

तव ? हम इतिहास के चक्र को तो वदल नहीं सकते। पुरानी समाज व्यवस्था में जा नहीं सकते। पीछे लौटना मुमकिन है। आगे वढ़ना सचमुच में प्रगति नहीं, विनाश का नवीन रास्ता नापना ही है।

यूनेस्को के विद्वान् विचारक चुप हो गये। वे केवल आदमी के भविष्य के इतिहास के परिवर्तन पर भरोसा कर सकते हैं। काश, उन्हें महावीर याद आता। (वैसे—प्रोफेसर साहव ने कहा भी—मेरी इच्छा है, हर जगह का आदमी इस बारे में—बुद्ध तथा पूर्वी देशों के दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करे। सव प्रकार के जीवों के प्रति सम्पूर्ण आदर और श्रद्धा ही आदमी के भविष्य को उज्ज्वल रूप दे सकती है।)

इस प्रकार आपने देखा कि आदमी की समता, समानता, विश्वबंधुत्व और स्वतंत्रता की सारी कल्पनाएं और विचारधाराएं पंगु हैं जब तक कि इनके साथ केवल मानव नहीं, समस्त जीव-जंगम के प्रति आदर का भाव पैदा नहीं होता। और यहीं पर महावीर के विचारों का जबरदस्त महत्त्व है। केवल अनेकान्त ही, हमारी असहिष्णुता की, पूर्वाग्रहों की और मनमानी की विचारधाराओं को नया रूप दे सकता है। स्याद्वाद का व्यापक प्रसार और बालकों को शैशवावस्था से ही स्याद्वाद का शिक्षण हमें केवल अपने प्रति ही नहीं, समस्त मानव जाति एवं अन्य जीवों के प्रति आदर और अनुराग उत्पन्न करवाने में सफल हो सकता है।

इसीलिये, महावीर का महत्त्व, आज के युग में, केवल ऐतिहासिक नहीं, अत्यन्त सामयिक है। विज्ञान के आरम्भिक विकास के दिनों में, मानवीय अहंकार ने, अध्यात्मक दर्शनों को उपेक्षा से देखना सिखला दिया था। लेकिन जब यह देखा गया कि विज्ञान का चरम उत्कर्ष, नाजी जर्मनी के राक्षस को जन्म दे सकता है, भौतिक समृद्धि के स्वर्ग अमरीका का उपसंहार वियतनाम की बर्बरता से शुरू हो जाता है और सारे विकसित देशों का विज्ञान, जगत् के प्रदूषण और वातावरण को विषाक्त होने को रोकने में असमर्थ हो रहा है, तो हमें आधुनिक इन्सान को बचाने, उसका त्राण करने के लिए, महावीर के स्याद्वाद को ही व्यवहार में लाना होगा।



तृतीय खण्ड

आर्थिक संदर्भ

१७

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था और महावीर

• श्री शान्तिचन्द्र मेहता

समग्र जीवन के प्रवाह में जो संस्कार ढलते हैं उनसे सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण होता है और दूरदर्शी ज्ञान-दृष्टि से दर्शन जन्म लेता है। दार्शनिक धरातल जिस संस्कृति को उपलब्ध होता है, वह संस्कृति दीर्घजीवी बनती है। पीढ़ियां जन्म लेती हैं और काल के गाल में समाती रहती हैं, किन्तु श्रेष्ठ दर्शन एवं उत्कृष्ट संस्कृति का जीवन-काल कई बार युगों तक चलता रहता है। यह उस महापुरुष की युग प्रवर्तक शक्ति का द्योतक होता है, जो अपने मौलिक चिन्तन के आधार पर नवीन दर्शन को जन्म देता है और प्रवाहित होने वाली संस्कृति को नया मोड़ प्रदान करता है। महावीर ऐसे ही युग-प्रवर्तक महापुरुष थे।

भारत की दार्शनिक त्रिधारा :

भारत भूमि की ज्ञान एवं कर्म गरिमा इतनी समुन्नत रही है कि यहां दार्शनिकों चिन्तकों एवं साधकों का प्रभाव सदैव सर्वोपरि रहा। मौलिक विचारों की ज्ञान-गंगा यहीं से उद्गमित होकर समस्त संसार में बहती रही। प्राचीन भारत की जिस दार्शनिक त्रिधारा का उल्लेख किया जाता है, उनमें वेदान्त, जैन और बौद्ध दर्शन की धाराओं का समावेश माना जाता है। इस त्रिधारा में मानव-जीवन के आधारभूत दर्शन के तीन बिन्दु तीन रूपों में दिखाई देते हैं।

यों तो जैन धर्म अनादिकालीन माना गया है तथा इस काल खंड में इसके आदि-प्रवर्तक ऋषभदेव माने गये हैं, किन्तु वर्तमान जैन दर्शन के प्रवर्तक महावीर ही हैं जो तीर्थंकरों की शृंखला में चौवीसवें तीर्थंकर हैं। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उन्होंने जो दर्शन दिया, उसी के प्राचीन एवं अर्वाचीन महत्त्व का उनकी २५वीं जन्म शती पर मूल्यांकन करने का हम यहां छोटा सा प्रयास कर रहे हैं। यह मूल्यांकन आधुनिक समाज-वादी अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से होगा।

त्रिधारा के वे तीन बिन्दु :

प्राचीन दार्शनिक विचार धारा में मनुष्य से ऊपर ईश्वर, प्रकृति या अन्य शक्ति का उल्लेख किया जाता है। मनुष्य के कर्तृत्व को सर्वोच्चता धीरे-धीरे बाद में मिलने लगी है वरना वेदान्त दर्शन के अनुसार सृष्टि का कर्ता भी ईश्वर को माना गया है। ईश्वर का

रूप भी यह माना गया जो सदा ईश्वर था और ईश्वर रहेगा। इस मान्यता के विरुद्ध नर में नारायण का विचार बाद में चला। जैन दर्शन में 'आत्मा ही परमात्मा बनती है'—यह कर्म सिद्धान्त प्रारंभ से ही था। बौद्ध दर्शन में आत्मा को 'क्षणे-क्षणे परिवर्तन शील' कह-कर देह के समान नश्वर बता दिया गया।

त्रिधारा के वे तीन बिन्दु इस प्रकार नित्यवाद (वेदान्त), अनित्यवाद (बौद्ध) तथा नित्यानित्यवाद अथवा स्याद्वाद (जैन) के रूप में उभरे। जैनों का यह स्याद्वाद अपेक्षावाद भी कहलाता है। महावीर का विचार था कि किसी भी तत्त्व पर एकांगी दृष्टि नहीं होनी चाहिये बल्कि उसके स्वरूप को सभी अपेक्षाओं से जानना चाहिये। वस्तु-स्वरूप का सर्वांगीण दर्शन ही सत्य से साक्षात्कार करा सकता है। इस त्रिधारा में विचार समन्वय का मार्ग केवल महावीर ने ही दिखाया अथवा इसे यों कहें कि समाज के प्रत्येक सदस्य की वैचारिकता को जगाने का उस युग में यह पहला प्रयास था।

महावीर के स्याद्वाद का समाजवादी दर्शन की दृष्टि से यह महत्त्व है कि जहां विचार-क्षेत्र में भी व्यक्ति तंत्र चल रहा था, वहां महावीर ने उसे सबसे पहले सामाजिक स्वरूप प्रदान किया कि प्रत्येक के विचार में कुछ न कुछ सत्यांश होता है, इसलिये प्रत्येक के विचार का समादर करो और बिखरे हुए सत्यांशों को जोड़कर पूर्ण सत्य की उपलब्धि की ओर यत्नशील रहो। व्यक्ति से समाज की ओर देखने का यह स्पष्ट संकेत था।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की शुरूआत :

व्यक्ति-व्यक्ति के सह-जीवन से ही समाज की रचना होती है और यह सह-जीवन का क्रम जितना घनिष्ठ होता गया है, सामाजिकता का क्षेत्र अभिवृद्ध होता रहा है। सही है कि समाज की आधारशिला व्यक्ति पर टिकी है तथा व्यक्तियों के समूह अथवा व्यक्ति-समूहों के समूह का नाम ही तो मानव समाज है। ये व्यक्ति-समूह क्षेत्र, वर्म, संस्कृति अथवा अन्य आधारों पर निर्मित होते रहे हैं, किन्तु 'अर्थ' इन समूहों के संघटन और विघटन का प्रमुख आधार रहा है। यह तथ्य समाज-विकास के वैज्ञानिक इतिहास से स्पष्ट उजागर होता है।

इस वैज्ञानिक इतिहास का मानना है कि आदिम कालीन मानव स्वतंत्र था, समाज-बद्ध नहीं था क्योंकि तब न तो अर्जन की आवश्यकता थी और न सम्पत्ति के स्वामित्व का अभ्युदय ही हुआ था। उसे प्रकृति से जीवन-निर्वाह के साधन मिल जाते थे और वह निश्चिन्त था। किन्तु जब प्रकृति की कृपा कम होने लगी, तब मनुष्य को अपने श्रम की आवश्यकता हुई। पशु-पालन से कृषि का आविष्कार इसी क्रम में हुआ। कृषि ने मनुष्य के एकाकीपन को तोड़ दिया। उसे समूह (पहले परिवार, फिर जाति आदि) बनाकर एक स्थान पर बसने की आवश्यकता हो गई। जिस खेत को वह जोतता था, वह उसकी अपनी सम्पत्ति माना जाने लगा। इस तरह समाज में अर्थ ने केन्द्र स्थान बनाना शुरू किया। समाज नियंत्रण की डोर उस वर्ग के हाथ में रहने लगी जो अर्थ-व्यवस्था को अपने हाथ में रख सकता था। सामन्तवाद से पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद तक का विकास इसी स्थिति को स्पष्ट करता है।

किन्तु तब तक भी व्यक्तिवाद ही प्रमुख रूप से प्रचलित था अर्थात् व्यक्ति की ही सत्ता समाज-व्यवस्था की धुरी थी। व्यक्तियों का सह-जीवन जरूर था किन्तु सत्ता में तब भी व्यक्ति ही रहा। पहले सामन्त समाज को चलाता था—वह एक स्थान पर बैठता था, किन्तु सर्वत्र घूमने वाले पूंजीपति ने अपनी पूंजी के बल पर उससे ऊंची और विस्तृत सत्ता, हथियाली। इसी पूंजीवाद ने जब राष्ट्रीय सीमाएं लांघकर आगे बढ़ना शुरू किया तो अन्य देशों में वह अर्थ के बल पर राज्य सत्ता हथियाने लगा। इसने ही साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को जन्म दिया। व्यक्तिवादी व्यवस्था का यह चरम रूप था जो अधिनायकवाद तक फैला।

सामाजिक शक्ति का अभ्युदय :

व्यक्ति से ही समाज बनता है किन्तु संगठित समाज स्वयं एक नई शक्ति के रूप में उभरता है. इनकी अनुभूति व्यक्तिवादी व्यवस्था के चरम बिन्दु तक पहुँचने पर होने लगी। जब तक राजतंत्र, समूह तंत्र और पूंजी तंत्र चला—व्यक्ति के व्यक्तित्व में सामाजिक-निखार नहीं आया किन्तु इन तंत्रों की बुराइयों ने विषम रूप ग्रहण करके व्यक्ति-जाग्रति का श्रीगणेश किया। परस्पर सहकार की दृष्टि से सामाजिकता का विकास तो पहले हो चुका था किन्तु सामाजिक शक्ति का अभ्युदय १७वीं शताब्दी (ई०प०) से ही होने लगा। इंगलैंड में राजा की जगह संसद् प्रभावशाली होने लगी तो ऐसे ही जनवादी परिवर्तन अन्य देशों में भी प्रारम्भ हुए। एक-जन का मूल्य कम होने लगा, सर्वजन का महत्त्व बढ़ने लगा।

सामाजिक शक्ति के अभ्युदय ने ही आधुनिक समाजवादी दर्शन एवं अर्थ व्यवस्था को जन्म दिया। राज्य सत्ता के आधार पर ही पूंजीवाद भिन्न-भिन्न देशों में साम्राज्यवाद के रूप में पनपा था, अतः इस नवोदित सामाजिक शक्ति ने राज्य-सत्ता प्राप्त करने को अपना पहला लक्ष्य बनाया कि जिसके बल पर राजनीतिक से लेकर आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों का सूत्रपात किया जा सके। इस विचार ने जनतंत्र को जन्म दिया। जनता का, जनता के लिये, जनता द्वारा शासन हो—यह जनतंत्र का आधार बिन्दु बनाया गया।

राजनैतिक रूप से जनतंत्र के प्रयोग के साथ-साथ आर्थिक दृष्टि से समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का विचार पैदा हुआ और अलग-अलग रूपों में फैला। यूरोपीय क्षेत्रों में विभिन्न विचारकों ने समाजवाद के विचार को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया तथा उसे अलग-अलग नाम दिये। किन्तु जर्मनी के दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने समाजवादी दर्शन को ऐसा मूर्त रूप दिया जो आर्थिक के साथ एक सम्पूर्ण जीवन पद्धति का चित्र उपस्थित करता था और जब इस दर्शन को रूस, चीन आदि राष्ट्रों ने व्यवहार में लिया तो देश, काल के भेद को छोड़कर यह व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की दृष्टि से समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ।

कार्ल मार्क्स का समाजवादी दर्शन :

मनुष्य की प्रगति का मूल बताते हुए मार्क्स के समाजवादी दर्शन का सार यह है

कि व्यक्ति का जीवन श्रम पर आधारित हो तथा सम्पत्ति का स्वामित्व समाज में निहित किया जाय। आर्थिक विषमता को मिटाने की दृष्टि से उनका मानना था कि सबसे बड़ी बाधक स्थिति व्यक्तिगत स्वामित्व की है। व्यक्तिगत स्वामित्व ही स्वार्थ का जनक होता है तथा स्वार्थ मनुष्य को 'भूखा भेड़िया' बनाये रखता है। कम्यून्स की पद्धति पर मार्क्स का समाजवादी दर्शन आधारित था अतः उसका नाम' 'कम्यूनिज्म' पड़ा, जिसका हिन्दी रूपान्तर साम्यवाद है।

मार्क्स ने अपने समाजवादी आर्थिक दर्शन के तीन सोपान बताये हैं। पहले सोपान का नाम उन्होंने समाजवादी सोपान दिया है जिस स्तर पर समाज में सभी अपनी शक्ति के अनुसार परिश्रम करे तथा परिश्रम के अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त करें। जब तक समाज में सबको रोटी नहीं मिले तब तक किसी को भी मालपुआ खाने का अधिकार नहीं हो। इस स्तर पर से जब समाज ऊपर उठे तो वह साम्यवादी सोपान पर प्रवेश करेगा। इस स्तर पर सब शक्तिभर परिश्रम करेंगे, किन्तु लेंगे अपनी आवश्यकता के अनुसार। जैसे कि एक श्रमिक को अन्न अधिक चाहिये तो एक प्राध्यापक को दूध अधिक चाहिये। तीसरे सोपान की कल्पना एक आदर्श सोपान के रूप में की गई है जिसे अराजकतावाद का नाम दिया गया है। अराजकतावाद की अवस्था में शक्ति भर श्रम किन्तु समान वितरण की प्रणाली प्रारम्भ हो जायगी तथा राज्य सूखे पत्ते की तरह खिर जायगा और मानव समाज स्वानुशासित हो जायगा।

इस समाजवादी दर्शन का मूलाधार मानव समता है। चाहे राजनीति का क्षेत्र हो अथवा अर्थ का या अन्य क्षेत्र हो—प्रत्येक मनुष्य के सामने विकास के समान अवसर एवं साधन उपलब्ध हो—इसे समाजवाद का मूल सिद्धान्त माना गया है। सफल समाजवादी व्यवस्था वही होगी जिसमें समग्र समानता के आधार पर प्रत्येक मनुष्य को उठने और बढ़ने की सुविधा प्राप्त हो। मानव-मात्र की समानता इस दर्शन का व्यावहारिक लक्ष्य है।

व्यक्ति से समाज और समाज में व्यक्ति :

एक व्यक्ति एक संस्था की स्थापना करता है—उसके संविधान एवं नियमोपनियमों की रचना करता है, फिर यदि वही व्यक्ति उसके संविधान को तोड़े तो क्या संस्था उसकी कृति होते हुए भी उसके अनुशासन-भंग को सहन करेगी ? राष्ट्रपति भी राष्ट्र के संविधान का उल्लंघन करने पर दंडित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति द्वारा संगठित होने पर भी समाज की एक ऐसी विशिष्ट शक्ति बनती है जो व्यक्ति को नियंत्रित और अनुशासित रखती है। विज्ञान की आशातीत प्रगति एवं मानव सम्पर्क में समीपता आ जाने के कारण सामाजिक शक्ति अधिकाधिक प्रबल बनी है। जन-चेतना की जागृति भी इसका एक प्रमुख कारण है। व्यक्ति से समाज की ओर जाते हुए भी समाज में व्यक्ति की स्थिति को सन्तुलित बनाये रखना ही समाजवादी अर्थ व्यवस्था का मुख्य ध्येय होता है। व्यक्ति के स्वार्थ पर अंकुश लगाये बिना समाज का हित साधन संभव नहीं होता। 'बहुजनहिताय' से ही 'सर्वजनहिताय' तक पहुँचा जा सकेगा।

व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की आधुनिक समाजवादी अर्थ व्यवस्था के संदर्भ में मीमांसा करें तो स्पष्ट होगा कि व्यक्ति के स्वार्थ से समाज के हित को ऊपर स्थान दिया गया है। व्यक्ति समाज के लिये त्याग करे यह समाजवादी की प्रेरणा है और व्यक्ति जितना अधिक त्याग करता है या कि करने के लिये प्रेरित किया जाता है, उतनी ही समाजवादी अर्थ व्यवस्था अधिकाधिक सुदृढ़ बनती है। व्यक्ति और समाज की गति समाजवादी व्यवस्था में परस्पर सहयोगात्मक होनी चाहिये न कि संघर्ष मूलक। जहां व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष उठता है, वहां सामाजिक हितों को प्रमुखता दी जायगी। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति समाज का पूरक होगा, न कि अधिनायक। सबकी इच्छा का शासन एक की इच्छा का शासन नहीं होता।

जो मार्क्स ने बाद में कहा, उसे महावीर ने बहुत पहले देखा :

आधुनिक समाजवादी अर्थ व्यवस्था के मूल में झांकें तो ये तत्व दृष्टिगत होंगे कि मनुष्य सामाजिक दृष्टि से छोटा बड़ा नहीं, समान होता है तथा उसकी प्रगति में अर्थ का नहीं बल्कि गुण का वर्चस्व होना चाहिये। आर्थिक क्षेत्र में विषमता की जड़ कटनी चाहिये तथा अवसरों, साधनों आदि में समानता आनी चाहिये। सबसे मुख्य बात यह है कि अर्थ मनुष्य के सिर पर नहीं पैरों में होना चाहिये।

मार्क्स के समाजवादी दर्शन की व्याख्या का अन्तःमर्म यही था कि जैसे एक परिवार में अर्जन करने वाला युवक अपने से भी अधिक सुविधाएं, अर्जन न करने वाले अपने वृद्ध माता-पिता और अपने बच्चों को देना चाहता है और फिर भी उसमें खुशी मानता है, उसी तरह का व्यवहार सारे समाज में प्रसारित हो जाना चाहिये। स्नेह के ऐसे ही सूत्र में सारे समाज को कोई बांध सकता है तो उनका विचार था कि वह समानता का तत्त्व ही हो सकता है।

महावीर और मार्क्स को जब दर्शन की स्थिति से देखते हैं तो समझ में आता है कि जो मार्क्स ने बहुत बाद में कहा, उसे महावीर ने उनसे भी दो हजार वर्ष पहले देखा। यह उनकी विलक्षण दूरदृष्टि का परिचायक है। एक प्रकार से मार्क्स ने तो उस समय की परिस्थितियों का विश्लेषण करके व्यक्तिवादी व्यवस्था से समाज को मुक्त कराने के लिये अपने दर्शन को प्रस्तुत किया तो महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व कठिन व्यक्तिवादी व्यवस्था में अपने प्रत्येक सिद्धांत में समाजवादी व्यवस्था के विचारों का बीजांकुरण किया।

जब विभिन्न दार्शनिकों के विचारों में स्पष्ट व्यक्तिवाद की ही छाप थी तब महावीर ने अपने मौलिक सिद्धांतों में व्यक्ति को इस रूप में प्रभावित किया कि वह विचारों के क्षेत्र में दूसरों के विचारों का समादर करे और अपने कार्य क्षेत्र को इतना सीमित रखे कि वह कहीं भी अन्य को क्लेश न पहुंचावे। परिग्रह की मर्यादा का भी सबसे पहले उन्होंने ही उपदेश दिया जिसका प्रयोजन व्यक्ति-संयम से लेकर समाज में सम-वितरण था। सामाजिक

शक्ति के महत्त्व को समझने एवं समाजवादी अर्थ व्यवस्था का विचारों में सूत्रपात करने वाले महावीर संभवतः पहले ऐतिहासिक पुरुष थे।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में महावीर के अपरिग्रहवाद एवं अन्य सिद्धांतों पर यहां थोड़ी सी विवेचना करें।

अपरिग्रहवाद की मूल प्रेरणा :

महावीर का अपरिग्रहवाद क्या है—इसे समझने के लिये पहले परिग्रह को समझना होगा क्योंकि जो परिग्रह की विरोधिनी विचारधारा है, वही अपरिग्रहवाद है।

मोटे तौर पर परिग्रह का अर्थ है—धन-धान्य, चल-अचल सम्पत्ति आदि। जो स्वयं मुद्रा हो अथवा मुद्रा में परिवर्तनीय हो वह सब परिग्रह कहलाता है किन्तु महावीर एक मौलिक एवं सूक्ष्म चिन्तक थे, उन्होंने बाहर के परिग्रह से आगे बढ़कर उसके भीतरी प्रभाव को आंका तथा सबसे पहले भीतर को जगाने का प्रयास किया। आन्तरिकता को मोड़ दे देने पर बाहर को मोड़ना कठिन नहीं रहता। अतः परिग्रह की उन्होंने निम्न व्याख्या की :—

"मुच्छा परिग्गहो—"

अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है। परिग्रह की सूक्ष्म परिभाषा में उन्होंने सम्पत्ति को नहीं सम्पत्ति के प्रति मनुष्य के ममत्व को परिग्रह का मूल बताया। यदि मनुष्य के मन में ममत्व गाढा है तो हकीकत में सम्पत्ति पास में नहीं होने पर भी उसकी सम्पत्ति पाने की लालसा अति तीव्र होगी और उसके प्रयास अधिक आक्रामक होंगे। आधुनिक भाषा में वह पूंजीपति नहीं होते हुए भी पक्का पूंजीवादी होगा। दूसरी ओर एक मनुष्य के पास अपार सम्पत्ति है लेकिन उसका ममत्व उसमें नहीं है तो उसका जीवन कीचड़ में रहे हुए कमल के समान हो सकता है, जिससे वह उदारमना होगा तथा महात्मा गांधी की भाषा में समाज की सम्पत्ति का वह ट्रस्टी मात्र होगा।

सम्पत्ति के स्वामित्व का प्रश्न इस दृष्टि से मूर्च्छा या ममता की भावना पर ही टिका हुआ है। व्यक्ति स्वामित्व के समर्थक वे ही लोग होंगे जिनकी ममता प्रगाढ होती है। वे समझते हैं कि जो सम्पत्ति उन्हें प्राप्त है अथवा जिसे वे प्राप्त करेंगे उस पर उन्हीं का स्वामित्व होना चाहिये ताकि उसका वे तथा उनकी सन्तान ही उपयोग कर सके। उत्तराधिकार का सिद्धांत भी व्यक्ति स्वामित्व की ही उपज है। व्यक्ति स्वामित्व से ही तृष्णा का घेरा बढ़ता रहता है और मानव-मन का इस कुचक्र से बाहर निकलना दुष्कर हो जाता है।

महावीर ने एक ओर व्यक्ति से कहा कि वह इस सम्पत्ति के प्रति अपनी ममता को मिटाये और त्याग की वृत्ति अपनाये तथा दूसरी ओर परिग्रह परिमाण व्रत के जरिये उपभोग्य पदार्थों के सारे समाज में सम-वितरण या न्यायपूर्ण वितरण का अप्रत्यक्ष प्रयास किया। उनके अपरिग्रहवाद की मूल प्रेरणा व्यक्तिगत से भी अधिक सामाजिक है।

महावीर की साधु संस्था और शुद्ध साम्यवाद :

महावीर ने अपरिग्रहवाद का मूर्त रूप अपनी साधु संस्था को देकर समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का एक आदर्श प्रतीक अवश्य खड़ा किया था। इस साधु संस्था की व्यवस्था को मार्क्स के साम्यवाद की दृष्टि से देखें तो वह शुद्ध साम्यवादी प्रतीत होगी। जैसे मार्क्स ने अपने समाजवादी दर्शन के तीसरे सोपान की कल्पना की है कि सभी शक्ति भर परिश्रम करेंगे और सम-वितरण प्राप्त करेंगे तो वही स्थिति महावीर की साधु संस्था की है। एक प्रकार से यह स्थिति उससे भी ऊंची है क्योंकि साधु संस्था में परिग्रह के साथ उसके प्रति ममत्व का भी अभाव मिलेगा—वाह्य के साथ आन्तरिक स्थिति भी सुदृढ़ मिलेगी।

महावीर द्वारा 'आचारांग सूत्र' में निर्देशित आचार का पालन करने वाला साधु अपना सम्पूर्ण सांसारिक वैभव तथा उसके प्रति अपने मोह को भी त्याग कर दीक्षित होता है। इसका अर्थ है कि वह व्यक्तिवाद की सारी परिधियों को लांघकर सारे समाज का हो जाता है। यह दीक्षा व्यष्टि का समष्टि में विलयन रूप होती है। लोकहित हेतु आत्म-निर्माण में प्रत्येक साधु या साध्वी अपने सम्पूर्ण मनोयोग से कार्यरत हो—यह आवश्यक है किन्तु भोजन या वस्त्रादि का प्रत्येक साधु या साध्वी समान मर्यादित मात्रा में ही उपभोग कर सकता है और वह मर्यादा भी इतनी अल्प होती है कि उससे शरीर पोषण नहीं, शरीर-रक्षण मात्र हो सके। इससे अधिक शुद्ध साम्यवाद और क्या होगा कि व्यक्ति वाह्य परिस्थितियों के दवाव से नहीं झुकता, वलिक स्वेच्छा से साम्यवाद को अपनाता है और अपने प्रयास से साम्यवाद को मन में जगाकर लोगों को कर्तव्यों में ढालता है। महावीर की साधु संस्था में ऐसे ही व्यक्तित्वों का निर्माण होता है।

श्रावक परिग्रह की मर्यादा लें :

महावीर के दर्शन-रथ के दो प्रमुख चक्र है—साधु और श्रावक। स्त्री पुरुष समानता के हामी महावीर ने साधु के साथ साध्वी और श्रावक के साथ श्राविका को समान स्थान दिया तथा इन चारों को तीर्थ मान कर चतुर्विध संघ-व्यवस्था की स्थापना की। यह संघ व्यवस्था स्वयं समाजवादी व्यवस्था की प्रतीक है।

साधु जव सम्पूर्ण रूप से परिग्रह की भावना और वस्तु विषय-दोनों प्रकार से त्याग करता है तो उससे नीचे के साधक-श्रावक के लिये यथाशक्ति ममत्व को कम करते हुए वाह्य परिग्रह याने उपभोग्य पदार्थों की मर्यादा लेने का विधान किया गया है। इसके लिये श्रावक का पांचवां और सातवां व्रत विशेष रूप से सम्वन्धित है। पांचवें अणुव्रत में क्षेत्र, वस्तु, (हिरण्य-स्वर्ण), धन-धान्य, द्विपद, चतुर्पद, धातु आदि के अपने पास रखने के परिणाम को निर्धारित करना होता हे तो सातवें अणुव्रत में एक श्रावक को उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थों की भी मर्यादा लेनी पड़ती है। इन पदार्थों की यहां सूची इसलिये दी जा रही है कि जिससे यह समझ में आये कि समाज में सारे पदार्थ सवको सुलभ हो तथा सम वितरण की दृष्टि से पदार्थों के संचय की वृत्ति मिटे और उनका सर्वत्र विकेन्द्रीकरण हो—इस दृष्टि से महावीर ने श्रावक धर्म के स्तर पर भी कितना गहरा प्रयास किया था?

उपभोग (एक वार उपभोग) तथा परिभोग (वार-वार उपभोग) में आने वाले पदार्थों की वह सूची निम्न है जिनके विषय में श्रावक-श्राविकाओं को मर्यादा लेने का निर्देश दिया गया है:—

१. आचमन २. दन्त मंजन ३. फल ४. अभंगन ५. उबटन-सामग्री ६. स्नान सामग्री ७. वस्त्र ८. विलेपन-सामग्री ९. फूल १०. आभूषण ११. धूप अगर, लोवान वगैरह १२. पेय १३. खाद्य पदार्थ १४. उवाले हुए पदार्थ १५. सूप १६. विगय घी दूध दही आदि १७. शाक-सब्जी १८. मधुर पदार्थ १९. भोज्य पदार्थ २०. विविध जल २१. मुखवास-सुपारी इलायची आदि २२. वाहन २३. उप-वाहन २४. शयन सामग्री २५. सचित्त पदार्थ २६. द्रव्यपदार्थ।

इस परिग्रह परिमाण व्रत में ही श्रावक को ऐसे व्यापारों का निषेध भी किया है जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हैं। ये वाणिज्य कर्म १५ प्रकार के वताये गये हैं तथा जिनमें जंगल, खान, दांत, केश, जहर, वेश्यावृत्ति आदि के धन्धों का मुख्य उल्लेख है।

सम्पूर्ण परिग्रह को न त्याग कर गृहस्थ में रहते हुए भी व्यक्ति की सामाजिक निष्ठा कैसे जागृत रहे इसका श्रावकों के व्रत निर्धारण में पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

अपरिग्रहवाद का सामाजिक महत्त्व :

व्यक्ति परिग्रह का सम्पूर्ण या आंशिक परित्याग करे इसमें व्यक्ति के चरित्र-शोधन का लक्ष्य तो प्रमुख है ही, किन्तु इसका सीधा प्रभाव सामाजिक परिस्थितियों पर ही पड़ता है। जिस रूप में वैज्ञानिक दृष्टि से भी समाज-विकास का इतिहास चला है, उसमें अर्थ का स्थान चक्र वाहक के रूप में है तो आध्यात्मिक दृष्टि से भी उत्थान या पतन की स्थिति तभी वनती है जिस परिमाण में परिग्रह या उसके ममत्व पर नियन्त्रण अथवा अनियन्त्रण हो। सिद्धांत के मूल विन्दु में इस प्रकार विशेष अन्तर नहीं है। सम्पत्ति का सामाजीकरण इस दृष्टि से प्रभावशाली निदान सिद्ध हो सकता है।

सम्पत्ति का स्वामित्व जव तक व्यक्तिगत होता है, व्यक्ति की तृष्णा और लालसा पर अंकुश लगाना कठिन होता है। सम्पत्ति के अपने पास संचय के साथ उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है और वैसी तृष्णा कभी सीमाओं में नहीं रहती। असीमित तृष्णा ही अनीति और अत्याचार की जननी वनती है। एक सीमा तक व्यक्ति नीति के अनुसार अर्जन करना चाहता है किन्तु संचय उसकी नीति को खंडित कर देता है तो अति संचय उसे अपने साथियों के प्रति समाज में अति आचार करने को प्रलोभित करता है। अनीति और अत्याचार जितना वढ़ता है तव सवल का न्याय चलता है और निर्वल शोषण, दमन और उत्पीड़न की चक्की में पिसने लगता है। यह चक्की तव सामाजिक क्षेत्र में इस तरह चलने लगती है कि समाज की अधिकाधिक सम्पत्ति कम से कम हाथों में सिमटती चली जाती है और समाज के वहुसंख्यक सदस्य निर्धन और निर्वल बनते जाते हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में अपरिग्रहवाद का सामाजिक महत्त्व प्रकट होता है। मार्क्स ने इस

स्थिति का निदान द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष के रूप में खोजा तो महावीर ने इस निदान को अपरिग्रहवाद के रूप में प्रकाशित किया जो मानव की अन्तरात्मा को परिमार्जित कर स्थायित्व का स्वरूप दिखाता है। अपरिग्रहवाद सामाजिक स्वामित्व का ही दूसरा नाम माना जाना चाहिये।

व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति :

प्राचीन और अर्वाचीन—इन दोनों निदानों को दो अलग-अलग दृष्टियों से देखकर उनका एक समन्वित रूप ढाला जा सकता है। एक व्यक्ति से समाज की ओर बढ़ने का निर्देश है तो दूसरा समाज से व्यक्ति की ओर मुड़ने का प्रयत्न। व्यक्ति और समाज की शक्तियों का विभेद तथा सहयोग भी इसी दृष्टि से आंका जा सकता है।

व्यक्ति संयमित, नियमित, अनुशासित एवं आत्म नियन्त्रित होगा तभी समाज सुगठित एव संघटित वना रह सकेगा क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र ही सामाजिक चरित्र का निर्माण करता है। किन्तु जव तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व है तव तक व्यक्ति की उद्दाम लालसाओं पर वह आत्म-नियन्त्रण कर सके– इसकी सम्भावना भी वहुत धुंधली होती है। यही कारण हे कि इस विन्दु पर सामाजिक शक्ति को प्रखर वनाने की आवश्यकता महसूस होती है और यही रास्ता समाज से व्यक्ति की ओर आने का होता है।

व्यक्ति से समाज की ओर जाने की प्राचीन विचारधारा रही है तो अर्वाचीन विचार-धारा समाज से व्यक्ति की ओर आने पर भी समान रूप से वल देती है। व्यक्ति के जीवन को मोड़ देने के लिए कई वार सामाजिक वातावरण भी प्रभाविक सिद्ध होता है, वल्कि आधुनिक समाजवादी अर्थ व्यवस्था में तो समाज-सत्ता के आधार पर ऐसे धरातल का निर्माण कर दिया जाता है जिस पर व्यक्ति को व्यक्तिशः चलना सरल हो जाता है। एक व्यक्ति कांटों-पत्थरों वाली वीहड़ भूमि पर चले और दूसरे को चलने के लिये डामर की सड़क मिल जाय तो अवश्य ही दूसरा शक्ति और समय की वचत कर सकेगा। व्यक्ति की प्रगति के लिये डामर की सड़क वनाने का काम समाज का होना चाहिये तथा यही समाज-वादी अर्थ व्यवस्था की वुनियाद है। समाजवादी अर्थ - व्यवस्था सामान्य रूप से सारे समाज में अर्थ-चिन्ता से मुक्त वातावरण, सभ्यता एवं संस्कृति के जरिये सव व्यक्तियों के लिये समान रूप से समुन्नत धरातल वनाने का दायित्व लेती है। और यही समूह का एक व्यक्ति के प्रति कर्तव्य होना चाहिये।

अपने-अपने ढंग से ये दोनों प्राचीन और अर्वाचीन विधियां समाजोपयोगी हैं तथा समन्वित होकर चले तो एक दूसरी की पूरक वन जाती हैं। इस रूप में ये दोनों विधियां मनुष्य की संचय वृत्ति पर व्यक्तिगत स्वेच्छा एवं सामाजिक मत के अनुसार नियंत्रण कर सकती हैं। संचय वृत्ति पर प्रतिवन्ध ही अपरिग्रहवाद के आचरण गत पक्ष को सवल वना सकेगा।

सम्पत्ति-संचय : एक विषम समस्या :

मानव समाज में आज सभी प्रकार की विपमताओं के वीज वोने वाला व्यक्तिगत

स्वामित्व तथा सम्पत्ति संचय है। महावीर ने इस सम्पत्ति-संचय को तृष्णा एवं वासना का विकार बताया तथा इसको मर्यादा एवं त्याग की सीमाओं में बांधने का निर्देश दिया। वहां मार्क्स ने सामाजिक दृष्टि से सम्पत्ति संचय के मूल एवं इस पर लगाये जाने वाले प्रतिवन्ध पर विशद् विवेचन किया है। सम्पत्ति संचय को व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिये एक विषम समस्या के रूप में देखा गया है।

समाज के पूंजीवादी आर्थिक ढांचे में सम्पत्ति का संचय अल्पतम लोगों के पास होता जाता है, इसका कारण मार्क्स ने श्रम-चोरी बताया है। समाजवादी अर्थ व्यवस्था का बुनियादी सिद्धान्त है कि सभी श्रम करें और विना श्रम के कोई भी रोटी नहीं पाये, जबकि पूंजीवादी समाज में श्रम चोरी का ऐसा सिलसिला चलता है कि चोर तो गुलछर्रे उड़ाते हैं और श्रमिक भूखों मरते हैं।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो जितना श्रम करता है उतने श्रम का मूल्य उसे ही मिलना चाहिये, क्योंकि मूल्य को पैदा करने वाला केवल मानव-श्रम ही होता है। दृश्य जगत् में एक भी उपयोगी पदार्थ ऐसा नहीं दिखाई देगा, जिस का मूल्य तो हो किन्तु जिसमें मानव श्रम न लगा हो। एक वृक्ष खड़ा है—उसकी लकड़ी उपयोगी हो सकती है किन्तु वह उपयोग में तभी आ सकेगी जब उसके लिये मानव-श्रम लगे—लकड़ी कटे, उसकी मेज कुर्सी या दूसरी उपयोगी चीज तैयार हो। एक श्रमिक ने यदि अपने श्रम से एक रुपये के मूल्य का उत्पादन किया है तो यह एक रुपया उसे ही मिलना चाहिये। यह मिलता है तब समाज में न्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था होगी और वैसी स्थिति में एक या कुछ हाथों में सम्पत्ति संचय का अवसर ही नहीं आयगा।

सम्पत्ति संचय का मूल श्रम चोरी है जिसके लिये अनीति और अत्याचार पैदा होते हैं। श्रम-चोरी कैसे होती है? एक पूंजीपति ने एक कपड़े की मिल खोली जिसमें पांच हजार श्रमिक काम करते है। एक श्रमिक दिन भर में एक करघे पर बैठकर कल्पना करें कि दस रुपये के मूल्य का उत्पादन करता है, किन्तु मालिक उस मजदूर को दिन के पांच रुपये पगार ही देता है तो यह एक मजदूर से पांच रुपये की श्रम चोरी हुई। पांच हजार मजदूरों से एक दिन में पच्चीस हजार की श्रम-चोरी हुई। इस श्रम चोरी से लगातार एक मिल से एक वर्ष में और कई मिलों से कई वर्ष में सम्पत्ति का अपार संचय होता रहता है। जो चोरी करता है, वह फूलता है और जिसकी चोरी होती है, वह पतला होता जाता है। आज की भाषा में इसी श्रम-चोरी को शोषण कहते हैं और इसी आधार पर मार्क्स ने समाज को शोषक और शोषित के दो वर्गों में बांटा है तथा शोषण समाप्ति का यही उपाय बताया है कि वर्ग संघर्ष को भड़काया जाय। वर्ग संघर्ष के अनुसार शोषित वर्ग शोषक वर्ग को समाप्त कर दे। किन्तु सम्पत्ति संचय की इस विषम समस्या का समाधान महावीर ने आत्म-जागृति की भूमिका पर निकाला।

साध्य एक किन्तु साधनों का भेद :

महावीर और मार्क्स के बीच दो हजार वर्ष से अधिक समय निकला किन्तु दोनों ने मानव समाज के लिये जो सामाजिक लक्ष्य निर्धारित किये, उनमें आश्चर्यजनक समानता

पाई जाती है। मानव-समता दोनों का साध्य रही किन्तु उसकी प्राप्ति के साधनों का दोनों के बीच भेद अवश्य दिखाई देता है। यह भेद भी इस स्थिति में दिखाई देता है कि वर्तमान जटिल आर्थिक परिस्थितियों में व्यक्ति अपनी स्वेच्छा के आधार पर चरित्रशील बन कर समाजनिष्ठ बन सकेगा या नहीं? मार्क्स ने हिंसा को साधन जरूर बताया है, किन्तु यदि महावीर की त्यागमय भावना को व्यक्ति अपना ले और समाज हित को अपने स्वार्थ से बड़ा मानले तो हिंसा की कोई जरूरत ही नहीं रह जायगी।

किसी भी सिद्धान्त पर जब निष्ठापूर्वक आचरण नहीं किया जाय तो उसकी क्रियान्विति सफल कैसे बन सकेगी? महावीर ने समता के साध्य को प्राप्त करने के लिये अहिंसा का साधन बताया है। अहिंसा सिर्फ नकारात्मक शब्द ही नहीं है कि जहां हिंसा नहीं तो अहिंसा का अस्तित्व हो जाता है, किन्तु अहिंसा के विधि रूप का महत्व और भी अधिक है। मन, वाणी और कार्य से किसी भी प्रकार के एक भी प्राण को क्लेश नहीं पहुंचाना अहिंसा का लक्षण माना गया है। प्राण दस बताये गये हैं—पांच इन्द्रियों के, मन, वचन काया, श्वासोश्वास और आयुष्य के कुल दस प्राण। किसी के आयुष्य को समाप्त करना ही हिंसा नहीं है। बल्कि बाकी के नौ प्राणों में से किसी भी प्राण पर आघात करना भी हिंसा ही है। तो इस सारी हिंसा से बचकर दसों प्राणों की रक्षा का भाव रखना अहिंसा का सम्पूर्ण रूप माना गया है।

अहिंसा का सर्वाधिक महत्व ही सामाजिक होता है। व्यवहार की जो परिपाटी समाज के क्षेत्र में एक व्यक्ति अपने अन्य साथी के साथ बनाता है, वह समाज को और समाज की देन होती है। इस व्यवहार की श्रेष्ठता का मापदंड अहिंसा से बढ़कर दूसरा नहीं हो सकता। अहिंसा की मूल भावना यह होती है कि अपने स्वार्थों, अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाओ जहां तक वे किसी भी अन्य प्राणी के हितों को चोट नहीं पहुंचाती हों। अहिंसा व्यक्ति संयम भी है तो सामाजिक संयम भी।

विचारगत संघर्षों के लिये स्याद्वाद और आचारगत संघर्षों के लिये यदि अहिंसा का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाय तो अपरिग्रहवाद याने कि आर्थिक समानता के माध्यम से मानव-समता का मार्ग भी निश्चय रूप से निष्कंटक बन जायगा। साध्य के प्रति निष्ठा साधनों के भेद को समाप्त कर देगी।

स्वानुशासन या बलात् शासन :

सारा समाज समतामय बने—यह जैन दर्शन का मूल सिद्धांत है। 'सव्वे जीवामित्ती मे भूएसु' की भावना समता की ही परिचायिका है। महावीर का ये जो स्वर इतना पहले गूंजा, उस स्वर का आधुनिक समाजवादी दर्शन पर प्रभाव नहीं पड़ा हो—ऐसा नहीं माना जा सकता है। महावीर और मार्क्स की प्रेरणा के सूत्र कहीं न कहीं अवश्य मिले होंगे। किन्तु ऐसी समाजवादी अर्थ व्यवस्था को स्थापित करने का कौनसा मार्ग अपनाया जाय, स्वानुशासन का या बलात् शासन का?

यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी होता है और उसे पशुओं की तरह हांकने की पद्धति कभी भी समीचीन नहीं बताई गई। बलात् शासन का अर्थ है

पशुओं की तरह हांकना और स्वानुशासन को वल देने का तात्पर्य होगा मनुष्य को देवत्व के स्वभाव में ढालना। इस कारण वलात् शासन को जो भी स्थायी रूप से समर्थन देता है उसमें मानवोचित भावनाओं का अभाव ही माना जायगा। अपनी अन्तरेच्छा से मनुष्य जो कुछ स्वीकार करता है, उसे वह निष्ठापूर्वक कार्य रूप में भी लेना चाहेगा। स्वानुशासन से वढ़कर कोई भी श्रेष्ठतर नियंत्रण नहीं हो सकता है। स्थायीत्व की स्थिति भी इसी नियंत्रण में होती है।

आधुनिक समाजवादी दर्शन में भी स्वानुशासन को ही सर्वोच्च महत्व दिया गया है। मार्क्स-दर्शन में तीसरा सोपान अराजकतावाद तभी आरम्भ होगा जब व्यक्ति-व्यक्ति का स्वानुशासन परिपुष्ट वन जायगा और उस समय राज्य की सत्ता की भी आवश्यकता नहीं रह जायगी। जैसे वालक को अनुशासित वनाने के लिये कभी कभी भय भी दिखाया जाता है, उसी प्रकार अन्तरिम काल में वर्ग संघर्ष और हिंसा को समर्थन देने की वात आधुनिक विचारधारा में कही गई है। किन्तु अहिंसा की भावना का प्रवल प्रचार किया जाय तो अन्तरिम काल में भी अहिंसा ही के जरिये परिवर्तन का चक्र घुमाया जा सकता है। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था के सन्दर्भ में महावीर से मार्क्स तक जो दार्शनिक धारा वही है, उसमें अधिक विभेद नहीं है, वल्कि इस धारा को प्रवाहित करने का अधिक श्रेय महावीर को ही जाता है। यह श्रेय अधिक महत्वपूर्ण इसलिये भी है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व जिस समय समाजवादी शक्ति का कल्पना में भी आविर्भाव नहीं हुआ था, उस समय में महावीर ने समाजवादी अर्थव्यवस्था के प्रेरक सूत्रों को अपने सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में प्रकाशित किया।

महावीर के अनेकान्त (अपेक्षावाद), अहिंसा और अपरिग्रहवाद के सिद्धांत स्वयं समाजवादी अर्थव्यवस्था की दार्शनिक रूप-रेखा रूप है। इन सिद्धान्तों के प्रकाश में आधुनिक समाजवादी दर्शन को भी नया रूप देकर उसे सर्वप्रिय वनाया जा सकता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था को महावीर की देन :

एक दृष्टि से तो महावीर को समाजवादी अर्थव्यवस्था का आद्य प्रवर्तक ही कहा जा सकता है, फिर भी उस समय अव्यक्त रूप से ही सही महावीर के विभिन्न सिद्धान्तों ने सामाजिक शक्ति के अभ्युदय को प्रेरणा दी। आज भी इन सभी सिद्धान्तों में वह क्षमता विद्यमान है जो समाजवादी अर्थव्यवस्था को समन्वित रूप प्रदान करके सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को शान्ति पूर्ण वना सकती है। इन सिद्धांतों के माध्यम से समाजवादी अर्थ व्यवस्था को महावीर की देन निम्न रूप से आंकी जा सकती है:—

(१) **परिग्रह और उसके ममत्व का भी त्याग**—यह अनुभव समाजवादी अर्थव्यवस्था के लिये सर्वाधिक प्रेरणाप्रद है। व्यक्तिगत स्वामित्व की यदि स्वेच्छापूर्वक समाप्ति की जा सके तो वह एक शांत क्रांति होगी। यदि यही समाप्ति वलात् की जाती है तो उसकी प्रतिक्रियाओं से मुक्ति पाने में भी लम्बा समय लग जायगा। ममत्व घटाने या मिटाने का भावनामूलक उपाय तो समाजवादी अर्थ व्यवस्था का मूलाधार माना जाना चाहिये।

ममत्व के सम्वन्ध में भी एक विन्दु समझ लेना चाहिये। 'मम' याने मेरा और 'त्व' याने पना अर्थात् यह भाव मोह दशा वताता है और मोह व्यक्तिगत स्वामित्व में ही

होता है। जब सामाजिक अर्थ व्यवस्था होती है तो उसमें व्यक्ति का कर्तव्य सजग बनता है किन्तु समाजगत सम्पत्ति में व्यक्ति का मोह नहीं होता। एक राजकीय छात्रावास में कई छात्र रहते हैं। छात्रावास की सारी सम्पत्ति छात्रों के अधीन होती है किन्तु छात्रों का ममत्व उसमें नहीं होने से उसके उपयोग में समानता का व्यवहार ही होता है। सामाजिक स्वामित्व मूलत: समता प्रेरक होता है। अत: महावीर का परिग्रह के साथ परिग्रह के प्रति ममत्व को भी घटाने का उपदेश ही सामाजिक स्वामित्व का पथ निर्देश करता है।

(२) **सम्पत्ति के संचय का विरोध**—समाज की प्रगति-विगति में अर्थ की स्थिति ने सदा सर्वाधिक प्रभाव डाला है, इस कारण अर्थ-संग्रह के आधिक्य को रोकना समाजवादी अर्थ व्यवस्था का पहला कर्तव्य होता है। महावीर ने सम्पत्ति के संचय का विरोध करके आर्थिक केन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। संचय को आसक्ति माना गया तथा आसक्ति आत्म पतन की सूचिका बताई गई। साधु तो सम्पत्ति का सर्वांशत: त्याग करता है तथा फिर सम्पत्ति को किसी भी रूप में छूता तक नहीं, लेकिन ग्रहस्थ श्रावक को भी सम्पत्ति के सम्बन्ध में अधिकाधिक मर्यादित जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया गया।

(३) **मर्यादा से पदार्थों के सम-वितरण की भावना**—श्रावक जो कि सम्पत्ति के सहयोग से ही अपना गृहस्थ जीवन चलाता है, सम्पत्ति के संचय में न पडे यह तो परिग्रह परिमाण व्रत का एक उद्देश्य है किन्तु दूसरा उद्देश्य यह भी है कि सारे समाज में पदार्थों का सम-वितरण हो सके क्योंकि मर्यादा की परिपाटी से कम हाथों में सीमित पदार्थों का केन्द्रीकरण नहीं हो सकेगा। एक अपरिमित मात्रा में सुख-सुविधा के पदार्थों का संग्रह करले और दूसरा उनके अभाव में पीड़ित होता रहे—यह महावीर को मान्य नहीं था। वितरण के केन्द्रीकरण की कल्पना उस समय ही महावीर ने करली थी जो आज समाजवादी अर्थव्यवस्था की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ पद्धति समझी जाती है।

(४) **स्वैच्छिक अनुशासन को बल**—वही सामाजिक अर्थव्यवस्था स्थिरता धारण कर सकेगी जो स्वैच्छिक अनुशासन के बल पर जीवित रहेगी। कितनी ही अच्छी बात भी अगर बलात् लादी जाती है तब भी हृदय उसे सहज में ग्रहण नहीं करता है। अत: आधुनिक समाजवादी दर्शन मे यदि इस भावना को अपनालिया जाय तो समाजवादी अर्थ व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ता एवं अधिक स्थिरता प्रदान की जा सकेगी।

(५) **विचार और आचार में समन्वय**—किसी भी समाजवादी अर्थव्यवस्था के लिये यह आवश्यक परिस्थिति मानी जायगी कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार और आचार को दूसरे के साथ समन्वित करने की चेष्टा करे। यह समन्वय जितना गहरा होगा उतना ही व्यवस्था का संचालन सहज होगा। अपेक्षावाद और अहिंसा के सिद्धांत ऐसे समन्वय के प्रतीक हैं।

महावीर के निदान आज भी उतने ही प्रभावशाली :

अन्त में यह कहा जा सकता है कि समाजवादी अर्थ व्यवस्था के सुचारू निर्धारण की दृष्टि से ढाई हजार वर्ष पूर्व उपदेशित किये गये महावीर के निदानात्मक सिद्धांत आज भी उतने ही प्रभावशाली हैं और समाजवादी अर्थव्यवस्था के नये रूप को ढालने में पूर्णत: सक्षम हैं।

••••

१८

आर्थिक, मानसिक और आध्यात्मिक गरीबी कैसे हटे ?

• श्री रणजीतसिंह कूमट

गरीबी : एक अभिशाप :

गरीबी चाहे किसी भी क्षेत्र में हो, एक अभिशाप है। जहां यह हिंसा, द्वेष एवं मालिन्य की जननी है वहां एक विस्फोटक तत्व भी है। इसमें सामन्यतः हेय और उपादेय उचित और अनुचित की सीमा का भान नहीं रहता, इसको हटाना नितान्त आवश्यक है। इस दिशा में चिंतन का एक दृष्टिकोण प्रस्तुत है।

गरीबी : आर्थिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक :

गरीवी तीन प्रकार की हो सकती है : आर्थिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक। आर्थिक गरीवी एक ऐसी वास्तविकता है जहां शरीर की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं होते। भूख और बीमारी से लड़ते-लड़ते ही जीवन समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत मानसिक गरीवी का तात्पर्य व्यक्ति की उस मनःस्थिति से है जहां पर्याप्त साधन होते हुए भी जीवन में सन्तोष नहीं। तृष्णा के माया-जाल में वह दिन रात फंसा हुआ अधिक से अधिक धन एकत्र करने में लगा रहता है। वह अपनी तुलना उनसे करता है जिनके पास उससे भी अधिक धन है और वह उसके समकक्ष आने की योजना बनाता रहता है। आध्यात्मिक गरीवी का तात्पर्य उस खाई से है जो आदर्श और आचरण के बीच में पायी जाती है। इसका तात्पर्य उन परिपाटियों से भी है जिन्होंने धर्म और नैतिकता को घेर रखा है और सत्य को आवृत कर दिया है।

जब तक मानसिक गरीबी नहीं मिटती, आर्थिक और आध्यात्मिक गरीबी नहीं मिट सकती। धन-संग्रह ही समाज में फैली गरीबी का प्रमुख कारण है। शोषण, अनियमितता व राज्य-विरोधी कार्यो से धन संग्रह की गति बढ़ती है और इस क्रम में औचित्य का स्थान गौण हो जाता है। समाज व राष्ट्र को क्या हानि होगी, इसका कोई ख्याल नहीं रहता। तृष्णा के चक्कर में फंसे व्यक्ति में आध्यात्मिक विकास उसी प्रकार असम्भव है जैसे मगरमच्छ पर बैठे व्यक्ति का समुद्र पार करना। इसके विपरीत आर्थिक गरीवी से ग्रसित व्यक्तियों से आध्यात्म व नैतिकता के विकास की अपेक्षा करना अनुचित है। अर्थ की विपुलता व कमी दोनों ही आध्यात्म-विकास में बाधक हैं।

रोग का सही निदान :

भगवान् महावीर ने रोग का सही निदान किया और अपरिग्रह के सिद्धांत पर उतना ही जोर दिया जितना अहिंसा पर। अहिंसा व आध्यात्म-विकास के लिए मन में आसक्ति एक बहुत बड़ी बाधा है। स्वेच्छा से धन संग्रह पर सीमा लगाने व इसका सदुपयोग जन-कल्याण में करने पर भगवान् महावीर ने अत्यधिक बल दिया। गांधी ने इसी को ट्रस्टीशिप के सिद्धांत में परिवर्तित किया। परन्तु समय के बहाव में अहिंसा पर बारीकी से अमल हुआ और अपरिग्रह पर जोर कम हो गया। अहिंसा की बारीकी चींटी, मच्छर व छोटे-छोटे कीटाणुओं की दया तक पहुँच गई परन्तु मोटाई में मनुष्य के प्रति दया भी लुप्तप्रायः हो गई। यदि अपरिग्रह के सिद्धांत पर पूरा जोर दिया होता तो आज समाज में इतनी विषमता और वैमनस्य को स्थान नहीं मिलता।

स्वेच्छा से सिद्धांतों पर अमल बहुत कम दिखाई देता है। आर्थिक गरीबी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के दोषों का परिणाम है। इन दोषों को दूर करने के लिए ही सरकार ने सीलिंग कानून पास किए हैं। काले धन की धर पकड़ चल रही है और समाजवाद का नारा जोर पकड़ रहा है। इन कानूनों से सच्चा समाजवाद आ जायगा, अभी यह एक प्रश्न ही है और उत्तर समय के आंचल में निहित है।

समय की चेतावनी को पहचाने :

कानून से समाजवाद आये या न आये लेकिन अधिकाधिक धन संचय करने वालों के लिए कानून अवश्य अमल में आयेंगे। सीलिंग से अधिक सम्पत्ति राज्य सरकार के पास जायेगी और जहां काला धन पकड़ा जाएगा वहां सजा भी भुगतनी पडेगी। इस दृष्टिकोण से यह प्रश्न दिमाग में बार बार आता है कि समय की इस चेतावनी से सचेत हो क्या धनी वर्ग समाजवाद के कानून के अमल में आने से पूर्व ही अपरिग्रह अथवा ट्रस्टीशिप के सिद्धांतों को स्वयं अमल में लायेंगे? अभी तक तो समाज में ऐसा कोई आन्दोलन नजर नहीं आता जिससे यह स्पष्ट हो कि इस वर्ग ने समय की चेतावनी को पहिचान लिया है अथवा अपरिग्रह के सिद्धांत को अपनाकर भगवान् महावीर के सिद्धांतों पर चलने का नियम लिया है। यदि समता का दृष्टिकोण अपना लिया जाय और कानूनी सीमा के बजाय स्वेच्छा से धन-संग्रह पर सीमा लगायें तो अतिरिक्त धन स्वतः ही समाज के उन वर्गों के लिए काम में लिया जा सकता है जिनको अत्यधिक जरूरत है। इससे एक ओर आर्थिक गरीबी दूर होगी और दूसरी ओर आध्यात्मिक गरीबी भी।

भारत में अहिंसा की नींव बड़ी मजबूत बतायी जाती है। शायद यही कारण है कि यहां इतनी गरीबी होते हुए भी जनता में समाजवाद के लिए अभी कोई आन्दोलन प्रस्फुटित नहीं हुआ है। शायद यही कारण है कि जहां समाजवाद सबसे जरूरी है वहीं पर समाजवाद की मांग सबसे कमजोर है। परन्तु मजबूत दीवारें भी गिरती देखी गई हैं। किस दिन यह गढ़ ढह जाय कोई नहीं कह सकता।

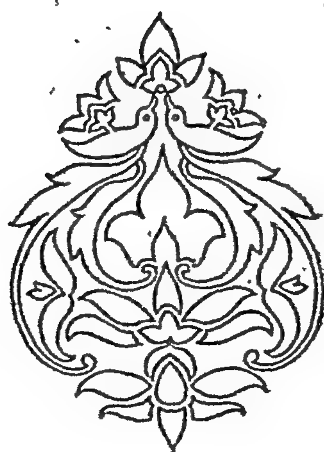
दान परिपाटी नहीं दायित्व बोध :

समाज में धर्म व परोपकार के दृष्टिकोण से कुछ व्यक्ति दान आदि में पैसा लगाते

हैं। परन्तु धर्म का इतना संकीर्ण दृष्टिकोण है कि दान का अधिकतर अंश मन्दिर और भवन-निर्माण में काम आता है। इसके बाद सामूहिक भोज एवं भोजन-व्यवस्था में समाज का पैसा काम आता है। परन्तु सांस्कृतिक-शैक्षणिक प्रवृत्तियों अथवा समाज के जरूरतमन्द भाइयों के लिए सामाजिक व्यय का शतांश भी काम नहीं आता। यह गहन विचार का समय है कि क्या समाज अपने धन का व्यय इसी प्रकार करता रहेगा अथवा अपने जरूरतमन्द भाइयों को भी सम्भालेगा ? दान केवल धार्मिक परिपाटी ही रहेगी या यह एक सामाजिक उत्तरदायित्व भी है ? इन प्रश्नों के उत्तर पर ही समाज का भविष्य निर्भर करता है। यदि हमने परिपाटी न बदली तो न समाज की आर्थिक गरीबी दूर होगी न आध्यात्मिक ही। इसके विपरीत विघटन एवं वैमनष्य की भावना फैलने की सम्भावना है।

सत्य कटु भी होता है और अजीब भी। सत्य को पहिचानना ही सच्ची आध्यात्मिकता है और इसका अनुसरण ही आध्यात्मिक गरीबी हटाने का साधन है। आध्यात्मिक और मानसिक गरीबी हटने पर आर्थिक गरीबी भी हट जायेगी। भगवान् महावीर का परिग्रह-परिमाण व्रत इस संदर्भ में विशेष प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है। आवश्यकता है उसे सम्पूर्ण सामाजिक चेतना के साथ अपनाने की।

———



१६

महावीर–वाणी में श्रम-भाव की प्रतिष्ठा

• श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस'

'भगवान' और 'श्रमण' शब्दों की अर्थवत्ता :

प्राचीन जैन आगमों व ग्रन्थों में तीर्थकरों के नाम के पूर्व 'भगवान्' शब्द का विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है। जैसे—भगवान् ऋषभदेव, भगवान् महावीर आदि। विशेषण विशेष्य की किसी विशिष्टता, विलक्षणता को प्रकट करता है। भगवान् शब्द उनकी 'अनन्तज्ञान शक्ति' का संकेत देता है। तेईसवें तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर के लिए दो भिन्न विशेषणों का प्रयोग जैन आगमों में देखा जाता है जो भगवान् शब्द से भी पूर्व किया गया है। पार्श्वनाथ के लिए 'पुरिसादाणी' और महावीर के लिए 'समण'। ये दोनों शब्द कुछ विशिष्ट हैं जिनका प्रयोग अन्य तीर्थकरों के लिए कहीं नहीं किया गया है। पार्श्वनाथ ने अपने युग में जो श्रेष्ठता और विशिष्ट जन श्रद्धा प्राप्त की है उनका विशेषण इसी ओर इंगित कर रहा है। इतिहासकारों ने यह मान लिया है कि पार्श्वनाथ का प्रभाव और सम्मान न केवल उनके अनुयायी वर्ग में ही था, अपितु अन्य सम्प्रदायों और तापसों तक में भी उनका विशेष प्रभाव व सम्मान था।

भगवान् महावीर के लिए 'श्रमण' शब्द का प्रयोग 'समणे भगवन् महावीरे' भी अवश्य कुछ विशिष्ट अर्थ-ध्वनि लिए हुए हैं। 'श्रमण' तो सभी तीर्थकर थे, फिर महावीर के लिए ही इस शब्द का विशेष प्रयोग क्यों किया गया? यह प्रश्न अपने आप में एक महत्व रखता है। 'श्रमण' विशेषण स्पष्टतः यह संकेत देता है कि महावीर के जीवन में, महावीर के दर्शन में और महावीर की वाणी में श्रम की कुछ विशेष प्रतिष्ठा रही है। उन्होंने श्रम को, तप को, स्वावलंबन को विशेष महत्व दिया है, पुरुषार्थ, प्रयत्न और उद्यम की विशेष प्रतिष्ठा की है, उसी भाव को व्यक्त करने के लिए उनके लिए 'भगवान्' शब्द से पूर्व 'श्रमण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

श्रम और तप को एकरूपता :

वैसे तो 'श्रमण' शब्द ही 'श्रम' का प्रतीक है जिसकी आध्यात्मिक व्याख्या 'तप' के रूप में की गई है। सात्विक–श्रम को–तपश्चर्या कहा गया है। जैनाचार्यों ने कहा है—जो श्रम करता है, अर्थात् तपश्चर्या करता है[1], अथवा श्रम–तप के द्वारा शरीर को तपाता है[2]

१. श्राम्यन्तीतिश्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः : दशवैकालिक वृत्ति १।३

२. श्राम्यति तपसा खिद्यत इति—सूत्र कृतांग वृत्ति १।१६

कसता है, वह श्रमण है। इससे तप और श्रम की एक रूपता भी स्पष्ट होती है। जैन दृष्टि में 'तप' को सिर्फ उपवास आदि तक ही सीमित नहीं रखा गया है, किंतु जीवन की समस्त सात्विक प्रवृत्तियों को 'तप' की परिभाषा में समाहित कर दिया गया है। शुद्ध वृत्ति से भिक्षाचर्या करना भी तप है, आसन-प्राणायाम, ध्यान आदि करना भी तप है, सेवा—सुश्रुषा—परिचर्या करना भी तप है, और प्रतिसंलीनता, अपनी वृत्तियों का संकोच, आराम सुख-सुविधा की आदत का परित्याग करना—यह भी तप के अन्तर्गत है। इस प्रकार 'तप' एक विराट जीवन दर्शन के रूप में जीवन में सर्वत्र व्याप्त तत्व के रूप में दिखाया गया है। अतः इस 'तप' को श्रम कहा गया है।

महावीर की श्रमशीलता :

भगवान् महावीर 'महाश्रमण' कहलाते थे। एक राजकुमार का सुकुमार देह पाकर भी उन्होंने रोमांचित कर देने वाला जो कठोर श्रम-तप किया, जिस अपूर्व स्वावलंबन का आदर्श अपनाया और जिस अप्रतिहत पुरुषार्थवाद का संदेश दिया वह उस युग में श्रम-भाव की प्रतिष्ठा का जीवन्त उदाहरण था। 'श्रमण' बनकर उन्होंने कभी किसी से सेवा नहीं ली और तो क्या कष्टों के भयंकर झंझावतों में जब स्वयं देवराज इन्द्र ने आकर उनसे प्रार्थना की—मैं आपकी सेवा में रहूंगा, तो महान् स्वावलंबी महावीर ने शांत भाव के साथ कह दिया "मैं अपने श्रम-बल और पुरुषार्थ से ही सिद्धि प्राप्त करूंगा, किसी अन्य के सहयोग की आकांक्षा करके नहीं।"

तपस्वी जीवन में तो श्रमण महावीर सदा एकाकी रहे, अतः किसी से सेवा लेने का प्रश्न ही क्या था, किन्तु तीर्थंकर बनने के बाद भी उन्होंने दूसरों से विशेष सेवा ली हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि तीर्थंकर जीवन में भगवान् महावीर ने जो भी आदेश—उपदेश दिये वे सब स्वयं श्रम करने के ही समर्थन में थे।

स्वयंसेवी ही सच्चा श्रमण :

महावीर के चौदह हजार शिष्यों में इन्द्रभूति गौतम सबसे ज्येष्ठ थे, प्रथम गणधर थे और भगवान् के अनन्य उपासक थे। किन्तु उनके जीवन में भी हम श्रम की प्रतिष्ठा पूर्णतः साकार हुई देखते हैं। वे अपने हाथ से अपने सब काम करते हैं। भिक्षा लेने के लिए जाते हैं तो स्वयं ही अपने पात्र आदि अपने हाथ में लेते हैं, अपना भार स्वयं उठाते हैं और स्वयं ही अपना सब काम करते हैं। हजारों शिष्यों का एक मात्र आचार्य भी जब अपना काम अपने हाथ से करता है तो वहां श्रमशीलता की भावना क्यों नहीं साकार होगी?

श्रमण के लिए भी भगवान् महावीर ने स्वयं अपना काम अपने हाथों करने का आदेश दिया है। जो दूसरों से सेवा नहीं लेता वही सच्चा श्रमण है[1], यह महावीर वाणी का उद्घोष है। पुरुषार्थ-हीन आलसी व्यक्तियों को महावीर ने निकृष्ट बताया है, चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण। पावापुर के अन्तिम प्रवचन में तो महावीर ने यहां तक कहा—

---

१. दशवैकालिक १०।१०

जे केई उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो
भोच्चा पिच्चा सुह सुअइ पाव समणेत्ति वुच्चई।[1]

जो व्यक्ति प्रव्रजित होकर भी रात-दिन नींद लेता रहता है, आलस में डूबा रहता है और खा-पीकर पेट पर हाथ फिराता रहता है, वह चाहे श्रमण ही क्यों न हो वह पापी । महावीर की भाषा में ऐसे श्रम हीन श्रमण भी 'पापी श्रमण' कहलाते हैं।

श्रम की इससे बड़ी प्रतिष्ठा और क्या होगी कि श्रमण होकर भी अगर कोई आलसी रहता है तो महावीर उसे भी 'पापी-श्रमण'. निकृष्ट श्रमण अर्थात् सिर्फ श्रमण वेशधारी कहते हैं।

श्रम कभी निष्फल नहीं होता :

महावीर का कर्म सिद्धान्त 'श्रम-भाव' की सच्ची प्रतिष्ठा करता है। कर्मवाद का मूल इसी में है कि हम जैसा कर्म करेंगे वैसा ही फल प्राप्त करेंगे। शुभ एवं सत्कर्म का शुभ फल मिलेगा अशुभ एवं असत्कर्म का अशुभ फल मिलेगा[2]—इसका सीधा अर्थ यही है कि हमारा कर्म अर्थात् श्रम कभी निष्फल नहीं होता। अगर श्रम के साथ हमारी मनोवृत्ति कलुषित है तो वह श्रम-हमारे पतन का कारण बन जाता है और श्रम के साथ मनोवृत्तियां शुद्ध हैं, भावना पवित्र है तो वह श्रम हमें कल्याण की ओर गतिशील बनायेगा। शुद्ध एवं पवित्र मनोभावना के साथ ही श्रम की सफलता है और वह श्रम श्री-समृद्धि का कारण बनता है। सद्भावना के साथ कर्तव्य में सतत लीन की घोषणा—किरियं रोयए धीरो—से महावीर वाणी में श्रम की सार्थकता स्पष्ट ध्वनित है।

••••



१. उत्तराध्ययन १७।३
२. औपपातिक सूत्र, ५६

चतुर्थ खण्ड

राजनीतिक संदर्भ

२०

लोक कल्याणकारी राज्य और महावीर की जीवन-दृष्टि

• डॉ० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया

जैन धर्म के उन्नायकों की एक सुदूरगामी परम्परा रही है, जिसे चौबीस तीर्थंकरों द्वारा समय-समय पर अनुप्राणित किया गया है। आद्य तीर्थंकर ऋपभदेव तथा अन्तिम चौवीसवें तीर्थंकर महावीर ऐतिहासिक महापुरुष माने जाते हैं। भगवान् महावीर के पच्चीससौवें निर्वाणोत्सव पर देश में अनेक प्रकार से उनके कल्याणकारी विचारों का विवेचन हो रहा है। यहां हम लोक कल्याणकारी राज्य और महावीर की जीवन-दृष्टि विपयक संक्षेप में विवेचन करेंगे।

लोक : अर्थ और प्रकार :

लोक के अर्थ हैं—भुवन। पुराणानुसार सात लोक हैं, यथा—(१) भूलोक, (२) भुवर्लोक, (३) स्वर्लोक, (४) महर्लोक, (५) जनलोक, (६) तपोलोक, (७) सत्य लोक।

वैद्यक के अनुसार लोक के दो विभेद किये गये हैं—

(१) स्थावर, (२) जंगम। वृक्ष, लता, तृण आदि स्थावर और पशु पक्षी, कीट, पतंग तथा मनुष्यादि जंगम हैं।

व्यवस्था और जन-कल्याण :

सुव्यवस्थित जीवन चर्या के लिये व्यवस्था की आवश्यकता होती है। वनी व्यवस्था का एक व्यवस्थापक होता है। व्यवस्था के प्रति जनता की आस्था बनी रहे, उसका दायित्व व्यवस्थापक पर होता है। आस्था गिरी कि व्यवस्था का विसर्जन सुनिश्चित। इस प्रकार लोक में अनेक वार व्यवस्थायें वनीं—विगड़ीं किन्तु उनके निर्माण में जन-कल्याण की भावना प्रधान रूप से सदा विद्यमान रही है।

भुवन का उतना भूमि भाग जितना एक राजा द्वारा शासित हो, वस्तुतः राज अथवा राज्य कहलाता है। राज की व्यवस्था राजतंत्र होती है। राजतंत्र के सुव्यवस्थित संचालन के लिये एक राजा की आवश्यकता होती है। किसी नये राजा के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने का संस्कार प्रायः राजतिलक कहलाता है। इसी को राज्याभिषेक भी कहते

हैं। राज-व्यवस्था के लिये राजदण्ड का व्यवहार प्रायः अनिवार्य होता है। श्रीसोमदेवसूरि विरचित 'नीतिकाव्यामृत' नामक ग्रंथ में राजा के कर्तव्य की चर्चा इस प्रकार हुई है—

'राज्ञोहि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः'

अर्थात् दुष्ट अपराधियों को सजा देना और सज्जन पुरुषों की रक्षा करना राजा का धर्म है। राजा और राज्य के प्रति राज-वासियों के भी कुछ दायित्व होते हैं। राजा और प्रजा वस्तुतः अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यथा राजा तथा प्रजा।

इकाई से दहाई :

महावीर का दृष्टिकोण इकाई से दहाई को स्पर्श करता है। वे किसी रूप में अनेक से एक तक नहीं आते अपितु एक से अनेक को अनुप्राणित होना मानते हैं। व्यक्ति का विकास विभु बनने तक होता है। राज तंत्र के विषय में भी यही बात चरितार्थ है। एक श्रावक सधा कि श्रावकों का कुल सध सकता है और कुल से समुदाय, समाज आदि प्रभावित हुआ करते हैं। सच यह है कि—"सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, उसका असर राष्ट्र पर हो।" फिर किसी समुदाय अथवा समाज की इकाई कैसी हो ? कहा है—"जे गिलाणंपडियरई से धन्ने"—जो वृद्ध, रोगी और पीड़ितों की सेवा करता है, वस्तुतः वही धन्य है।

वित्त से चित्त मुक्त हो :

वित्त से चित्त मुक्त हो तभी जीवन व्रतोन्मुख हो सकता है। जीवन में व्रत से व्यक्ति की साधना आरम्भ होती है। व्रत साधना अन्तर से उद्भूत हो तो वह शाश्वत होती है। बाहर से थोपा गया व्रत-विधान प्रायः टिकाऊ प्रमाणित नहीं हुआ करता, अन्तर से व्रतों के प्रति जागरण संकल्प पर निर्भर करता है। संकल्प के मूल में श्रद्धा है। किसी के प्रति श्रद्धा भाव उसमें संकल्प शक्ति का संचार किया करता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ऐसे कुविचार हैं जिनसे श्रद्धा भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। इन विकारों से विमुक्ति के लिये महावीर ने पंचाणुव्रतों की चर्चा की है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह जैसे उदात्त आत्म स्वभावों के चिन्तवन से व्यक्ति की साधना सम्पन्न हुआ करती है। व्यक्ति सधा कि समाज का संवर्द्धन सम्भव हुआ करता है।

अब प्रश्न है कि अहिंसा किसी परिधि में सीमित की जा सकती है ? जब यह आत्मा का स्वभाव है कि इसे हम व्यक्ति द्वारा निर्धारित किसी सीमा परिधि में किस प्रकार परिसीमित कर सकते हैं। अहिंसा का क्षेत्र निस्सीम है। वह वस्तुतः सर्वभूत है। किन्तु उसके आचरण पक्ष को हम सुविधानुसार सीमित कर सकते हैं। श्रावक की अहिंसा और मुनि की अहिंसा में अन्तर है। मुनिचर्या में सर्वदेशीय व्रत-विस्तार है। वहां राष्ट्र जैसी किसी भी परिधि का व्यवहार नहीं है—वहां सर्वभूत–प्राणीमात्र का हित–चिन्तन है। अणुव्रतों का धारी श्रावक किसी राष्ट्र का नागरिक भी हो सकता है। उसकी चर्या सीमा-रेखाओं में विभाजित की जा सकती है किन्तु मुनि अथवा आचार्य का क्षेत्र निस्सीम है। वह वस्तुतः किसी राष्ट्र का होते हुये भी अन्तर्राष्ट्र का होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्रावकों का संघ और संघकुल, समाज तथा उसका

वृहद्‌रूप देश बन सकता है। व्यवस्था की दृष्टि से उसे हम एक राष्ट्र की संज्ञा दे सकते हैं। राष्ट्र का शासन उसके संविधान के द्वारा हुआ करता है। भगवान् महावीर की दृष्टि में किसी भी राष्ट्र का संविधान सम्पूर्ण नहीं हो सकता। विधान है तो परिधि का होना अनिवार्य है और यदि वह सम्पूर्ण नहीं है तो निश्चय ही वहां जीवन में हिंसा है। उनका राष्ट्रीय और सामाजिक आदर्श रहा है—"स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो।" यह वस्तुतः किसी भी राष्ट्र के लिये कितनी सरल और स्वाभाविक व्यवस्था है। इस प्रकार की व्यवस्था में व्यक्ति का हृदय हिन्द-महासागर बन अपनी विशालता, सहृदयता और परोपकारिता जैसी उदात्त वृत्तियों से लहरा उठेगा। यहां पारस्परिक उत्थान के लिये तो अवकाश है किन्तु पतन के लिये कोई कार्यक्रम नहीं। इसीलिये जैन दृष्टि में किसी भी जन कुल को हम सीमित नहीं कर सकते।

श्रम और संकल्प की अनिवार्यता :

आत्म स्वभाव का एक पक्ष अहिंसा है दूसरा सत्य और क्रमशः अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महावीर के राज में अपरिग्रहवाद का वातावरण सभी को सद्भाव में रहने के लिये आमंत्रित करेगा। ऐसी राजकीय व्यवस्था में श्रम और संकल्प की अनिवार्यता होगी। प्रत्येक श्रमी को स्वार्जित कर्मानुसार अपने पेट भरने के लिये यथेष्ट खाद्य सामग्री उपलब्ध होगी और उसे पेटी भरने के लिये कोई अवसर न मिलेगा।

श्रम से प्रसूत जागतिक सुविधा का सोद्देश्य उपयोग हुआ करता है। प्रमाद-जन्य उपलब्धि से व्यक्ति में विकारों का संचार हो उठना अत्यन्त स्वाभाविक है। विकारों का शिकार हुये विना व्यक्ति न तो आत्मार्थी होगा और नाहीं परमार्थी।

सर्वोदय न कि वर्गोदय :

महावीर की राज्य व्यवस्था में सभी का उदय सम्भव है। व्यक्ति विशेष का चरमोत्कर्ष उसके पड़ोसी के लिये घातक नहीं अपितु उसकी षट्कर्मो से अनुप्राणित दिन-चर्या, दानव्रत से समता तथा सहअस्तित्व का संचार करती है। प्राणी मात्र के प्रति नागरिक का दृष्टिकोण उदार तथा समतामूलक हो तो फिर इससे बड़ा साम्यवाद और क्या हो सकता है। वहां वस्तुतः सर्वोदय होगा, वर्गोदय नहीं, वहां प्राणी-पोषण होगा, समाज-शोषण नहीं। ऐसी स्थिति में वैचारिक विरोध हो सकता है व्यक्ति-विरोध नहीं। विपरीत परिस्थिति में भी व्यक्ति का दृष्टिकोण मध्यस्तता पूर्ण परिलक्षित होगा—

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्
मध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विद्धातुदेवः।

यहां दाता-विधाता नहीं, स्वयं का सम्यक् पुरुषार्थ ही व्यक्ति के उत्कर्ष का मुख्याधार है। ऐसी राज-व्यवस्था में व्यक्ति की आस्था अपने श्रम, समता और स्वतंत्रता पर आधृत होगी।

क्रिया युक्त ज्ञान :

आचार्य उमास्वामि ने स्वविरचित 'तत्वार्थसूत्र' में स्पष्ट कहा है कि "सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।" दर्शन क्या है ? श्रद्धा-विश्वास (Right belief), ज्ञान-विवेक (Right knowledge) और चारित्र्य से तात्पर्य है आचरण (Right conduct) व्यक्ति-विकास में परम आवश्यक हैं। क्रिया युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है। क्रिया से रहित ज्ञान लंगड़ा है, भार है।

गणित की भाषा में :

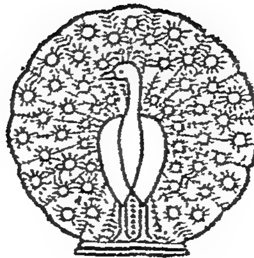
क्रिया—ज्ञान=रूढ़ि, क्रिया + ज्ञान=पुरुषार्थ।

मैं मानता हूं कि पुरुषार्थ करने के लिये किसी आस्था की अपेक्षा हुआ करती है। कार्य के प्रति विश्वास, उसके प्रति पूर्ण ज्ञान और तज्जन्य क्रियाचरण वस्तुतः जागतिक और जागतेतर उपलब्धियों की प्राप्ति में परम सहायक है।

आत्मीय अनुशासन :

इस प्रकार महावीर की दृष्टि में लोक कल्याणकारी राज्य मात्र परिधियों का पोषक नहीं हो सकता, वहां प्राणियों को अभय, अशन, औषधि और ज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण सुविधायें होंगी। वहां जीवन व्रत साधना से परिमार्जित होगा। शारीरिक शासन की अपेक्षा आत्मीय अनुशासन से व्यक्ति-व्यक्ति में समता सौहार्द्र तथा स्वतंत्रता परक प्रतीतियां होंगी। वहां पोषण होगा—शोषण नहीं। 'स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो' की भावना का साकार उदाहरण होगा। बड़ी बात यह कि वहां प्रत्येक व्यक्ति में सुख-दुःख का सम्यक् बोध होगा।

••••



२१

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के विकास-क्रम में महावीर के विचार

• श्री हरिश्चन्द्र दक

विषम वातावरण :

आज से २५०० वर्ष पूर्व भारत की सामाजिक स्थिति बड़ी विचित्र थी। सामाजिक विषमता, हिंसा एवं क्रूरता के उस वातावरण में मानवीय मूल्यों को तिलांजली दे दी गयी थी। धर्म के नाम पर पशुवध सामान्य बात थी। सम्पूर्ण सामाजिक ढांचा रूढ़ियों, अंध परम्पराओं एवं पाखण्डों की खोखली नींव पर खड़ा हुआ था। जातीयता की थोथी दीवारों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की भयंकर सीमाएं बना दी थीं। गली व चौराहे का हर पत्थर ईश्वर के नाम से पूजा पा रहा था। पर शूद्रों की छाया तक से परहेज किया जाता था।

ऐसे विषम विषमयी वातावरण में भगवान् महावीर द्वारा "मित्ती में सव्वे भूएसू वेरं मज्झं न केणई" का उद्घोष पीड़ित प्रताड़ित एवं पददलित मानव के लिए सुखद आश्चर्य था। उनके द्वारा सत्य, अहिंसा, प्रेम एवं करुणा का सन्देश अपने आप में क्रान्तिकारी विचार था।

सामाजिक जीवन में सहअस्तित्व :

श्रमण भगवान् महावीर ने—

जं इच्छसि अप्पणतो, जंचन इच्छामि अप्पणतो
तं इच्छ परस्स विमा, एत्तिमग्गं जिण सासणयं

(जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते हो, उसे दूसरे भी पसन्द नहीं करते हैं। जिस दयामयी व्यवहार को तुम पसन्द करते हो उसे सब ही पसन्द करते हैं) का उपदेश देकर सामाजिक जीवन में सहअस्तित्व के सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया।

एक बार के प्रवास में एक शिष्य ने भगवान् से प्रश्न पूछा—

प्रभो ! आपने अहिंसा को क्यों स्वीकार किया ?

श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—

"संसार में व्याप्त समस्त चराचर जीवों में समान चेतना है। सभी आत्माएँ समान रूप से सुख चाहती हैं। जिस प्रकार हमें जीने का अधिकार है उसी प्रकार दूसरों

को भी जीने का अधिकार देना होगा। जिस दिन हम इस चिरन्तन सत्य को स्वीकार कर लेंगे तभी पूर्ण साधक होने का दावा कर सकेंगे।"

भगवान् महावीर अपने समस्त सिद्धान्तों, नीतियों, आदर्श एवं उपदेशों के माध्यम से एक समतामयी समाज की रचना करना चाहते थे जहां प्रत्येक प्राणी बिना किसी भय, बाहरी दबाव तथा बन्धनों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से रह सके। ऐसे ही समाज की रचना के लिए उस मौन मूक साधक ने हिंसा के ताण्डव नृत्य के विरोध में अहिंसात्मक रूप से जिस क्रान्ति का शंखनाद किया उसकी उपादेयता आज भी समझी जा रही है। यही कारण है कि आज के इस अति भौतिकवादी वैज्ञानिक युग मे भी सम्पूर्ण मानव जाति को विनाश से बचाने के लिए शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की विचारधारा को स्वीकार किया जा रहा है।

युद्ध से शान्ति नहीं :

"युद्ध से शान्ति नहीं हो सकती" इस सत्य का ज्ञान विश्व शक्तियों को बड़े कटु अनुभवों के बाद हुआ। अन्यथा पिछली अर्द्ध शताब्दी में हुए दो विश्व युद्ध तथा अन्य अनेक छोटे-बड़े युद्ध मनुष्य के महानाश के कारण न बनते। वियतनाम में लडे जाने वाले लम्बे युद्ध ने यह भी सिद्ध कर दिया कि आज के युग में समस्याओं का समाधान युद्धों से नहीं किया जा सकता है" अतः अमरीका जैसी अपराजेय आधुनिकतम शक्ति को भी वार्ता के लिए विवश होना पड़ा। भारत ने सहअस्तित्व के सिद्धान्त को समय पर समझ कर स्वतन्त्रता के प्रारम्भ से ही उसे अपनी विदेश नीति के मान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।

विदेश नीति के निर्देशक तत्व :

भारतीय संविधान के अध्याय ४ अनुच्छेद ५१ में भारत की विदेश नीति के लिए निर्देश दिए गए हैं—

(१) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति और सुरक्षा की उन्नति का प्रयास करे।

(२) राज्य राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रयास करे।

(३) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संधि बंधनों के प्रति आदर बढ़ाने का प्रयत्न करे।

(४) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाने का प्रयास करे और तदर्थ प्रोत्साहन दे।

पिछले पच्चीस वर्षों से हमारी विदेश नीति के मूलभूत आधार ये निर्देशन ही रहे हैं। हमारी सक्रिय तटस्थता नीति अनुच्छेद ५१ का ही विस्तृत रूप है। इसे अधिक व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए सन् १९५४ में स्वर्गीय प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इन्हें पंचशील के निम्न सिद्धांतरूप में प्रतिपादित किया—

(१) सब देशों द्वारा परस्पर एक दूसरे देश की प्रादेशिक अखण्डता एवं प्रभुसत्ता का सम्मान।

(२) परस्पर अनाक्रमण ।

(३) आर्थिक राजनीतिक या सैद्धांतिक कारणों से परस्पर किसी देश के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप का अभाव ।

(४) परस्पर लाभ की समानता ।

(५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व ।

जिओ और जीने दो :

भारतीय स्वतन्त्रता के समय विश्व की राजनीति रूस व अमेरिका के नेतृत्व में क्रमशः समाजवादी एवं प्रजातन्त्रीय विचारों के अनुरूप दो खेमों में बंटी हुई थी। दुनिया के अधिकांश देश इनमें से किसी एक के समर्थन में ही अपने वैदेशिक कर्तव्य की इति श्री समझते थे। ऐसे समय भारत ने गुटीय राजनीति से तटस्थ रहने की घोषणा कर विश्व राष्ट्रों के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया। जिस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया कि—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओय पवत्तणं ।
असजमे नियन्ति च, संजमे य पवत्तणं ।।

(जहां हिंसा, असत्संकल्प, दुराचरण से निवृत्त होना है वहां अहिंसा, दया, प्रेम, करुणा, संयम तथा प्राणी रक्षा में प्रवृत्त होना भी है।)

उसी प्रकार भारत की तटस्थता नीति के रूप में हमने जिस नीति को स्वीकार किया वह केवल निषेधकारी नहीं थी। उसका लक्ष्य विश्व की राजनीति से अलग होना नहीं था अपितु गुटीय आधार पर विभक्त विश्व को जिसके नेता बात-बात पर आणविक युद्ध की धमकी देते थे, शांति का सही मार्ग बताकर Live and Let Live जीओ और जीने दो के रूप में सहअस्तित्व का प्रतिपादन करना था।

पिछले दो दशकों में विश्व की राजनीति शीतयुद्ध के तनावपूर्ण वातावरण से ग्रस्त रही है। युद्ध न होते हुये भी युद्ध के भय से सम्पूर्ण मानवता आक्रान्त थी। सद्भावना एवं शांति के लिए स्थापित संयुक्त राष्ट्र के मंच पर राष्ट्र एकत्र तो होते, पर उनमें पारस्परिक सन्देह अविश्वास के भाव अभी दूर नहीं हुए थे। यही कारण था कि चीन जैसे विशाल देश को संयुक्त राष्ट्र में स्थान पाने के लिए वर्षों संघर्ष करना पड़ा।

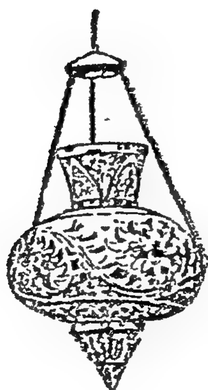
लगता है विश्व शक्तियों को अब धीरे-धीरे सहअस्तित्व के सिद्धांत की उपादेयता एवं महत्व का ज्ञान होने लगा है। यही कारण है कि सदा एक दूसरे का विरोध करने वाले रूस व अमेरिका जैसे राष्ट्र आज कई स्तरों पर परस्पर एक दूसरे का सहयोग कर रहे हैं। यह भारतीय विदेश नीति के सिद्धांतों की महत्वपूर्ण विजय है। माईकेल फुट के शब्दों में "संसार स्वतन्त्र भारत का ऋणी है कि उसने हम सभी को बल्कि सारे संसार को शक्ति जन्य दोषों से बचाया है। नहीं तो सम्भव था हम सभी विनाश के गर्त मे पहुंच गये होते।"

भगवान् महावीर के अहिंसा तथा समानता पर आधारित समाज की परिकल्पना भी भारत में प्रजातंत्रीय शासन पद्धति मे समाजवादी समाज व्यवस्था का निर्माण कर साकार की जा रही है।

समझदारी की भाषा :

भगवान् महावीर के पश्चातवर्ती वर्षो में उनके अनुयायियों द्वारा शास्त्रों, रूढ़ियों तथा परम्परा के बन्धनों में बंधी-बंधायी अहिंसा को आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने नया स्वरूप दिया। गांधीजी ने उसे बिना रक्तपात के आजादी की लड़ाई का अमोघ उपाय बताया। उन्होंने समाज में श्रम को पुनः प्रतिष्ठित किया। शोषण और छल के विरोध में सात्विक जीवन का मार्ग बताया। असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा का एक ऐसा अहिंसक रास्ता खोज निकाला कि गुलामी की जंजीरें भी टूट पड़ीं। सत्याग्रह का सिद्धांत तो युग के अहिंसावादियों के लिए वरदान बन गया। यद्यपि आज भी हिरोशिमा और नागासाकी पर किया गया बम प्रयोग मानव में स्थित पशुता का भान कराता है, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग, सद्भाव एवं विश्व बंधुत्व के बढते चरण निश्चय ही श्रमण भगवान् महावीर के सिद्धांतों का ही व्यापक रूप है। राष्ट्रों में समझदारी की सामान्य भाषा का विकास शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धांतों की विजय का परिचायक है।

भगवान् महावीर की अहिंसा केवल 'जीओ और जीने दो' तक ही सीमित नहीं है। वह तो विश्व मैत्री का विराट रूप धारण करके अखिल विश्व को अपनी गोद में समेट लेती है। 'जीओ और जीने दो' से आगे बढ़कर दूसरों को जीवित रखने के लिये उत्प्रेरित करती है। अहिंसा का विशाल चिंतन तो प्राणीमात्र के साथ आत्म-भाव एवं बंधु-भाव की जीवित प्रेरणा प्रदान करता है। जिस दिन विश्व भगवान् महावीर के इस चिरंतन सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करेगा उसी दिन वास्तविक शांति स्थापित होगी।



२२

गुट निरपेक्षता का सिद्धान्त और महावीर का अनेकांत दृष्टिकोण

• डॉ० सुभाष मिश्र

अनेकान्त दृष्टि : सत्य और अहिंसा का परिणाम :

महात्मा गांधी ने कहा है कि 'मेरा अनुभव है कि मैं अपनी दृष्टि से सदा सत्य ही होता हूं, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तव भी मुझ में गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को सही और उनको अज्ञानी मान लेता था, किन्तु अब मैं मानता हूं कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं, कई अन्धों ने हाथी को अलग-अलग टटोलकर उसका जो वर्णन किया था वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया कि मुसलमानों की जांच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं, आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूं क्योंकि अब मैं अपने विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूं। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा, इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।'

गांधी और अनेकान्त दृष्टि :

भगवान् महावीर की देन-स्वरूप अनेकान्तवादी चिन्तन, जैन एवं जैनेतर भारतीय दर्शनों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, अनेक रूपों में समाया हुआ है, किन्तु दर्शनगत अनेकान्तवादी विचारणा केवल चिन्तन के रूप में ही रही है। भगवान् महावीर के काल में धर्म के क्षेत्र में उसकी एक व्यावहारिक भूमिका भी थी, तथापि उसका सैद्धान्तिक रूप ही बार-बार सामने आया है। बीसवीं शताब्दी के नवजागरण काल में महात्मा गांधी में आकर वह अनेकान्तवाद नवजीवन प्राप्त करता है, उसकी सामाजिक और राजनैतिक जीवन में व्यावहारिक उपयोगिता प्रमाणित हुई है। यह कहना असत्य न होगा कि महात्मा गांधी का सम्पूर्ण चिन्तन और कार्य अनेकान्तवाद की ही तरह सत्य और अहिंसा पर आधारित है। अतः यदि भारत के पुनरुत्थान, पुनर्गठन, पुनर्जागरण एवं नई सांस्कृतिक चेतना में महात्मा गांधी कारण या सहयोगी हैं तो प्रकारान्तर से महावीर के अनेकान्तवाद को भी इसका श्रेय है।

अनाग्रही दृष्टिकोण की आवश्यकता :

आज का विश्व इतना जटिल, विभिन्न गुटों में विभाजित, संघर्षशील तथा परि-

स्थितिग्रों से घिरा हुआ है कि इसके उद्धार के लिए तटस्थ एवं निराग्रही दृष्टिकोण की ग्रावश्यकता है। कोई भी ग्राग्रहपूर्ण चिन्तन, कोई भी ग्राग्रही विचारक ग्राज के संसार की जटिलताग्रों को कुछ ग्रौर उलझा देने के सिवाय कुछ भी नहीं दे सकता। ग्रौर जब भी ऐसी परिस्थितियां ग्राई है या जब भी किसी चिंतक ने या महापुरुष ने संसार को कुछ दिया है तो वह निश्चित ही तटस्थ चिंतन का अनुमोदक रहा है। ईसामसीह भी ग्रनेकान्त-वाद के पोषक थे। उनका कहना है "मेरे पिता के यहां ग्रनेक मकान हैं, मैं किसी भी मकान को तोड़ने नहीं ग्राया, प्रत्युत् सबकी रक्षा ग्रौर पूर्णता मेरा उद्देश्य है।"

गुट निरपेक्षता के मूल में ग्रनेकान्त :

ग्राज विश्व के सभी राष्ट्र परस्पर का विश्वास खो बैठे हैं ग्रौर कोई भी राष्ट्र कभी भी किसी भी राष्ट्र की पीठ पर प्रहार कर सकता है। ग्राखिर ऐसा क्यों ? यह इसलिए कि ग्राज सभी राष्ट्र ग्रन्य राष्ट्रों के समक्ष ग्रपने ग्रापको ग्रधिक शक्तिशाली ग्रौर सम्पन्न रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं, तथा दूसरे राष्ट्रों की शक्ति एवं सम्पन्नता के प्रति ग्रनुदार एवं ग्रसहिष्णु हैं। शक्ति ग्रौर सम्पन्नता की होड़ में ही ग्राज की सम्पूर्ण मानव जाति की शक्ति का ग्रपव्यय हो रहा है तथा शक्ति ग्रौर सम्पन्नता को बढ़ाने के उद्देश्य से ही समान स्वार्थों वाले राष्ट्रों ने मिलकर ग्रपने-ग्रपने गुट बनाकर खड़े कर लिए हैं। ये गुट, चाहे वे साम्राज्यवादी हों या साम्यवादी हों, विश्व के विनाश की भूमिका तैयार कर रहे हैं। इसीलिए भारत ने गुट निरपेक्षता की नीति ग्रपनाई है। इस गुट-निरपेक्षता के मूल में ग्रनेकान्तवाद प्रेरणा के रूप में सक्रिय था—यह तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु यह ग्रवश्य कहूंगा कि चिन्तन में ग्रौर धार्मिक समन्विति के क्षेत्र में जो ग्रनेकान्तवाद था, सामान्यतया राजनीति के क्षेत्र में वही गुटनिरपेक्षता है।

ग्रनेकान्त दृष्टिकोण : सत्य की तलाश :

लोक ग्रौर जीव की नित्यता, ग्रनित्यता, जीव ग्रौर शरीर के भेदाभेद ग्रादि प्रश्नों पर भगवान् बुद्ध मौन रहे, तथा इनको 'ग्रव्याकृत' कह दिया। ये प्रश्न भगवान् बुद्ध के ग्रहम् प्रश्न थे। भगवान् बुद्ध ने इनका उत्तर इसलिए नहीं दिया, क्योंकि वे तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक वादों में किसी से प्रतिबद्ध नहीं होना चाहते थे। यदि वे ईश्वर ग्रौर ग्रात्मा को नित्य एवं सत्य कहते तो उन्हें किन्हीं ग्रंशों में उपनिषद्–समर्थित शाश्वततावाद को स्वीकार करना पड़ता, ग्रौर यदि वे इन्हें ग्रनित्य ग्रौर ग्रसत्य कहते तो एक प्रकार से उन्हें चार्वाक–जैसे उच्छेदवादियों का समर्थन करना पड़ता। पर भगवान् महावीर ने तत्कालीन प्रचलित इस प्रकार के सभी वाद-विवादों की परीक्षा की ग्रौर जिसमें जितना ग्राह्य सत्य था, उसे उतनी ही मात्रा में स्वीकार करके, सभी वादों का समन्वय किया। जिन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् बुद्ध मौन रहे, उन्हीं का उत्तर ग्रनेकान्तवाद के ग्राश्रय से भगवान् महावीर ने दिया। इस बात की पुष्टि में यहां एक उदाहरण देना समीचीन होगा—

"लोक की सान्तता ग्रौर ग्रनन्तता के विषय में भगवान् महावीर का कहना है कि द्रव्य की ग्रपेक्षा से लोक सान्त है, क्योंकि यह संख्या में एक है, किन्तु भाव ग्रर्थात् पर्यायों

की अपेक्षा से यह अनन्त है, क्योंकि लोक द्रव्य के पर्याय अनन्त हैं। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है अर्थात् शाश्वत हैं, क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं, जिस में लोक का अस्तित्व न हो, किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से लोक शान्त है, क्योंकि सकल क्षेत्र में से कुछ ही लोक हैं, अन्यत्र नहीं। यह अनेकांतवाद का ही चमत्कार है कि लोक को शान्त मानने वाले और अनन्त मानने वाले हठी चिन्तकों के सामने तार्किकतापूर्ण ढंग से लोक को शान्त और अनन्त दोनों सिद्ध करके, उनका समन्वय सम्भव हुआ।"

वस्तुतः इस उद्धरण में आए हुए 'सान्त' और 'अनन्त' शब्दों को लेकर ही इस चिन्तन प्रणाली का नाम 'अनेकान्तवाद' पड़ा। इसके अनुसार किसी भी सत्य का एक ही अन्त नहीं है, अनन्त अपेक्षा भेदों से उसके अनन्त अन्त होते हैं। अनेकान्तवादी भाव को सूचित करने के लिए भगवान् महावीर ने वाक्यों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिए अनेकान्तवाद 'स्याद्वाद' के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। वस्तुतः 'स्याद्वाद' अनेकान्तवादी चिन्तन की अभिव्यक्ति की शैली का नाम है।

अनेकान्त चिन्तन के प्रेरणा-सूत्र :

भगवान् महावीर का यह अनेकान्तवाद मुख्य रूप से हमें तीन बातों की प्रेरणा देता है—

(क) कोई भी मत या सिद्धान्त पूर्णतः सत्य या असत्य नहीं है, अर्थात् सिद्धान्तों के प्रति दुराग्रह नहीं होना चाहिए।

(ख) विरोधियों द्वारा गृहीत और मान्य सत्य भी सत्य है इसलिए, उस सत्य का अपने जीवन में उपयोग न करते हुए भी उसके प्रति सम्मान का भाव रखना चाहिए। इस प्रकार से विरोधियों के सत्य में भी हमारे लिए सृजनशील सम्भावनाएं निहित मिलेंगी, अन्यथा, विरोधियों के सत्य के प्रति हमारा उपेक्षाभाव विध्वंसक भावों को जन्म देगा।

(ग) मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसा कोई एक मार्ग नहीं है, जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सके। अतः सत्य के लिए कथित अन्य मार्ग भी उतने ही श्रेष्ठ हैं, जितना हमारा अपना मार्ग। इस सत्य को स्वीकार कर लेने पर हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि होती रहेगी और हमारे चिन्तन के द्वार अवरुद्ध नहीं होंगे।

गुट निरपेक्षता में अनेकान्त की समाहिति :

गुट निरपेक्षता में उपर्युक्त तीनों बातें किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं, यथा—

(क) जिस प्रकार अनेकान्तवाद किसी एक ही चिन्तन के प्रति दुराग्रही नहीं है, उसी प्रकार गुट निरपेक्षता में भी आग्रह शून्य होकर अपनी राष्ट्रीय नीतियों की स्वीकृति के साथ विभिन्न गुटों की नीतियों के ग्राह्य सत्य को स्वीकार लिया जाता है और अग्राह्य नीतियों को बिना आलोचना किए हुए ही छोड़ दिया जाता है।

(ख) जिस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधियों के सत्य के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए उसे 'सत्य' के रूप में स्वीकार करता है, उसी प्रकार गुट निरपेक्षता में भी गुटों की

उन नीतियों के प्रति भी आदर होता है (होना चाहिए), जिन्हें गुट निरपेक्ष राष्ट्र अपने लिए हितकर नहीं मानते।

(ग) जिस प्रकार अनेकान्तवाद दूसरे के विचारों की सत्यता, प्रामाणिकता और स्वायत्तता को स्वीकार करता है उसी प्रकार गुट निरपेक्षता में भी अन्य राष्ट्रों की नीतियों, उनकी सार्वभौमिकता और स्वतन्त्रता के प्रति सम्मान का भाव प्रधान है।

दोनों में कितना साम्य :

इसके अतिरिक्त अनेकान्त और गुट निरपेक्षता में कारणगत और कार्यगत साम्य भी है। अनेकान्त का जन्म वैचारिक हिंसा को रोकने के लिए हुआ था, गुट निरपेक्षता की आवश्यकता की प्रतीति भी मानवीय हिंसा को रोकने के लिए हुई है। अनेकान्त का उद्देश्य विचार-जगत् में व्याप्त कोलाहल को शांत करना है, गुट निरपेक्षता का उद्देश्य भी विश्व में व्याप्त अशान्ति को दूर करना है।

अनेकान्तवाद पर विचार करते हुए, आज की विश्व की विषम परिस्थितियों को देखते हुए, आये दिन युद्ध की खबरें सुनते हुए, मुझे लगता है कि संसार को आज जहां होना चाहिए था—विश्वशांति और विश्वबन्धुत्व की कल्पना को साकार बनाने के लिए संसार को जहां आज नहीं तो कल पहुँचना ही होगा—वहां भगवान् महावीर के अनेकान्त दृष्टिकोण के रूप में भारत पच्चीस सौ वर्ष पूर्व ही पहुंच चुका था।

अनेकान्तवाद धर्म और दर्शन को सामाजिक व्यवहार से जोड़ता है। इसीलिए अनेकान्त शैली पर गुट निरपेक्षता राजनीति को सांस्कृतिक मूल्यों से जोड़ती है। कोई भी गुट तभी निर्मित होता है जब हम किसी भी 'वाद' को एकान्तिक रूप से सत्य मानकर न केवल अन्य सभी वादों की उपेक्षा करते हैं, बल्कि उन्हें असत्य ठहरा देते हैं। आज साम्यवादी समझते हैं कि प्रजातान्त्रिक राष्ट्र गलत राह पर हैं और प्रजातान्त्रिक देश समझते हैं कि साम्यवादी दिशा दृष्टिहीन है। इन्हीं असहमतियों से पहले नीति जगत् में कोलाहल पैदा होता है और फिर धीरे-धीरे युद्ध के खतरे सामने आ जाते हैं। इन स्थितियों से बचने के लिए इन्हें पैदा न होने देने के लिए और अपना सहज विकास करने के लिए गुट निरपेक्षता उसी प्रकार एक सर्व सुलभ उपाय है जिस प्रकार पच्चीस सौ वर्ष पूर्व धार्मिक, दार्शनिक विवादों में न पड़ने के लिए, प्रचलित धार्मिक विवादों को शान्त करने के लिए और आत्म-विकास के लिए भगवान् महावीर का अनेकान्त दृष्टिकोण एक स्वीकृत साधन था।

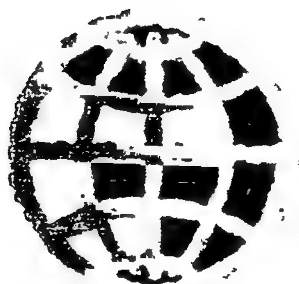
राजनीति को सांस्कृतिक मूल्यों से जोड़ने की प्रक्रिया :

ऊपर मैंने कहा है और यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि गुट निरपेक्षता राजनीति को सांस्कृतिक मूल्यों से जोड़ने का प्रयास है। यदि गुट निरपेक्ष राष्ट्र गुटबद्ध राष्ट्रों की नीतियों के प्रति उतने ही अनुदार और निन्दक हो जाएं, उनके अपने ही स्वार्थ प्रधान हो जाएं, तो गुट निरपेक्षता भी आगे चलकर एक प्रकार के गुट का रूप धारण कर लेगी। आज के राष्ट्रों की परस्पर उलझनों के कारण तटस्थ राष्ट्रीय नीतियों के सामने यह खतरा

विकराल रूप में उपस्थित है। यदि ऐसा हुआ तो गुट निरपेक्षता का अनेकान्त के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकेगा।

गुट निरपेक्षता के अतिरिक्त सहअस्तित्व, सहजीवन और पंचशील—इन सबका मूलाधार अनेकान्तवाद ही है। इसीलिए आधुनिक जगत् में विश्व मैत्री, विश्व बन्धुत्व एवं विश्व शान्ति के सबसे बड़े दूत (स्वप्न-द्रष्टा) महात्मा गांधी ने अनेकान्त को अपने जीवन का आदर्श मान लिया था। अनेकान्तवाद ने ही महात्मा गांधी को वह शक्ति दी थी कि वे विरोधियों की नजर से आत्मलोचन कर सके विभिन्न धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों और राष्ट्रों को उनकी समग्रता एवं सम्पूर्णता में देख-समझ सके। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन-विरोधी देशों का साथ देने के प्रस्ताव के विरोध में महात्मा गांधी ने कहा था कि 'यदि लन्दन की धूल की कीमत पर भारत को आजादी मिली भी तो वह किस काम की।' गांधी के इस कथन में जो अहिंसा, जो त्याग और तात्कालिक स्वार्थों की पूर्ति से जो अलगाव विद्यमान है, वह गुट निरपेक्षता के लिए आदर्श है।

●●●



२३

विश्व-शांति के सन्दर्भ में भगवान् महावीर का सन्देश

• डा० (श्रीमती) शान्ता भानावत

आज व्यक्ति, परिवार, समाज और विश्व सभी युद्ध की विभीषिका से अशांत और भयत्रस्त है। शीतयुद्ध और गृहयुद्ध की यह चिनगारी कभी भी विश्वयुद्ध का रूप ले सकती है। इतिहास के पृष्ठ जन-संहार और रक्तपात से भरे पड़े हैं। इस अपार नर-संहार के पीछे क्या रहस्य है? अपना स्वार्थ-पोषण और सत्ता-लिप्सा। राजनीतिवेत्ताओं का कहना है कि जो राष्ट्र अर्थ, शस्त्र और धन-धान्य में समर्थ होता है, वह सदैव कमजोर राष्ट्र को दबाने की कोशिश करता है।

हिंसा से वैर बढ़ता है। आज जो अशक्त है, उसे बलवान दबाता है। कमजोरी के कारण वह उसका प्रतिकार नहीं कर पाता। परन्तु जब भी वह सशक्त होगा, अपना प्रतिशोध अवश्य लेगा। इससे हिंसा-प्रतिहिंसा की शृंखला बढ़ती चली जायेगी और इस क्रम में प्राणियों की हत्याएं होंगी, राष्ट्र की सम्पत्ति नष्ट होगी, व्यक्ति की सृजनात्मक शक्ति का ह्रास होगा और मानव-सभ्यता का सम्पूर्ण विकास निःशेष हो जायेगा। इस हिंसाजन्य क्रूर प्रवृत्ति से बचने के लिए भगवान् महावीर ने अहिंसा के मार्ग को ही श्रेष्ठ उपाय बतलाया है।

१. अहिंसावाद :

एक समय था जब दुनिया बहुत बड़ी थी। आज वैज्ञानिक प्रगति और तकनीकी विकास ने समय और स्थान की दूरी पर विजय प्राप्त कर दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है। परिणामस्वरूप दुनिया के किसी भी भाग में घटित साधारण सी घटना का प्रभाव भी पूरे विश्व पर पड़ता है। आज दो राष्ट्रों की लड़ाई केवल उन्हीं तक सीमित नहीं रहती। उससे विश्व के सभी राष्ट्र आन्दोलित हो उठते हैं और जन-मानस अशान्त और भयभीत हुए बिना नहीं रहता। भगवान् महावीर ने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भय-मुक्ति के लिए अहिंसा-सिद्धान्त का उद्घोष किया। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सबको अपना जीवन प्रिय है। मनुष्य तो क्या उन्होंने पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के जीवों की रक्षा करने तक की पहल की है। अखण्ड सृष्टि के प्रति यह प्रेममार्ग ही विश्व-शांति का मूल है।

महावीर का अहिंसा-सिद्धान्त बड़ा सूक्ष्म और गहन है। उन्होंने किसी प्राणी की हत्या करना ही हिंसा नहीं माना, उनकी दृष्टि में तो मन में किये गये हिंसक कार्यों का समर्थन करना भी हिंसा है। यदि अहिंसा की इस भावना को व्यक्ति किंचित् भी अपने हृदय में स्थान दे तो फिर अशांति और आकुलता हो ही क्यों ?

२. समतावाद :

अहिंसा-सिद्धान्त का ही विधायक तत्व है समता, विषमता का अभाव। दुनिया में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, सभी समान हैं। समतावाद के इस सिद्धान्त द्वारा महावीर ने जातिवाद, वर्णवाद और रंगभेद का खण्डन किया और बताया कि व्यक्ति जन्म या जाति से बड़ा नहीं है। उसे बड़ा बनाते हैं उसके गुण, उसके कर्म। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है। महावीर के समय में वर्ण व्यवस्था बड़ी कठोर थी। शूद्रों को समाज में अधम और निकृष्ट माना जाता था। नारी की भी यही स्थिति थी। उसके लिए साधना के मार्ग बन्द थे। महावीर ने इस व्यवस्था के विरुद्ध क्रांति की। हरिकेशी जैसे शूद्र कुलोत्पन्न उनके साधु संघ में थे और चन्दनबाला जैसी नारी को न केवल उन्होंने दीक्षित ही किया वरन् साध्वी संघ का सम्पूर्ण नेतृत्व भी उसे सौंपा। वे स्वयं क्षत्रिय थे परन्तु उनके अनुयायियों में ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सभी सम्मिलित थे।

महावीर के इस समता-सिद्धान्त की आज भी विश्व को बड़ी जरूरत है। भारत में वर्ण-व्यवस्था में आज भले ही थोड़ी ढील आई हो परन्तु दक्षिण अफ्रीका और अमेरिका में काले-गोरे का भेद आज भी विद्यमान है। नीग्रो आज भी वहां हीन दृष्टि से देखा जाता है। धर्म, सम्प्रदाय और जाति के नाम पर आज भी विश्व में तनाव और भेद-भाव है। यदि महावीर के इस सिद्धान्त को सच्चे अर्थों में अपना लिया जाये तो यह विश्व सबके लिए आनन्दस्थली और शांतिधाम बन जाये।

३ अपरिग्रहवाद :

२०वीं शताब्दी में शांति का क्षेत्र बड़ा व्यापक हो गया है। आज व्यक्तिगत शांति के महत्व से अधिक महत्व विश्वशांति का है। इस सामूहिक शांति की प्राप्ति के लिए मानव ने अनेक साधन ढूंढ निकाले हैं लेकिन अब तक उसे शांति नहीं मिल पाई है। इसका मूल कारण है—आर्थिक वैषम्य।

भगवान् महावीर ने इस विषमता को दूर करने का जो सूत्र दिया, वह आज भी प्रभावकारी है। उनका यह सिद्धान्त अपरिग्रहवाद के नाम से जाना जाता है। अपरिग्रहवाद से तात्पर्य है-ममत्व को कम करना, अनावश्यक संग्रह न करना। संसार में झूठ, चोरी, अन्याय, हिंसा, छल, कपट, आदि जो पाप हैं, उनके मूल में व्यक्ति की परिग्रह की भावना अधिकाधिक उपार्जन की प्रबल इच्छा ही है। इस प्रबल इच्छा को सीमित रखना ही अपरिग्रह है।

इन इच्छाओं पर अंकुश लगाने का एक बहुत ही सरल उपाय भगवान् महावीर ने बताया। उन्होंने कहा—आवश्यकता से अधिक संग्रह मत करो। अपनी आवश्यकताओं को

सीमित बनाओ। यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकतायें सीमित कर लेगा तो उसकी इच्छाएं स्वतः सीमित हो जायेंगी।

विज्ञान की उन्नति से यद्यपि आज वस्तुओं का उत्पादन कई गुना बढ़ गया है तथापि उनका अभाव ही अभाव परिलक्षित होता है। आज भी बहुत से ऐसे लोग हैं जिनके पास खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र सुलभ नहीं है। इसका कारण है कि मानव, समाज और राष्ट्र की संग्रह-वृत्ति ने कृत्रिम अभाव पैदा कर दिया है। आज का व्यक्ति बड़ा लोभी है। वह वस्तुओं का संग्रह कर बाजार में उसका अभाव देखना चाहता है। ज्योंही वस्तुओं का अभाव हुआ कि उनकी बड़ी कीमतों को प्राप्त कर वह लखपति, करोड़पति बनना चाहता है। वस्तुओं के अभाव में उत्पन्न हुई अपने ही भाइयों की परेशानियों की वह बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करता।

आवश्यकता से अधिक वस्तुएं एक स्थान पर संगृहीत न की जायें तो वे सबके लिए सुलभ हो जायेंगी। फिर पूंजीवाद और साम्यवाद के नाम से जो विरोध और संघर्ष आज चल रहे हैं, वे स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा—अशांति का मूल कारण वस्तु के प्रति ममत्व एवं आसक्ति का होना है। संगृहीत वस्तु पर किसी प्रकार की आंच नहीं आये, उसे कोई लेकर नहीं चला जाय, इस चिन्ता से उसके संरक्षण और संवर्धन की भावना पैदा होती है। अन्य व्यक्ति उस वस्तु को लेना चाहेगा तो उससे संघर्ष होगा। फलस्वरूप युद्ध होगा रक्तपात होगा और अशांति बढ़ेगी।

संसार में कोई भी व्यक्ति न कुछ साथ लेकर आता है न कुछ साथ लेकर जाता है। फिर अर्जित वस्तुओं पर इतनी ममता क्यों? तृष्णा व हाय-हाय क्यों? संघर्ष व द्वेष क्यों? वस्तुएं सभी यहीं पड़ी रहेंगी, हमें सब यही छोड़ कर जाना है, जीवन क्षणभंगुर है। न मालूम कब मृत्यु आ जाय। अतः हमें ममत्व भाव को छोड़ समभाव को अपनाना चाहिए। यही समत्व भाव भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद है।

जब यह समत्व भाव मन में आयेगा तब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने की कोशिश नहीं करेगा, उसे अपना उपनिवेश नहीं बनायेगा, तानाशाह बनकर वहां के जन-धन का संहार नहीं करेगा। किसी को अपने आधीन रखने की भावना उसमें जन्म नहीं लेगी। सभी स्वाधीन हैं। वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का विकास करें। ऐसी सर्वहितकारी भावना से निश्चय ही विश्वशांति को बल मिलेगा।

कार्ल मार्क्स ने भी आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए वर्ग-संघर्ष और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पर मार्क्स की विवेचना का आधार भौतिक पदार्थ है, उसमें चेतना को नकारा गया है जब कि महावीर की विवेचना चेतनामूलक है। इसका केन्द्र-बिन्दु कोई जड़ पदार्थ नहीं, वरन् व्यक्ति स्वयं है।

४.अनेकांतवाद :

अशांति के मुख्य कारण हठवादिता, दुराग्रह, और एकान्तिकता हैं। विज्ञान के विकास ने व्यक्ति को अधिक बौद्धिक और तार्किक बना दिया है। वह अपने, प्रत्येक तर्क को सही मानने का दंभ भरता है। दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का वह प्रयत्न नहीं

करता। इस अहंभाव और एकांत दृष्टिकोण से आज व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र सभी पीड़ित हैं। इसीलिए उनमें संघर्ष है, सौहार्द का अभाव है।

भगवान् महावीर ने इस स्थिति से विश्व को उबारने के लिए अनेकांतवाद (सिद्धांत) का प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं। उन पक्षों को उन्होंने धर्म की संज्ञा दी। इस दृष्टिकोण से संसार की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। किसी भी पदार्थ को अनेक दृष्टियों से देखना, किसी भी वस्तु तत्व का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पर्यालोचन करना अनेकांतवाद है।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु को यदि कोई एक ही धर्म में सीमित करना चाहे, किसी एक धर्म के द्वारा होने वाले ज्ञान को ही समग्र वस्तु का ज्ञान समझ बैठे तो यह वस्तु को यथार्थ स्वरूप में समझना न होगा। सापेक्ष स्थिति में ही यह सत्य हो सकता है, निरपेक्ष स्थिति में नहीं। हाथी को खंभे जैसा बतलाने वाला व्यक्ति अपनी दृष्टि से सच्चा है, परन्तु हाथी को रस्सी जैसा कहने वाले की दृष्टि में वह सच्चा नहीं है। अतः हाथी का समग्र ज्ञान करने के लिए, समूचे हाथी का ज्ञान कराने वाली सभी दृष्टियों की अपेक्षा रहती हैं। इसी अपेक्षा दृष्टि के कारण 'अनेकांतवाद' का नाम अपेक्षावाद और स्याद्वाद भी है। स्यात् का अर्थ है-किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि से और वाद का अर्थ है-कथन करना, अपेक्षा विशेष से वस्तु तत्व का विवेचन करना ही स्याद्वाद है।

अनेकान्तवाद कहता है कि यह वस्तु एकांततः ऐसी ही है, ऐसा मत कहो। 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करो। इससे ध्वनित होगा कि इस अपेक्षा से वस्तु का स्वरूप ऐसा भी है। इस प्रकार के कथन से संघर्ष नहीं बढ़ेगा और परस्पर समता तथा सौहार्द का मधुर वातावरण निर्मित होगा।

भगवान् महावीर ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन तत्व अपने में पूर्ण होते हुए भी वह कई अंशों की अखण्ड समष्टि है। इसीलिए अंशी को समझने के लिए अंश का समझना भी जरूरी है। यदि हम अंश को नकारते रहे, उसकी उपेक्षा करते रहे तो हम अंशी को उसके सर्वांग सम्पूर्ण रूप में नहीं समझ सकेंगे। सामान्यतः झगड़े, दुराग्रह, हठवादिता आदि एक पक्ष पर अड़े रहने के कारण ही होते हैं। यदि उनके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह से देख लिया जाय तो कहीं न कहीं सत्यांश निकल ही आयेगा। एक ही वस्तु या विचार को एक तरह से न देख कर उसे चारों ओर से देख लिया जाय, फिर किसी को ऐतराज न रहेगा।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अपने सापेक्षवाद सिद्धान्त को इसी भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। व्यक्ति ही नहीं, आज के तथाकथित राष्ट्र भी दुराग्रह और हठवादिता को छोड़ कर यदि विश्व की समस्याओं को सभी दृष्टियों से देख कर उन्हें हल करना चाहें तो अनेकांत दृष्टि से ससम्मान हल कर सकते हैं।

महावीर को हुए लगभग २५०० वर्ष बीत गये हैं पर उनका अहिंसा, समता, अपरिग्रह और अनेकांत का सिद्धान्त आज भी उतना ही ताजा और प्रभावकारी है, जितना कि वह उस समय था।

•••

२४

वर्तमान नेतृत्व महावीर से क्या सीखे ?

• श्री सौभाग्यमल जैन

ज्ञान और कर्म का सामंजस्य :

एक जैन आचार्य ने भगवान् महावीर की स्तुति में कहा था—

मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभ्रताम् ।
ज्ञातारं विश्व तत्वानां, वंदे वीरम्जिनेश्वरम् ।।

उक्त श्लोक में भगवान् महावीर की वंदना करते हुए कहा गया कि आप मोक्ष मार्ग के नेता हैं। आपने कर्मो को नष्ट कर दिया है तथा विश्व के तत्त्वों (रहस्यों) के आप ज्ञाता हैं। तात्पर्य यह कि उक्त स्तुतिकार ने भगवान् को मोक्ष-मार्ग के नेता, पथ-प्रदर्शक, मार्ग-दर्शक होना बताते हुए समस्त कर्मो के नष्ट करने तथा विश्व-रहस्य को जानने वाले निरुपित किया है। यदि हम गहराई से विचार करें तो हमें यहीं वह कुंजी प्राप्त हो सकती है कि नेतृत्व में किस प्रकार के गुण अपेक्षित हैं ? नेता (पथ-प्रदर्शक) में कर्म और ज्ञान का साम्य चाहिये। उसका ज्ञान इतना विशाल हो कि वह सब रहस्यों को जान सके, तथा कर्म में उसको अदम्य साहस हो। कहा जाता है कि भगवान् महावीर के संचित कर्म अत्यधिक थे इस कारण उनको चकनाचूर करने के लिये उन्हें अथक तपस्या करनी पड़ी।

नेता तब और अब :

भारतीय स्वतन्त्रता से पूर्व 'नेता' शब्द उन्हीं त्याग-तपस्या के धनी प्रतिभासम्पन्न विशिष्ट व्यक्तियों के लिये उपयोग में लाया जाता था, जिनका राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय योगदान होता था, जो भारतीय जन-मानस को स्वातन्त्र्य युद्ध में दिशा-बोध कराकर राष्ट्र में निर्भयता व सदाचार का भाव भरते थे तथा जो एक शक्तिशाली विदेशी शासन से लोहा लेने के लिये सदैव तैयार रहते थे। किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् के काल में 'नेता' शब्द का प्रयोग अपवाद को छोड़कर केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त किया जा रहा है जिनके हाथों में शासन का सूत्र है। कहा जाता है कि प्रजातंत्र में शासन के मंत्री, मुख्यमंत्री अथवा प्रधान मंत्री ही नेता होते हैं। उन्हीं पर देश को प्रगति के मार्ग पर ले जाने का उत्तरदायित्व है। देश को किस रास्ते पर ले जावें, यह उन्हीं को तय करना है। यह बात सर्वांश में चाहे सत्य न हो किन्तु अधिकांश में सत्य है। यह सही है कि अपवाद रूप कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो शासन के अंग न होते हुए भी देश का दिशा-दर्शन करते हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि प्रभावशाली रूप से शासकीय नेता ही देश की दिशा तय कर सकते हैं।

वर्तमान नेतृत्व :

उपर्युक्त दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में यह विचारणीय प्रश्न हैं कि वर्तमान नेतृत्व (शासकीय) भगवान् महावीर से क्या सीखे ? आज का अधिकतर नेतृत्व देश की श्रद्धा-आदर का पात्र नहीं रह गया है। स्वतंत्रता-पूर्व के नेता को अधिकतर अपने व्यक्तिगत गुणों के आधार पर नेतृत्व प्राप्त होता था। आज नेता आम चुनाव के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं। चुनाव में सब व्यक्ति अच्छे तथा गुण सम्पन्न ही आयें, यह आवश्यक नहीं है। प्रजातंत्रात्मक शासन-पद्धति में मत पत्र की गणना होती है, उनको तोला नहीं जाता यानी यह जाँच नहीं होती कि मत किसका दिया हुआ है, और किसे दिया है ? आम चुनाव में सफल व्यक्ति विधान सभा या संसद् का सदस्य होकर स्थानीय नेतृत्व प्राप्त कर लेता है। उनमें से ही एक बहुमत दल का नेता बनकर प्रादेशिक नेतृत्व प्राप्त कर लेता है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है कि प्रजातंत्र में शासन औसत दर्जे का मिलता है और इस संदर्भ में उन्होंने पशुशाला (गुवाडे) की बात कही थी, कि एक ही गुवाड़े की सब गायों का दूध मिश्रित होता है। कोई गाय निरोग कोई रोगी होती है। इसी प्रकार प्रजातंत्र का यह मुखिया (नेता या मुख्य मंत्री) औसत दर्जे का व्यक्ति होता है।

आज के नेतृत्व के संबंध में अधिकतर जनमानस यह है कि वह कुर्सी-प्रेमी (Job-seeker) है। एक विचारक के अनुसार विश्व आज तीन प्रकार के व्यक्तियों में विभाजित हैं—मार्क्स के अनुसार भौतिकवादी, फ्रायड के अनुसार काम-पिपासु तथा शेषपद-अभिलाषी।

अनर्गल लक्ष्य : अशुद्ध साधन :

आज के जन-मानस की यह भी स्पष्ट धारणा है कि आज के नेतृत्व को गांधीजी के अनुयायी होने के दावे के बावजूद उनके लक्ष्य तथा साधन की शुद्धता का आग्रह नहीं है। वह अनर्गल लक्ष्य प्राप्ति के लिये अशुद्ध साधन का प्रयोग करता है। इस सब के अतिरिक्त हमारे नेतृत्व के जीवन में व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन का भेद दिन-प्रति-दिन स्पष्ट होता जा रहा है। चाहे गांधीजी के रहे-सहे प्रभाव के कारण इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार न किया जाय किन्तु व्यवहार में यह उतना ही स्पष्ट दीख रहा है। देश में नेतृत्व के जीवन की शुद्धता और पवित्रता का भाव नष्ट होता जा रहा है। जन-मानस की धारणा बनती जा रही है कि आज का अधिकतर नेतृत्व भ्रष्टाचार, पक्षपात, भाई-भतीजावाद आदि में निहित है।

यदि हम गत २५ वर्षों के अखिल भारत के काले कारनामों (काण्डों) की तालिका तैयार करें तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जायेगा। जितने काण्ड सामने आते हैं यदि वे सब सत्य न हों तब भी पर्याप्त मात्रा में उनमें सत्य निहित रहता है, इसमें सन्देह नहीं। हमारे नेतृत्व ने इस प्रकार के काण्डों की पुनरावृत्ति न हो इस प्रकार का कोई ठोस उपाय नहीं खोजा। शासकीय नेता का व्यवहार अधिकतर इस प्रकार का होता है कि वह पहले उसकी सच्चाई से इन्कार करता है, जांच कराने की बात कहता है। जांच में प्रत्येक संभव

प्रकार के तरीके अपना कर असत्यता का पोषण करने का प्रयत्न किया जाता है तब भी सफलता न मिले और जांच का परिणाम विपक्ष में हो तो पक्षपात या इसी प्रकार की अन्य बात कही जाती है। अंग्रेजी में कानूनी जगत में एक उक्ति प्रसिद्ध है—

"Deny everything, don't concede, if defeated, plead fraud."

नेतृत्व शंका से परे हो :

प्रश्न यह है कि उपर्युक्त परिस्थिति में क्या कोई नेतृत्व गांधी जैसी श्रद्धा तथा जवाहर जैसा प्यार देश से प्राप्त कर सकता है ? कहा जाता है कि सार्वजनिक जीवन से सम्बद्ध लोग कांच के मकान में रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनकी प्रत्येक बात पर जन-मानस की दृष्टि रहती है तथा उनमें सार्वजनिक जीवन प्रभावित होता है। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनका व्यवहार शंका से परे हो। यदि किसी के व्यवहार के सम्बन्ध में जन-मानस में शंका फैल जावे और जिससे जन-मानस क्षुब्ध होता नजर आये तब रामायण काल की भगवती सीता की घटना के अनुसार क्या उसका समुचित त्याग उचित नहीं कहा जा सकता है ? किन्तु आज हमारे राष्ट्रीय चरित्र में ऐसा उदाहरण लक्षित नहीं होता है।

नेतृत्व केवल राजनैतिक रह गया :

इस प्रकार के नेतृत्व का परिणाम देश और समाज पर स्पष्ट दीख रहा है। स्वतन्त्रता-पूर्व के काल मे राष्ट्रीय नेताओं के कार्यकलापों में जो सात्विकता विद्यमान थी, जीवन-पद्धति में जो सरलता, सादगी और प्रामाणिकता के प्रति आकर्षण था वह प्रतिदिन कम होता जा रहा है। आज देश को पाश्चात्य जीवन-पद्धति का अंधानुकरण करने के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है। जिस देश ने अहिंसा के द्वारा स्वतंत्रता अर्जित की है उसी देश का वातावरण आज हिंसामय होता जा रहा है। छोटे-छोटे प्रश्नों को हल करने के लिये हिंसा, तोड़-फोड़, तालाबंदी आदि का प्रयोग किया जा रहा है। व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट करने का कार्य, राजनीतिक दल तथा उनके अनुयायी द्वारा होने की घटनाये सबको ज्ञात हैं। अहिंसा के हामी इस देश में सभी से (जिसमें अहिंसक तथा सात्विक खानपान के हामी भी सम्मिलित हैं) टैक्स का धन प्राप्त करके असात्विक आहार का प्रचार कराया जा रहा है, उसे शासकीय माध्यम से प्रोत्साहित किया जाता है। आज के वातावरण के लिहाज से यदि कोई सात्विकता, प्रामाणिकता की बात करता है तो वह युगबाह्य घोषित कर दिया जाता है। गांधीजी के युग की शराबबंदी तथा श्रम-निष्ठा के रूप में आदतन खादी पहनने का नियम भी आज युग-बाह्य माना जाता है। वास्तविकता यह है कि नेतृत्व अधिकार-मद सम्पन्न है। इस अधिकार मद के कारण हमारे नेतृत्व के जीवन मूल्य सारे परिवर्तित हो गये हैं। सरलता सादगी का नामोनिशान नजर नहीं आता। शराबबंदी का आग्रह प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है। कई के व्यक्तिगत व्यवहार में वह एक अभिन्न वस्तु हो गई है। श्रम निष्ठा निःशेष हो गई है। आज का नेतृत्व सच्चे अर्थ में केवल 'राजनैतिक' रह गया है। उसमें से राष्ट्रीयता गायब हो गई है। एक विचारक के ये शब्द इसी तथ्य को प्रकट करते हैं—

Statesman is an individual who thinks that he belongs to the nation, if nation will survive he will survive while politician is an individual who thinks that nation belongs to him., if he will survive nation will survive

नेतृत्व व्यक्ति-निरपेक्ष हो :

वास्तविकता यह है कि जिस प्रकार राज्य का धर्म निरपेक्ष (अधार्मिक नहीं) होना आवश्यक है उसी प्रकार से नेतृत्व को व्यक्ति निरपेक्ष होना चाहिये था, किन्तु नेतृत्व के आसपास या तो भाई-भतीजा का जमघट है या खुशामदियों (चाटुकारियों) का, इस कारण शासकीय सेवा में भरती, चयन आदि के प्रति जन-मानस में विश्वास का भाव जाता जा रहा है।

नेतृत्व, महावीर से यह सीखे :

सिद्धान्तहीन राजनीति के इस युग में निराशा ही निराशा लगती है। जिस प्रकार भगवान महावीर के जीवन में ज्ञान और कर्म का सामन्जस्य था उसी प्रकार यदि हमारा नेतृत्व सामन्जस्य स्थापित कर सके तो निश्चित रूप से शासकीय नेतृत्व सही दिशा की ओर प्रयाण कर सकता है। गांधीजी में दार्शनिकता तथा कर्मयोगित्व का यह सामंजस्य था। निराशा के युग में इसकी कम सम्भावना है कि आज का नेतृत्व भगवान् महावीर से स्वयं कोई शिक्षा ग्रहण करेगा। यह पृथक् बात है कि समस्याओं के उलझते जाने के परिणामस्वरूप नेतृत्व को भगवान् महावीर के सिद्धान्तों तथा जीवन से प्रेरणा प्राप्त करने तथा उस अनुसार वर्तन करने को बाध्य होना पड़े। भगवान् महावीर के निर्वाण को २५०० वर्ष हो गये हैं। उनके अनुयायियों में कई राजा, कई मंत्रीगण भी थे। हालांकि तत्कालीन मंत्री राजा की इच्छा पर ही अधिक निर्भर करते थे। कई गणतंत्र भी थे किन्तु इस व्यवस्था का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। भगवान् महावीर के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन तथा उसीका गुरु विष्णु गुप्त था जो चाणक्य के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उस विद्वान् ने ३,००० श्लोकों का एक ग्रन्थ 'कौटिल्य अर्थ शास्त्र' की रचना की थी। उसने राजा तथा मंत्री की विशेषता बताते हुए कहा कि मंत्री को दृढ़ चित्त, शील सम्प्रिय, प्राज्ञ, दक्ष आदि होना चाहिये। आज के नेतृत्व को भगवान् महावीर के जीवन से प्रेरणा प्राप्त करके तथा उनके द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों पर अमल करके देश में एक ऐसा सात्विक वातावरण निर्मित करना चाहिए कि जिससे नागरिकों में उसके प्रति आदर-श्रद्धा उत्पन्न हो तथा सब सुख अनुभव कर सकें। जितना जितना हम इस दिशा में सोचते हैं, हमें इस बात की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है कि भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की आज अन्य किसी युग की अपेक्षा अधिक आवश्यकता है।

कथनी-करनी की एकता :

भगवान् महावीर के कार्यकलाप का हम आकलन करें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने थोथी मान्यताओं, विचारहीन रूढ़ियों का विरोध किया तथा सामाजिक, आर्थिक विषमता

समाप्त करने की दिशा में अत्यधिक परिश्रम किया। भगवान् महावीर का जीवन घटना-बहुल नहीं है फिर भी जो घटनाएं स्पष्ट हैं उन पर हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि अपने जीवन के शैशवकाल में ही सर्प की घटना में उन्होंने अदम्य साहस का परिचय दिया। साधना प्रारम्भ करने के पूर्व निर्णय यह लिया कि जब तक साधना पूर्ण न हो तब तक किसी को उपदेश नहीं दिया जायगा तथा उन्होंने जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसी का साधना पूर्ण होने के पश्चात् उपदेश दिया। यदि यह कहा जाये कि उन्होंने जो किया, उसीका उपदेश दिया तो अनुचित नहीं होगा। उनके वाणी और कर्म मे साम्य रहा है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने देश में सात्विक जीवन का वातावरण निर्माण किया। भगवान् महावीर का जीवन इतना सर्वांगपूर्ण है कि आज का नेतृत्व यदि उससे शिक्षा ग्रहण करे तो इस धरा को स्वर्ग बनाया जा सकता है।

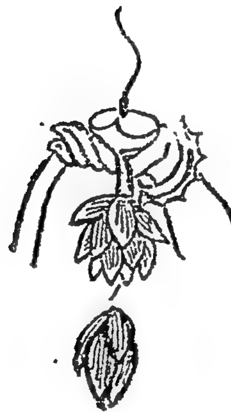
सादगी और सरलता :

मेरे विचार में हमारे नेतृत्व को सर्वप्रथम सादगी और सरलता का महत्व स्थापित करके सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन करना चाहिये ताकि मानव का दृष्टिकोण अर्थप्राधान्य न रहकर मानवीय हो सके। जिस प्रकार भगवान् महावीर ने प्रचलित रूढ़ियों का डट कर विरोध किया उसी प्रकार नेतृत्व को उपर्युक्त परिस्थिति के उन्मूलन के लिये दृढ़प्रतिज्ञ होना चाहिये किन्तु इसके लिये प्रबल आत्मबल की आवश्यकता है। आत्मबल किसी भी मानव में तब उत्पन्न होगा जबकि उसका वैयक्तिक आचरण शंका से परे तथा कथनी के अनुरूप हो। यह नहीं हो सकता कि भाषा में तो सादगी सरलता की वकालत की जावे तथा आचरण मध्ययुगीन सामंतवाद के अनुकूल हो। इस प्रकार के कथनी-करनी के विरोध होने पर नेतृत्व की छाप जन-मानस पर ठीक नहीं पड़ सकती। भगवान् महावीर का युग तो बहुत प्राचीन है। यदि वह गांधी युग का आदर्श ही सामने रखे तो देश का बड़ा भला हो सकता है। गांधी नित नवीन थे। वे किसी वाद से बंधे नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि यदि मेरी कल की बात आज के विचार से गलत पड़े तो उसे छोड़ दो। वाद से बंध जाने पर नवीन विचारों के प्रगतिशील रुख में व्यवधान पड़ जाता है। भगवान् महावीर ने जिस प्रकार मानव के हेतु अपरिग्रह अथवा अल्प परिग्रह के सिद्धान्त का निरूपण किया, उसी प्रकार हमारे नेतृत्व को इस दिशा में पहल करनी चाहिये। आर्थिक विषमता की समाप्ति के बिना देश में घृणा और विद्वेष का वातावरण समाप्त नहीं हो सकता। यह तब हो सकता है जब नेतृत्व स्वयं इस प्रकार के व्रत का व्रती हो जाये। वह स्वयं अत्यधिक परिग्रही हो अथवा वैलासिक वस्तुओं का उपयोग करता हो और देश के नागरिकों को संचय वृत्ति के विरुद्ध आह्वान करें अथवा दैनन्दिन वस्तुओं के परिमित उपयोग की बात कहे तो उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब नेतृत्व स्वयं इस प्रकार का जीवन जीयेगा तब शासकीय तंत्र पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। नेतृत्व को शासकीय तंत्र में ईमानदारी तथा प्रमाणिकता लाने का प्रयत्न करना चाहिये। वैयक्तिक गुणों के आधार पर ही मनुष्य में साहस का संचार होता है।

प्रामाणिकता व वाक्संयम :

हमारे नेतृत्व को मितभाषी होने का प्रयास करना चाहिये। स्वतंत्रता के पश्चात् २५ वर्ष के भीतर ही देश में निराशा का वातावरण बनाने में हमारे नेतृत्व का अतिभाषी होना भी एक महत्वपूर्ण कारण है। होता यह है कि नेता के भाषण में आम जनता को जो सब्ज बाग का चित्र (शाब्दिक) बताया जाता है उससे जनता में इच्छा, आकांक्षा उभरती है और यदि उसकी पूर्ति नहीं होती तो निराशा का जन्म होता है। जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, नेतृत्व का व्यक्तिगत जीवन साधनामय हो तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है। भगवान् महावीर से हमारा नेतृत्व क्या शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता ? यदि वह चाहे तो सब कुछ सीख लेकर धरती पर आदर्श मानवीय वातावरण का निर्माण कर सच्चे लोकराज की स्थापना कर सकता है।

●●●●



२५

महावीर की क्रान्ति से आज के क्रान्तिकारी क्या प्रेरणा लें ?

• श्री मिट्ठालाल मुरड़िया

क्रान्ति की चेतना :

स्वातन्त्र्य संग्राम के सेनानियों ने आजादी के लिए जो क्रांति की थी, वह देश के लिए मंगल-सूत्र का संकेत बनी थी, किन्तु फिरंगियों ने उस क्रांति को बगावत मानकर गद्दारी की सजा दी। इसमें उनका स्वार्थ था। सचमुच वह क्रांति न बगावत थी न कोई उपद्रव था। वह जो कुछ किया जा रहा था, राष्ट्र-हित के लिए ठीक था। उस क्रांति ने देशवासियों की करोड़ों सुषुप्त आत्माओं को जगाया था। इस क्रांति का मुख्य उद्देश्य जन-जन में चेतना फैलाना था देश-गौरव, देश-प्रेम, एकता और मैत्री का जन-जीवन में शंखनाद फूंक कर सोये हुये मानस को आंदोलित करना था। क्रांति के अंतराल में स्वतंत्रता प्राप्ति का लक्ष्य और भविष्य के उज्ज्वल सुख की आकांक्षाएं थीं, स्वाभिमान की रक्षा थी, देश को आत्मनिर्भर बनाकर ऊंचा उठाना था। इसके अतिरिक्त न कोई स्वार्थ था, न कोई लालच था। सच तो यह है कि वह क्रांति दमन से बढ़ी, कष्टों, अत्याचारों और कोड़ों की मार से फैली और फांसी से देश व्यापी हुई।

महावीर की क्रांति का वैशिष्ट्य :

किन्तु अहिंसक क्रांति के सृष्टा महावीर की क्रांति न केवल समाज के लिये, न केवल देश के लिये और न केवल धर्म के लिये थी। उनकी क्रांति थी मानव मात्र के लिये। एक का क्षेत्र सीमित था और दूसरी का क्षेत्र अखण्ड विश्व था।

महावीर की क्रांति पाखण्ड का भण्डा फोड़ करने, छुआछूत मिटाने, अहंकार और प्रमाद तोड़ने, निष्क्रियता हटाने, राग-द्वेष दूर करने, मैत्री स्थापित करने, सड़े-गले ढांचों को बदलने, समाज और धर्म को नया रूप देने, बिखरी कड़ियां जोड़ने, भाई-भाई को गले लगाने, विश्वास बढ़ाकर प्रेम फैलाने और जीवन-विकास की सभी व्यवस्थाएं आनन्दमय बनाकर जन-जीवन में सुख-शांति, न्याय और स्नेह फैलाने के लिये थी। इस क्रांति में न द्रोह था न हिंसा थी, न क्रोध था न दर्प था, न किसी के प्रति ईर्ष्या थी, न किसी का अहित था, न किसी का स्वार्थ था, न किसी पार्टी विशेष या धर्म विशेष को नीचा दिखाना था। जो था वह वास्तविक सत्य के समीप था।

एक क्रांति में देश-प्रेम और देश-गौरव लहरा रहा था और दूसरी क्रांति में क्षमा, धैर्य कर्तव्य, सेवा, दया, करुणा, प्रेम, परोपकार और समन्वय के भावात्मक समभाव तरंगति हो रहे थे। वह भी एक क्रांति थी और यह भी एक क्रांति थी। लक्ष्य प्राप्ति के बाद एक में अवसान था और दूसरी में जन-जीवन का शाश्वत कल्याण था। महावीर की क्राँति सीमातीत थी। यह अनेक भू-खण्डों में व्याप्त होकर व्यापक बन गई थी। वह एक विचार तरंग से उठी, वैराग्य से फैली, त्याग और कष्टों से आंदोलित हुई और उसकी लहरें देश-देशांतरों को छूती हुई ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो गई।

महावीर की व्यथा से आर्द्र और प्रेम से पूर्ण आह्वान, क्रांतिकारी ललकारें तथा मंगल भाव तरंगें देश के कोने-कोने में समा गई, अणु अणु में मिल गई। उनकी सुखपूर्ण वाणी कण-कण में लीन हो गई। क्या पेड़-पौधे, क्या पशु-पक्षी, क्या वनखण्ड, क्या निर्जन घाटियां, क्या शैल-शिखर क्या नदियां, और झरनों के स्वरों में मिलकर लक्ष-लक्ष कण्ठों से वह गूंज उठी कि 'सत्य की जय हो' 'अहिंसा की जय हो' 'सभी सुखी हों।

मानस-परिवर्तन की प्रक्रिया :

एक में प्राप्ति थी और दूसरी में मानस परिवर्तन की सुधारात्मक जागृति थी। घृणा की जगह प्रेम था, हिंसा की जगह अहिंसा थी। उसमें एक भाव था, एक विचार था, एक दृष्टि थी, एक राग और एक ही स्वर था। यह कितने आश्चर्य की बात है कि एक के लिए समूचा देश लड़ रहा था और दूसरी के लिए केवल एक ही व्यक्ति झूझ रहा था। एक ही व्यक्ति बलिदान पर बलिदान दे रहा था ? जीवन के सम्पूर्ण सुखों का त्याग कर रहा था। एक ही साहसी महारथी अपनी योग्यता का परीक्षण कर रहा था। वह परीक्षण अविरल चलता रहा, तूफानों में, आँधियों में, बवंडरों में भी उसकी गति मन्द नहीं हुई। कितनी प्रबल प्रेरणा का प्रदीप लेकर वह क्रान्ति वीर आगे बढ़ा होगा दृढ़ निश्चय और निर्भीकता के साथ, प्रेम, मैत्री, सद्भाव और सद् विचारों का दीप जला कर किन संकटों में आलोक फैलाया होगा ?

उन प्रतापी पुरुष को अपमान भी बुरा न लगा, अनादर से भी उन्हें घृणा नही हुई, पत्थरों की वर्षा से भी वे भयभीत नहीं हुए। मिट्टी के ढेलों, पागल कुत्तों और धूल की बौछारों से वे नहीं घबराये। दुःख में भी उन्हें सुख का आभास हो रहा था। उनका लक्ष्य था अंधकार से मानव को आलोक में लाना, आसक्ति छुड़ाना, लोभ-मोह से हटाना और जीवन में सच्चे सुख और आनन्द का अनुभव कराना ताकि मानव को कोई कामना न सतावे ? कोई लोभ पतन में न डाले, कोई स्वार्थ पथ भ्रष्ट न करे और कोई मोह न गिरावे।

जो सर्वस्व त्याग रहा हो उसे लोभ-लालच कैसे गिरा सकते हैं ? शीत, वर्षा और धूप कैसे दुःख पहुँचा सकते हैं ? दुःख उनके पास सुख हो जाता, पीड़ा उनके पास आनन्द की प्रतीक बन जाती और वे निरन्तर ऊपर उठते जाते।

यह क्रान्ति वीर शान्ति के लिये लड़ा, मैत्री और प्रेम के लिए लड़ा, इस लड़ाई में किसी का अहित नहीं हुआ। उस वीर ने लक्ष्य प्राप्ति के बाद किसी साम्राज्य को भू-लुंठित करने की कामना नहीं की, किसी सम्राट को नीचा दिखाने की नहीं सोची, बड़प्पन की धाक जमा कर पूर्णत्व का कहीं विज्ञापन नहीं किया। उनके दिल में एक अन्तर्नाद था। वे उसे दूर करने के लिए अकेले नंगे पावों से बिना किसी अवलम्बन के निकल पड़े और बीहड़ पंथों, निर्जन स्थलों, फूटे मन्दिरों, खण्डहरों, श्मशानों और पेड़ों के नीचे अलख जगाते रहे। साधना की पूर्ण उपलब्धि पर उनके जीवन की सर्वांगीण सफलता, शान्ति, सुख और आनन्द में बदल गई। यही शान्ति, सुख और आनन्द, पूर्णत्व है, शिवत्व है, ब्रह्मत्व है।

उनके मानस में क्षमा और वैराग्य का सागर लहरा रहा था, उसमें प्रेम और साहचर्य की ऊर्मियां उठ रही थीं। जीवन-दर्शियों को उसमें बहुमूल्य हीरे दीख रहे थे। ऐसी स्थिति मे उनके पास टोले के टोले आते। कोई उनसे क्षमा, कोई धैर्य, कोई सहन-शीलता, कोई करुणा, कोई दया लेकर अपने को गौरवमय बनाता। उनके जीवन दर्शन से सम्राटों ने अपना जीवन बदला और वे उनके साथ साधना पथ पर चल पड़े।

क्रान्ति : आत्म संक्रान्ति :

महावीर के पास जो कुछ था, वह अपना मौलिक अर्जित धन था। वह धन स्वयं की बुद्धि, अनुभव और वर्षों की साधना का नवनीत था। उनके अन्तर की प्रेरणा ही सर्वस्व थी। वे उसी प्रेरणा का सम्बल पाकर लाखों का जीवन बदलते हुए प्रतिज्ञा दिला कर विश्वास बढ़ा रहे थे। उनके मानस में एक प्रदीप जल रहा था। वह जल-जल कर धरित्री पर अदृश्य रूप से सुख और आनन्द का आलोक विकीर्ण कर रहा था।

वे जब भूतल पर दृष्टि डालते तो वर्तमान के साथ भविष्य भी उन्हें दृष्टिगत हो जाता था। पूर्णता प्राप्त कर लेने के बाद तो संसार के भावी चक्र पारदर्शी ग्लास की तरह उन्हें साफ दिखाई दे रहे थे क्योंकि वे निर्मोही होकर रागों के सम्पूर्ण बंधन तोड़ते हुए वीतरागी हो गये थे। मोह की बेड़ियां और लोभ और स्वार्थ के तारों को तोड़कर उत्तमोत्तम बन गये थे। यह उनकी अनुभव दृष्टि का ही कमाल था। साधना की ही देन थी। क्षमा और त्याग की ही विजय थी।

महावीर की क्रान्ति में जन जीवन का कहीं भी उत्पीड़न नहीं था। सर्वथा सुख और शान्ति थी। उनके उपदेशों में वैराग्य, साधना में शान्ति, ललकार में विवेक, दृष्टि में संतोष और हलन-चलन में चेतना पूर्ण विश्वास था। इसीलिए हाड़-मांस का एक व्यक्तित्व अनेकों व्यक्तियों को असाधारण रूप से प्रभावित कर रहा था, जन जीवन को झकझोर रहा था, हिंसा, असत्य और उन्माद के पर्दे तोड़ रहा था, काम-क्रोध-मद-लोभ मिटा कर दुर्गुणों के खिलाफ संघर्ष जारी था।

उनके प्रतापी व्यक्तित्व में देवत्व की झांकी झलक रही थी। त्याग और वैराग्य की सुरसरि सतत प्रवाहित हो रही थी, उसी में सभी स्नान कर रहे थे। कोई डुबकी लगा कर

उसमें से चिनन लाता, कोई सत्य की भावनामयी क्रियाशील शक्ति लाता, कोई कला और सौंदर्य की अनुभूति पाता, कोई आनन्द और सुख का पाठ पढ़ता, कोई क्षमा और विवेक लेता और कोई कला के अनेक रूप सजोता हुआ शान्ति पाता।

सत्य, अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह—ये उनके साधना और ध्यानमय जीवन के प्रतीकात्मक आनन्द बनकर अनुरंजन हो गये, रस में मिलकर समरस हो गये। ये सारे भाव, ये सारी मैत्री, ये सारी दृष्टियां, ये सारे दया और करुणा के प्रारूप, ये सारे मनोरम आकर्षण, ये सारे दिव्य रूप और ये सारी शालीनताएं जो इन चरम चक्षुओं से दिखाई दे रही हैं वे उनके भावनामय जीवन के अरागात्मक संदेश हैं।

क्रान्ति की जीवन्तता :

हजारों वर्ष बाद भी हम इस वीर की शांतिपूर्ण क्रांति को नहीं भूले हैं। जिसने रंग रूप के, जाति-पांति के, भेद-भाव के, दर्प-प्रदर्शन के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द कर समाज की जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था को नूतन रूप प्रदान किया, धर्म की बिखरी कड़ियां जोड़ीं और प्रेम और सद्भाव की तरंगें फैलाईं, मंगल-सूत्रों का प्रसारण किया और आस-पास के वायु मण्डल को त्याग, तप और वैराग्यमय बना दिया।

महावीर जानते थे कि मानव का पतन लोभ और स्वार्थ से होता है। परिवार के ये सारे रागात्मक सम्बन्ध, धन का मोह, ऐश्वर्य की आसक्ति और परिग्रह ही व्यक्ति को गिराने में सहायक होता है इसलिए वे त्याग और वैराग्य का ही उपदेश देते रहे।

वीर के मैत्री पूर्ण विचारों से सम्राटों का जीवन बदल गया, महीपालों के मस्तक झुक गए। सर्वत्र प्रेम और एकता की गंगा बहने लगी। महावीर जहां जाते, एक बहुत बड़ा समुदाय उनके साथ चल पड़ता। जिस ओर एक पांव उठता सैंकड़ों पांव उस ओर चल पड़ते, जिधर एक दृष्टि पड़ती, सैंकड़ों दृष्टियां नत हो जातीं और कोटि-कोटि कण्ठों से जय घोष हो जाता।

आज के क्रान्तिकारी प्रेरणा लें :

क्रांतिकारी महावीर से आज के क्रांतिकारी बहुत कुछ प्रेरणा लेकर अपने जीवन को धन्य बना सकते हैं। देश काल की परिस्थितियों को देखते हुए आज के क्रांतिकारी महावीर की क्रांति से अपने जीवन की अव्यवस्थित गतिविधियों को नूतन रूप दे सकते हैं। सच्चाई के लिए साहस और दृढ़ता का पाठ पढ़ सकते हैं, क्रांति में शांति रखकर विवेक को जगा सकते हैं।

आज के क्रांतिकारी महावीर के जीवन से सीखें कि कर्तव्य पथ पर डटे रहने और अपना संकल्प पूर्ण करने के लिए कभी हिम्मत नहीं हारें। चाहे तूफान गिर रहा हो, चाहे बादल गरज रहे हों, चाहे विपत्तियों के पहाड़ टूट रहे हों, चाहे जीवन-नैया भीषण खतरे में गिर रही हो, ऐसे समय में भी क्रान्तिकारी धैर्य और विवेक के साथ शान्तिपूर्ण तरीके से अपना कर्तव्य पूर्ण करें।

आज के क्रान्तिकारी महावीर से सीखें कि उन पर शासक दल द्वारा कितना ही दमन चक्र चलाया जा रहा हो, कितनी ही शारीरिक यातनायें दी जा रही हों, फिर भी भावावेश में आकर वे देश का अहित न करें, देश की सम्पत्ति को हानि न पहुँचावें, तोड़-फोड़ न करें, बसों और पैट्रोल टेन्कों में आग न लगावें, रेलों की पटरियों के बोल्ट नहीं निकालें, हिंसा पर उतारू होकर जन-जीवन को खतरे में न डालें, क्योंकि अशान्ति से, हड़ताल से, उपद्रव से जो कुछ हानि होती है वह समूचे राष्ट्र की होती है। जनता के खून पसीने की कमाई स्वाहा हो जाती है। ऐसी हानि से सारा राष्ट्र प्रभावित होता है।

आज के क्रान्तिकारी महावीर से सीखें कि उनकी क्रान्ति निजी स्वार्थ के लिए नहीं हो। जनता की भलाई के लिए हो। देश प्रेम की वृद्धि और एकता बढ़ाने के लिए हो। क्रान्ति के नाम पर गुण्डागर्दी करना, मां-बहिनों को सता कर उनका सतीत्व हरण करना, यह ऋषियों और तीर्थंकरों के देश के लिए शोभास्पद नहीं है। क्रान्तिकारी अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ें ताकि समाज और देश का भला हो सके।

क्रान्ति के नाम पर हड़तालें करना, उत्पादन रोकना, अधिक लाभ की दृष्टि से जीवनोपयोगी वस्तुएं छिपाना द्रोह है।

आज के क्रान्तिकारी महावीर से सीखें कि धन, सम्पत्ति सत्ता और अधिकार को ही महत्व देकर एक मानव, दूसरे मानव को न सतावे, एक मानव, दूसरे मानव को न डरावे, एक मानव दूसरे मानव का शोषण न करे, एक मानव दूसरे मानव का सुख न लूटे, उसके बच्चों की रोटी न छीने, एक मानव, दूसरे मानव से भय न खाए, भय नाम की कोई वस्तु नहीं रहे। सन्देह और घृणा के सभी तार दो टूक हो जायें और एक मानव का, दूसरे मानव पर आशा और विश्वास बढ़ जाय और सभी सुख से अपना जीवन व्यतीत करें।

महावीर ने कहा हम किसी के भय के कारण न बनें और कोई हमारे लिए भय न बने। हम सभी के मित्र हैं, हमारे भी सभी मित्र हैं, हम किसी को विवश न करें और हमारे से भी कोई विवश न हो। महावीर ने कभी यह नहीं कहा कि अनुभव और ज्ञान के आधार पर मैं जो कुछ कह रहा हूं वह सत्य है और तुम जो कहते हो वह असत्य है। महावीर ने कहा कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, सभी विकासशील हैं। सभी अपने प्रयत्न से प्रगति कर सकते हैं।

वह क्रान्ति पुरुष अब नहीं हैं किन्तु उनके अमर सन्देश विश्व में गूंज रहे हैं, हमारी हृदयतन्त्रियों को झकझोर रहे हैं। हमारा कर्तव्य है कि उनके आलोकित पथ का अनुसरण कर हम अपने जीवन को सफल बनावें।

••••

पञ्चम खण्ड

दार्शनिक संदर्भ

२६

भीतर की बीज-शक्ति को विकसित करें !

• आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

चेतन तत्त्व ऊपर उठे :

'मैं हूँ' की अनुभूति चेतना का लक्षण है। दुःख इस बात का है कि आज चेतन तत्त्व पर जड़ तत्त्व हावी होता जा रहा है। मानव जड़ पदार्थों के विकसित यन्त्रों का दास बनता जा रहा है। हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि हम जड़ तत्त्वों के पराधीन न हों, उनसे पराजित न हों। उन्हें स्वाधीन बनाकर रखें। इसके लिए धर्म-साधना और स्वाध्याय-सत्संग की बड़ी आवश्यकता है। इसी से हमें आत्मचेतना को पहचानकर, उसे विकसित करने की शक्ति और प्रेरणा मिलती है।

सेवा का अर्थ :

शास्त्रों में प्रसंग आता है कि राजकुमार सुबाहु और अदीनशत्रु महाराज सामान्य प्रजाजनों की ही भांति श्रमण भगवान् महावीर की सेवा करते हैं। उनकी सेवा का अर्थ है—तीर्थंकर भगवान् के दर्शन करना, उनकी मंगलवाणी का श्रवण करना, उनके वीतराग स्वरूप का दर्शन करना और मन, वचन, कर्म से उनकी वंदना करना। इन सबके मूल में है जीवन का धर्म मार्ग। उसका प्रथम चरण है—सन्तों की सेवा और सद्शास्त्रों का श्रवण, अध्ययन, मनन तथा ज्ञानोपार्जन। यही जीवन का बीज मंत्र है।

बीज की शक्ति :

आप सब जानते हैं कि छोटे से छोटा बीज भी बड़े से बड़े वृक्ष को जन्म देता है। छोटा बीज निर्माण के विशाल कार्य का कारण बनता है। वट का ही उदाहरण लीजिये। उसका बीज छोटा सा होता है किन्तु उसका विस्तार बड़ा और वर्षों तक जीवित रहने वाला वृक्ष। बीज से सहस्रों गुणा उसका विस्तार दिखाई देता है। अतः यह विचारणीय है कि निर्माण का, विस्तार का कारण क्या है ? कौन है ?

आप स्वयं कहेंगे कि उसका मूल है बीज। यदि बीज न हो तो मूल वृक्ष किससे पैदा होगा ? उसके पत्ते, शाखाएं, प्रशाखाएं, फल, फूल, जड़ कहां से उत्पन्न होंगे ? ये सब बीज की ही सृष्टि है। अच्छा बीज, अनुकूल परिस्थितियां, सद् वातावरण और संयोग से ही समय पाकर वह विस्तार पाता है। अतः यह स्पष्ट है कि बीज एक महान् शक्ति है।

हमारे भीतर का बीज :

हमारे भीतर, हमारी आत्मा में भी चेतना का एक बीज है और संत-सेवा, सद्शास्त्र-श्रवण, मनन, अध्ययन उसको अनुकूलता देने वाला शुभ वातावरण है। वट वृक्ष के बीज में विस्तार शक्ति है, उससे हजारों लाखों पत्ते, शाखाएं-प्रशाखाएं फूटती हैं, फल-फूल लगते हैं और समय पाकर लाखों-अरबों बीज उत्पन्न होते हैं। क्या हमारे भीतर का चेतना का बीज उस स्पष्ट दिखाई देने वाले वट वृक्ष के बीज से कम सशक्त है ?

बीज का अनादर न करें :

क्या आपने किसी किसान को बीज का अनादर करते देखा है ? वह छोटे से छोटे अच्छे बीज को संभालकर रखता है, क्योंकि वह उस बीज की शक्ति को जानता है, उसके मोल को समझता है। उसे ज्ञात है कि सरसों के एक बीज से कुछ काल बाद उसका खेत पीले-पीले फूलों से लहलहा उठेगा। एक बीज से अनन्त की सृष्टि का रहस्य उसे विदित है।

आप गांवों में उस किसान को देखें जिसके पास सौ-पचास आम के पेड़ हैं। वह अपने आपको किसी बड़े जमींदार-जागीरदार से कम नहीं समझता। आठ नौ महीने तक उसको कुछ नहीं मिलता पर वह अपने पेड़ों की सार-संभाल में लगा रहता है क्योंकि वह जानता है कि ऋतु आते ही उसका एक-एक पेड़ हजारों आम देगा। इसी ज्ञान के कारण, उसी आशा के कारण वह उन पेड़ों की देखभाल करता है। ये आम के पेड़ और उनसे प्राप्त होने वाले सैंकड़ों-हजारों फल एक नन्हें से बीज की विस्तार-शक्ति के प्रतीक ही तो हैं।

सूक्ष्म आत्मा : अनन्त गुण :

हमारे शरीर में रहने वाली आत्मा कितनी नन्ही है ? आत्मा बड़ी है कि देह ? देह बड़ी है कि आत्मा ? निःसन्देह देह मोटी है और आत्मा छोटी अत्यन्त सूक्ष्म। इतनी सूक्ष्म कि वह आंख की काली टीकी से अनन्त-अनन्त गुणा छोटी, किन्तु उसके गुण अनन्त हैं। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

ज्ञान-वृक्ष उजागर हो :

आत्मा अरूप है। वह बीज से अनन्त गुणा छोटी है किन्तु उसकी शक्ति, उसका सामर्थ्य अपार है। वट-वृक्ष का बीज और वट-वृक्ष दोनों की तुलना में वह सहस्त्रगुणा अधिक है। विश्व में अनेक स्थानों पर बहुत पुराने वट वृक्ष हैं उनके नीचे अनेक लोग विश्राम कर सकते हैं, अनेक प्राणियों को वह छाया दे सकता है। किन्तु आत्मा और उस बीज की कोई तुलना नहीं की जा सकती। आत्मा की चेतनावस्था उसे अनेकानेक गुणा विस्तार, शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करती है। हमारी आत्मा और हमारे आत्मचिंतन, आत्म-जागरण के समक्ष उस वट बीज और वृक्ष का विस्तार नगण्य है। हमारी देह में जो आत्मा है जो अत्यन्त सूक्ष्म जीवनी शक्ति है उसमें वट-वृक्ष की ही भांति शक्ति और चेतना का बीज है। आवश्यकता आज इस बात की है कि उस बीज के लिये उपयुक्त—योग्य

वातावरण बने। वह बीज अंकुरित हो, प्रस्फुटित हो और उसका एक विशाल वृक्ष-ज्ञान-वृक्ष उजागर हो।

आत्मा सर्वव्यापी है। छोटे, बड़े, पुरुष, नारी, जवान और बूढ़े सबमें आत्मा है किन्तु उसमें जो चेतना का बीज है; उसको अंकुरण का, प्रस्फुटन का वातावरण नहीं मिलता और वह अनेक—अनेक कारणों से दबा रह जाता है, उस बीज की तरह जिस पर एक के बाद एक परत चढ़ती जाती है बालू के उड़ते टीलों की तरह। वे परतें बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ जाती हैं कि किसी पुराने खण्डहर का सा आभास होने लगता है जिसका मलवा उस बीज पर गिर गया हो।

कर्म के मलवे को हटायें :

फिर भी आप सब यह जानते हैं कि किसी मकान के मलवे के ढेर में भी बीज को वर्षा का पानी, अनुकूल वायु मिल जाये तो वह अंकुरित हो सकता है, उग सकता है। उसका मूल कारण है उसकी जीवनी-शक्ति, उसकी अंकुरण की क्षमता। उसमें योग्यता है उठने की। पर आवश्यकता है उस बीज पर से मलबा उठाने की, पत्थर, कूड़ा, करकट हटाने की।

हमको विचार करना होगा कि हमारी चेतना-शक्ति और हमारे चिंतन के बीज का प्रस्फुटन कैसे हो ? उन पर पड़े भार से वह कैसे मुक्त हो ?

यहां एक उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा। खेत के पास ही एक मकान है। वह मकान ढह जाता है और उसका मलबा खेत के उस स्थान पर गिरता है जहां अच्छा सुधरा बीज बोया हुआ है। ऐसी स्थिति में गृहपति क्या करेगा ? निस्सन्देह, वह सबसे पहला काम उस मलवे को साफ करने का समझेगा।

ठीक वैसे ही, हम सबको आत्मशक्ति को प्रज्ज्वलित करने के लिए उस पर पड़ा मलवा साफ करना होगा। प्रश्न उठता है ? कि मलवा क्या है, कौनसा है ? वह मलवा है कर्म का।

स्वयं प्रयत्न करें :

उसको कौन हटायेगा ? कोई मजदूर, कोई हमाल आकर हटायेगा क्या ? नहीं। उसको हटाने के लिये हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा। हां, उस पुनीत कार्य में हम अपने मित्रों का सहयोग ले सकते हैं, ठीक वैसा ही सहयोग जैसा डिजाइनरों से, इन्जिनियरों से मकान या कुआ बनाते समय लिया जाता है।

यदि गृहनिर्माता स्वयं कुशल हैं तो वह सबका मार्ग-दर्शन करेगा, अन्यथा वह किसी विशेषज्ञ से परामर्श करेगा और निर्णय लेगा। ठीक वैसे ही हमको अपनी आत्म-शक्ति पर पडे कर्म रूपी मलवे को हटाने का स्वयं प्रयत्न करना होगा। सहारे के रूप में परामर्श के रूप में, सहयोग के रूप में, मार्गदर्शन के रूप में हमें सद्गुरु और शास्त्रों से सहायता मिलेगी, निस्सन्देह मिलेगी।

सद्गुरु और शास्त्र हमें कर्मरूपी मलवे को दूर करने का मार्ग बता सकते हैं किन्तु दूर करने का कार्य तो हमें स्वयं ही करना होगा। हमें स्वयं निष्ठापूर्वक उस कार्य में लगना होगा, प्रयत्नशील होना होगा तभी हमारी आत्मा में बैठा चेतना का अनन्त शक्तिशाली बीज अंकुरित होगा, अन्यथा नही।

जब तक उस पर से अज्ञान का आवरण नष्ट नहीं होगा, कर्म-भार नहीं हटेगा तब तक वह बीज न अंकुरित हो सकता है और न विकसित।

हटाने की प्रक्रिया :

सुबाहु राजकुमार भी भगवान् महावीर के चरणों में निष्ठापूर्वक इसी भावना से पहुंचते हैं। आवरण को हटाने की दृष्टि से। उस आवरण को हटाने की दृष्टि से जिससे उनको ज्ञान लाभ नहीं मिलता। उस आवरण को हटाने की प्रक्रिया बताते हुए 'स्थानांग सूत्र' में कहा गया है :—

दोहिंठाणेही आया नो केवलिपण्णतं धम्मं
लमेज्ज सवणयाए। आरम्भे चेव परिग्गहे चेव।

प्राणी दो कारणों से केवली के प्रवचन धर्म को भी सुन नहीं सकता।

गौतम गणधर ने जिज्ञासा से प्रश्न किया—हे भगवन्! वे दो बाधक कारण कौन से हैं?

भगवान् महावीर ने जिज्ञासा शान्त करने हेतु कहा—आरम्भ और परिग्रह में उलझा हुआ जीव, डूबा हुआ प्राणी जब तक इन उलझनों की बेड़ी को काटकर नहीं निकलता तब तक वह केवली प्रणीत धर्म को नहीं सुन सकता। यह बड़ा भारी बन्धन है। परिग्रह और आरम्भ का गठजोड़ जबरदस्त है। परिग्रह आरम्भ को छोड़कर नहीं जाता। उसका जन्म ही आरम्भ से है और वह आरम्भ का ही समर्थन करता है। आरम्भ से ही परिग्रह की वृद्धि होती है। परिग्रह भी अपने मित्र आरम्भ का बहुत ध्यान रखता है। परिग्रह जितना ध्यान आरम्भ की अभिवृद्धि का रखता है उतना 'संवर और निर्जरा' को बढ़ाने का नहीं।

आरंभ—परिग्रह का गठजोड़ :

गहराई से विचार करने, गंभीरता से मनन करने पर ज्ञात होता है कि आरंभ और परिग्रह में मनुष्य का आकर्षण होता है। छोटा सा आरंभ चाहे वह खाने से संबंधित हो, चाहे वह निर्माण सम्बन्धी या कोई अन्य, मनुष्य स्वभाव से उसकी ओर झुकता है, शीघ्रता से आकर्षित होता है।

किसी के घर में बालक का जन्म हुआ। दादा धन के मामले में बड़े कठोर है, सोच समझकर व्यय करते हैं। पर विचार उठता है कि पौत्र के जन्म पर हजार-पांच सौ रुपया उत्सव पर, भोज पर, व्यय करना चाहिये। हजार-पांच सौ की योजना बनती है किन्तु खर्च पहुँचता है दो हजार के आस-पास। तब भी यही विचार आता है कि कुछ भी हो, गांव में, शहर में, समाज में नाम तो होगा।

एक और उदाहरण हमारे सामने है। किसी घर में एक और कमरा बनाना है। लगभग दो हजार के व्यय का अनुमान है। कारीगर-मिस्त्री कहता है—अच्छा कमरा बनाने में पांच हजार व्यय होंगे। दो हजार का पहला अनुमान और व्यय होंगे पांच हजार या उससे अधिक फिर भी मन में कोई कष्ट नहीं होता, प्रश्न नहीं उठता।

दूसरी ओर यदि किसी धार्मिक कार्य के निमित्त 'संवर और निर्जरा' के कार्य में दो हजार का व्यय होने का अनुमान था और पांच हजार व्यय हो जायें तो ? तो मुंह बनाकर कहेंगे—हमने तो दो हजार का कहा था, इससे अधिक नहीं दे सकेंगे, हाथ रुक जाता है। इसका अर्थ क्या हुआ ? इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आरम्भ और परिग्रह दोनों में भारी गठजोड़ है। ये दोनों ऐसे भारी रोग हैं जो हमारे चिंतन और हमारी चेतनाशक्ति को विकसित होने नहीं देते। इतना ही नहीं वे चिंतन और चेतनाशक्ति को उभरने ही नहीं देते।

केवली भगवान् के प्रवचन धर्म-श्रवण का अधिकार प्राप्त करने वाला प्राणी यह सोचता है कि यदि वह आरम्भ और परिग्रह से विमुख होकर आगे बढ़ेगा तभी उसे सत्संग का लाभ हो सकेगा। उस लाभ से वंचित रहने के उक्त दो ही कारण हो सकते हैं।

परिग्रह का अर्थ केवल पैसा बढ़ाना या उसे तिजोरी में भरना ही नहीं है अपितु परिवार, व्यवसाय, व्यापार में उलझा रहना भी परिग्रह ही है। बाह्य परिग्रह के नौ और अभ्यन्तर के चौदह भेद बताये गये हैं। धन, धान्य, क्षेत्र, भूमि, सम्पत्ति, सोना, चांदी आभूषण, जवाहरात, घरेलू सामान आदि सभी बाह्य परिग्रह के भेद हैं। परिवार-कुटुम्ब, दास-दासी आदि भी इसी में आते हैं। मन में रहने वाले लोभ, मोह-माया आदि भाव आंतरिक परिग्रह हैं। ये बाह्य परिग्रह के मूलाधार हैं। इनमें उलझा हुआ प्राणी सत्संग का लाभ नहीं ले सकता। अतः इनसे ऊपर उठने का बराबर प्रयत्न रहना चाहिए।

•••



२७

महावीर की दृष्टि में मानव-व्यक्तित्व के विकास की संभावनाएं

• डॉ० छविनाथ त्रिपाठी

व्यक्ति का भाव ही व्यक्तित्व :

व्यक्तित्व अंग्रेजी के Personality का स्थानापन्न शब्द माना जाता है। व्यक्ति का भाव ही व्यक्तित्व है। यह स्वाभाविक ही है कि मानव विशेषण जोड़ देने पर एक ओर यह तिर्यक योनि से अपनी पृथकता सूचित करता है और दूसरी ओर इसका क्षेत्र व्यक्ति-मानव से लेकर मानव जाति तक विस्तृत हो जाता है। भाव-वाचक संज्ञा होने से यह भी सूचित होता है कि व्यक्तित्व का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर मात्र से या आकार प्रकार से नहीं है। एक व्यक्ति कितना ही सुन्दर, सुगठित और आकर्षक शरीर वाला क्यों न हो, जब उसके आचरण और बौद्धिक क्षमता की त्रुटियों का ज्ञान होता है तो उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सर्व सामान्य की धारणा बदल जाती है, उसका व्यक्तित्व हीन प्रतीत होने लगता है। यह स्पष्ट सूचना है कि मानव-व्यक्तित्व के तत्त्व आन्तरिक और सूक्ष्म हैं तथा उसका सम्बन्ध कोरे शरीर से नहीं है। मानवीय आचरण और मानवता के विशिष्ट गुण-तत्त्व ही मानव-व्यक्तित्व के परिचायक हैं। आचरण का सम्यक्त्व और मानवीय गुणों का उत्तरोत्तर निखार ही मानव-व्यक्तित्व का विकास है।

परिष्कार की प्रक्रिया :

मानव-शरीर को करोड़ों वर्षों के विकास का परिणाम मानने वाली आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि भी यह स्वीकार करती है कि मानवीय आचरण और मानवता के गुणों का उत्तरोत्तर परिष्कार हुआ है, और परिष्करण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही आज का मानव, गुफा-युग के मानव से बहुत कुछ भिन्न है। परिष्करण की संभावनाओं का अन्वेषण, परिष्करण की प्रक्रिया में ही किया जा सकता है।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन से परे कुछ तत्त्व ही मानव को पशु-पक्षी आदि से पृथक् करते है। ये मानव शरीर के धर्म है अतः मानवता और उसके व्यक्तित्व का परिष्करण केवल शरीर-परिष्करण मात्र नहीं है। मानसिक मलिनता, शारीरिक शुचिता को मूल्यहीन बना देती है, अतः परिष्करण की प्रक्रिया शरीर से परे मन, बुद्धि और आत्मा की ओर उन्मुख होने पर ही वास्तविक विकास संभव है। स्थूल शरीर के परिष्कार के लिए स्थूल उपकरण चाहिए, पर मन, बुद्धि और आत्मा जैसे सूक्ष्म तत्त्वों का परिष्कार

स्थूल उपकरणों से तो संभव है ही नहीं। अणुओं का भेदन तो अणुओं से ही संभव है। किसी परमाणु के भेदन से जब उसके स्थूल तत्त्व प्रोटन में और अधिक सूक्ष्मता आती है तभी उस वैद्युतिक शक्ति का आविर्भाव होता है, जो अपनी शक्ति और व्यापकता में महान् है। आत्मा के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन उसी समय होता है, जब उसकी सूक्ष्मता तक पहुंचने के लिए निर्जरा की अनवरत प्रक्रिया जारी रखी जाय। कर्म ही स्थूलता है, इसका क्षय ही अणु-भेदन का परिणाम है, संवर तो सतर्कता है। आत्मोन्मुख होते ही स्थूल शरीर से दृष्टि हट कर व्यक्तित्व-विकास के क्षेत्र सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मतम आत्मा तक जा पहुँचता है। आत्मा प्रकाश-पुन्ज है। वही अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख-शान्ति और शक्ति का भण्डार है। वह सूक्ष्मतम है और सूक्ष्म माध्यमों से ही आत्मोपलब्धि संभव है। मानव-व्यक्तित्व का वही केन्द्र है। इस केन्द्र में निहित शक्तियों का अनावरण कर उसे लोक व्यापी बना देना ही मानव व्यक्तित्व की क्षेत्र-विस्तृति है। देश, काल या किसी भी संकुचित सीमा में उसे आबद्ध तो किया जा सकता है जैसे वैद्युतिक शक्ति को किसी बल्ब में, पर उसका व्यापक प्रवाह ब्रह्माण्ड व्यापी है, उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को किसी भी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। आधुनिक संदर्भ में भी आत्म-विस्तृति ही व्यक्तित्व विकास की सही दिशा है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तो साधक तत्त्व हैं, ये साध्य नहीं हैं।

मानव की रहस्यमयता :

मानव रहस्यमय है, मानवता उससे भी रहस्यपूर्ण है और उसका समग्र व्यक्तित्व तो एक और जटिल रहस्य है, जिसमें स्थूल और सूक्ष्म तथा बाह्य और अन्तर के अनेक सूत्र एक दूसरे से संश्लिष्ट हैं। 'आत्मान विद्धि' के मार्ग पर चलते हुए महापुरुषों की साधना ने रहस्य के कुछ सूत्र पकड़ कर विविध गुत्थियों को सुलझाने में योगदान किया है।

आत्मा की विराटता :

यह आत्मा ही वह पुरुष है जो भूमि या पुरों की सीमा को अतिक्रान्त कर ब्रह्माण्ड व्यापी बनता है।[1] आधुनिक संदर्भ में वह किसी क्षेत्र या देश की सीमा से आबद्ध चिन्तन न कर समग्र मानवता के विषय में विचारने के कारण विराट बन जाता है और उसकी यही विराटता उसके लोकोन्मुख व्यक्तित्व की विराटता है। यह विराटता स्थूल शरीर की नहीं सूक्ष्म आत्मा की ही है। स्वयं महावीर ने श्रेणिक से यह कहा था कि भोग और इन्द्रियों की वासनाओं में सुख नहीं है, यह तो इन्द्रियों की दासता है, दासता में आनन्द कहां ? आत्म-स्वातन्त्र्य को ही उन्होंने सुख का मूल माना है। स्थूल शरीर को उन्होंने महत्त्व प्रदान नहीं किया। आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-चैतन्य की उपलब्धि के लिए ही उन्होंने बारह वर्ष की कठोर तपस्या की। स्वयं उनका जीवन आत्म-चैतन्य के विस्तार और मानव-व्यक्तित्व के विकास की अनुपम कहानी है। बारह वर्ष तक अध्ययन, चिन्तन और मनन के फलस्वरूप उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया उसे अपने जीवन में उतार कर अपने आचरण से उसे प्रत्यक्ष किया। विरति तो स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठाया गया चरण-

---

१ ऋक्–१०/९०

विक्षेप है, यही वीरों का मार्ग है।[1] मानव विज्ञान इस बात को प्रकट करता है कि सामान्य गति अपरिष्कृत और कम जटिल अवस्थाओं से अधिक परिष्कृत और विकसित स्वरूपों की ओर प्रगति के रूप में ही रही है।[2] विरति परिष्करण का मार्ग है, वैसे मानव स्वतन्त्र है कि वह चरम परिष्कृत अवस्था, मोक्ष, सिद्धि या केवली की स्थिति प्राप्त करे या न करे।[3] सामान्य जीवन-व्यवहार तो 'जयं चरे' आदि के अनुसार केवल विवेक सम्पन्नता की ही अपेक्षा रखता है।

आत्मोपलब्धि : लोकोपलब्धि :

व्यक्तित्व-विकास जब अन्तर्मुखी होता है तो वह आत्म-ज्योति की उपलब्धि तक पहुंचता है किन्तु जब वह बहिर्मुखी होता है तो लोकोन्मुख होने के कारण लोक-विजय तक पहुंचता है। क्या आत्मोपलब्धि और लोक-विजयोपलब्धि में कोई अन्तर है? आत्मा की उपलब्धि आत्मज्ञान के बिना असंभव है, लोकोपलब्धि लोक ज्ञान के बिना। वस्तुतः आत्म-विस्तार के ये दोनों ही ऐसे समानान्तर मार्ग हैं, जिनके आकार-प्रकार और दूरी के साथ मंजिल में भी कोई अन्तर नहीं है। एक का ज्ञान दूसरे पथ का भी ज्ञान करा देता है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का पालन दोनों पथों पर समान रूप से करना पड़ता है।[4] उदाहरण के लिए अहिंसा को ही ले लिया जाय। हिंसा से विरति के बिना आत्मा को कर्म मुक्त या निष्कलुष कैसे बनाया जा सकता है? सर्व सत्वेषु मैत्री या विश्व बन्धुत्व की भावना कैसे विकसित होगी? आत्म विस्तार को विश्व व्यापी बनाने के लिए हिंसा और उसके मूल कारण कषाय-क्रोध के त्याग बिना कोई कैसे सफल होगा? कषाय-त्याग की यह साधना, चाहे आत्मोपलब्धि के लिए हो या विश्वोपलब्धि के लिए, व्यक्तिगत स्तर पर हो या सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर अथवा निजी स्तर पर हो या सामूहिक स्तर पर सर्वत्र समान है। अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है। जीव-विवेक इसका आधार है।[5] हिंसा का मूल कारण क्रोध है। क्रोध-विजय ही लोक-विजय है और व्यक्तित्व-विकास की अन्तः और बहिर्मुखी दोनों ही साधनाओं में इसका समान महत्त्व है।[6] 'आचारांग' में ब्रह्म का अर्थ है संयम, इसका आचरण ही ब्रह्मचर्य है।[7] संयम के अभाव में व्यक्तित्व-विकास तो संभव ही नहीं है। लोभ-प्रेय-स्तेय, परस्पर संबद्ध है। आत्म-विस्तृति का यह सर्वाधिक बाधक तत्त्व है।[8] यही स्थिति समस्त पंचकषायों और

---

१ आचारांग–१/३/२०

२ धर्म तुलनात्मक दृष्टि में-राधाकृष्णन–पृ० १०, ११।

३ गीता–६/५

४ आचारांग २/३/८१, ४/३/१३४, ३/४/१२६, स्था० ४२९, ४३०, समवायांग १७ दसवैकालिक ६/१२, १३, ७/३/११, ६/१४-१५, १६, २१, ३७, ३८ आदि।

५ आचारांग १/७/६२।

६ वही।

७ स्थानांग–४२९-३०, गीता २/४८, ५/१९, ६/३२।

८ कठो० १/१/२८, आचारांग–२/३/८२।

उनकी विरति से आत्म ज्ञान या विश्व ज्ञान की है। संसार का मूल कषाय है। कषाय-निवृत्ति की साधना ही संयमानुष्ठान है। संयम कल्याण का वास्तविक मार्ग है, यही शिव-संकल्प है।[1] कषाय-निवृत्ति परिष्करण है, अतः व्यक्तित्व-विकास का पथ भी यही है।

विश्व-वेदना की अनुभूति :

जो आत्मा की सत्ता को अस्वीकृत करते हैं या कोरे देहात्मावादी हैं, शरीर ही जिनकी दृष्टि में सर्वस्व है, वे भी मानसिक व्यापकता को स्वीकर करते हैं। शरीर पोषण की अपेक्षा लोक-कल्याण द्वारा यशार्जन की प्रवृत्ति जिन देहात्मवादियों में होती है, उनका व्यक्तित्व श्रेष्ठ क्यों माना जाता है ? इस शरीर संरचना का केन्द्र मस्तिष्क है और हृदय उसका पोषण-केन्द्र, तब भी व्यक्ति निष्ठ, समाज निष्ठ और विश्व निष्ठ मानव के व्यक्तित्व का स्तर-भेद तो है ही। व्यक्ति-मानस के परिष्करण एवं विकास के बिना क्या उसमें यह क्षमता आ सकती है कि वह विश्व वेदना की अनुभूति कर सके ? उसकी हृदय वीणा के तार की झंकार विश्व भर के मानव-हृदय के तारों को समान स्वर में कैसे झंकृत कर सकती है ? आज तो टेलिपैथी को वैज्ञानिक सत्य मान लिया गया है। व्यक्ति व्यक्तित्व के सीमित क्षेत्र एवं धरातल से विश्व-मानव के व्यक्तित्व का व्यापक क्षेत्र एवं धरातल निश्चित ही ऊंचा है। इस व्यक्तित्व-विकास के लिए भी वैसी ही साधना और तप की आवश्यकता पड़ती है जैसी आत्मा के निर्मल स्वरूप की उपलब्धि के लिए। साधना के स्तर और स्वरूप की दृष्टि से दोनों ही पथ समान और समानान्तर हैं। मार्ग की कठिनाइयां और बाधाएं भी समान हैं, और सिद्धियां तथा सफलताएं भी समान हैं। एक पथ के पथिक का अनुभव दूसरे आत्म-पथ के पथिक के अनुभव से भिन्न नहीं हैं। यही कारण है कि महावीर ने न लोक की उपेक्षा की, न आत्मा की। आत्मज्ञ वह है, जो विश्वज्ञ है और विश्वज्ञ वह है, जो आत्मज्ञ है।[2] व्यक्तित्व-विकास की यह मंजिल है। यहीं पहुँच कर लोकाधिगमता और लोकातिक्रान्त गोचरता प्राप्त होती है। अमरत्व यही है।[3]

अमरत्व की उपलब्धि :

साधना के इस समानान्तर पथ के किसी भी पथिक के लिए यह आवश्यक है कि वह कोई भी पथ अपनाए, मंजिल तक पहुंचे। महावीर ने वह मंजिल प्राप्त करली थी। वह निर्ग्रन्थ बने और तब लोक-कल्याण के दूसरे समानान्तर पथ पर सरलता से चल पड़े। महावीर 'निर्ग्रन्थ' थे, इसके अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कर्मबन्ध की समस्त गुत्थियों से मुक्त होकर केवलज्ञान संपन्न मुक्त-पुरुष थे। निर्ग्रन्थ के वास्तविक अर्थ बोध में उपनिषद् के निम्नलिखित दो श्लोक अधिक सहायक हैं—

---

१ आचारांग–२/१६६, ऋक्–५/५१/१५, यजु : ३४/१।

२ जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।
आचारांग ३/४/१२३

३ कठो० २/३/८, श्वेता० ६/१५।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। कठो० २/३/१४

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।। कठो० २/३/१५

इन दोनों श्लोकों का अर्थ जैन-दर्शन की शब्दावली में कहा जाय तो यही है कि समस्त कामनाओं से मुक्ति नये कर्मों का निरोध है और हृदय की समस्त ग्रन्थियों का छेदन पूर्व कर्मों के संस्कारों की निर्जरा है । मरणधर्मा मनुष्य की अमरता निर्जरा और संवर से ही संभव है । मानव-व्यक्तित्व का चरम विकास अमरत्व की उपलब्धि है । इस अमृतत्व को जिसने पा लिया है, वही निर्ग्रन्थ है आत्मज्ञ है ।

निर्ग्रन्थता ही पूर्ण विकास :

देहात्मवादियों के लिए भी 'निर्ग्रन्थता' की उपलब्धि ही उनके व्यक्तित्व विकास का उच्चतम रूप है । यहां निर्ग्रन्थता का अर्थ ग्रन्थियों (Complexes) से मुक्ति है । मानव-मन-मस्तिष्क की कोटि-कोटि ग्रन्थियों के मूल में हृदयाश्रित कामनाएं हैं । कुछ ग्रन्थियां जन्मजात होती हैं, कुछ इस जीवन की अपूर्व कामनाओं से उद्भूतः, परन्तु निर्मल मन-मस्तिष्क की उपलब्धि तो दोनों प्रकार की ग्रन्थियों की मुक्ति से ही संभव है । उच्चता और हीनता की ग्रन्थियों से मुक्ति ही तो समत्व-साधना है । यह स्पष्ट है कि 'निर्ग्रन्थ' महावीर के युग में भी मानव-व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण प्रतीक था और आधुनिक संदर्भ में भी यह उतना ही सत्य है ।

पंच विकार या कषाय ही संसार या कर्म बन्ध के कारण हैं, ये ही ग्रन्थियों के भी कारण हैं । केवल काम ही नहीं, क्रोधादि अन्य कषाय भी संयम या निर्जरा के अभाव में ग्रन्थियों के जनक बनते हैं । केवल रुपये के संग्रह के लिए चारित्रिक पतन की गहरी खाई की ओर दौड़ता व्यक्ति मानव, शक्ति-संग्रह के लिए अणु-विस्फोट करते राष्ट्र, शक्ति-प्रदर्शन के लिए सामान्य-जनता पर बमों की अनवरत वर्षा करने वाले शासक क्या व्यक्ति या राष्ट्रीय स्तर पर किसी न किसी प्रकार की ग्रन्थि से ग्रस्त नहीं हैं ? अपने अस्तित्व के खो जाने के भय से ग्रस्त समाज, राष्ट्रीय या मानवतावादी धारा के साथ एक रस नहीं हो पाते, क्या इसके पीछे एक 'ग्रन्थि' नहीं है ? सच्चाई तो यह है कि आज का मानव सामान्य मानवीय गुणों को भूल कर तिर्यक् योनिज श्रेणियों के अधिक समीप पहुंचता जा रहा है । पंचविकार उस पर सवार हैं । इसका मुख्य उदाहरण वह विज्ञान है जो अपने ही स्रष्टा के सिर पर सवार हो बैठा है । इस अर्थ प्रधान भौतिक युग में ग्रन्थि ग्रस्त मानव व्यक्ति रूप हो या समाज रूप, राष्ट्र रूप हो या विश्व रूप, अपने व्यक्तित्व-विकास के लक्ष्य को ही नहीं भुला बैठा है उसके मुख्य साधन निर्जरा और संवर को भी धीरे-धीरे खो रहा है ।

निर्जरा और संवर के डग बढ़ते चलें :

इस युग में 'स्व' की साधना इतनी प्रबल हो उठी है कि आत्म-ज्ञान, आत्म-

विस्तार, लोक-ज्ञान और लोकोपलब्धि की बातें नक्कारखाने में तूती की आवाज लगती हैं। महावीर की दृष्टि तो स्पष्ट है, आत्म-ज्ञान और लोक-कल्याण के समानान्तर पथ में से किसी पथ का भी पथिक निर्जरा और संवर के डग भरता 'निर्ग्रन्थ' बन सकता है, जो व्यक्तित्व के परम विकसित रूप का प्रतीक है। इस पथ का पथिक केवल व्यक्ति ही नहीं कोई भी समाज, कोई भी राष्ट्र और राष्ट्रों का विश्व-संघ भी हो सकता है। हो सकता है, संभावनाएं तो हैं, परन्तु विश्व-मानव कब इस पथ पर चल कर विश्व मानवता को प्राप्त कर सकेगा, यह तो अभी भी प्रतीक्षा का विषय बना हुआ है। व्यक्तित्व-विकास के लिए महावीर का निर्दिष्ट पथ तो स्पष्ट है, पर उस पर सच्चे पथिक की अब भी प्रतीक्षा हो रही है जो अपने पीछे समस्त मानवों को ले चले। संभावनाओं की अनन्तता, पर एक की, केवल एक 'निर्ग्रन्थ' की नेतृत्व शक्ति हृदय ग्रन्थियों के भेदन के पथ पर आगे बढ़ा सके, महावीर की अमरवाणी जिसके मुख से निस्सृत हो इस देश सहित विश्व को अपने समग्र-व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रेरित कर सके उसकी तो अब भी प्रतीक्षा है।

••••



२८

महावीर की दृष्टि में स्वतन्त्रता का सही स्वरूप

• मुनि श्री नथमल

स्वतन्त्र और परतन्त्र :

यदि यह जगत अद्वैत होता—एक ही तत्व होता, दूसरा नहीं होता तो स्वतन्त्र और परतन्त्र की मीमांसा नहीं होती। इस जगत में अनेक तत्व हैं। वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध भी है। इस परिस्थिति में स्वतन्त्र और परतन्त्र की मीमांसा अनिवार्य हो जाती है। दूसरी बात—प्रत्येक तत्व परिवर्तनशील है। परिवर्तन तत्व की आंतरिक प्रक्रिया है। काल के हर क्षण के साथ वह घटित होता है। सूर्य और चन्द्रकृत काल सार्वदेशिक नहीं है। जो परिवर्तन का निमित बनता है, वह काल सार्वदेशिक है, वह प्रत्येक तत्व का आंतरिक पर्याय है। वह निरन्तर गतिशील है। उसकी गतिशीलता तत्व को भी गतिशील रखती है। वह कभी और कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती। परिवर्तन की अनिवार्य शृंखला से प्रतिवद्ध तत्व के लिए स्वतन्त्र और परतन्त्र का प्रश्न स्वाभाविक है।

जो कार्य-कारण की शृंखला से बंधा हुआ है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जिसके साथ परिवर्तन की अनिवार्यता जुड़ी हुई है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मनुष्य कार्य-कारण की शृंखला से बंधा हुआ है, गतिशीलता का अपवाद भी नहीं है, फिर वह स्वतन्त्र कैसे हो सकता है? क्या फिर वह परतन्त्र है? कोई भी वस्तु केवल परतन्त्र नहीं हो सकती। यदि कोई स्वतन्त्र है तो कोई परतन्त्र हो सकता है और यदि कोई परतन्त्र है तो कोई स्वतन्त्र हो सकता है। केवल स्वतन्त्र और केवल परतन्त्र कोई नहीं हो सकता। प्रतिपक्ष के विना पक्ष का अस्तित्व स्थापित नहीं किया जा सकता। मनुष्य परतन्त्र है, इसका अर्थ है कि वह स्वतन्त्र भी है।

अस्तित्व की व्याख्या :

स्वतन्त्र और परतन्त्र की सापेक्ष व्यवस्था हो सकती है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई वस्तु स्वतन्त्र नहीं है और कोई परतन्त्र नहीं है। महावीर ने दो नयों से विश्व की व्याख्या की। पहला निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। निश्चय नय के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। न कोई आधार है और न कोई आधेय, न कोई कारण है और न कोई कार्य, न कोई कर्ता है और न कोई कृति। जो कुछ है वह स्वरूपगत है। यह अस्तित्व की व्याख्या है। उसके विस्तार की व्याख्या व्यवहार नय करता है। उसकी सीमा में आधार

और आधेय, कार्य और कारण, कर्ता और कृति का सम्बन्ध है। जहां यह सम्बन्ध है, वहां स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की भी व्याख्या संभव है।

स्वतन्त्रता का चिन्तन :

स्वतन्त्रता का चिन्तन दो कोटि के दार्शनिकों ने किया है। धर्म के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता का चिन्तन करनेवाले दार्शनिक व्यक्ति की आन्तरिक प्रभावों (आत्मिक गुणों को नष्ट करने वाले आवेशों) से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। राजनीति के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता का चिंतन करनेवाले दार्शनिक व्यक्ति की बाहरी प्रभावों (व्यवस्था कृत दोषपूर्ण नियन्त्रणों) से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। धर्म जागतिक नियमों की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध केवल मनुष्य से नहीं, किंतु जागतिक व्यवस्था है। राजनीति वैधानिक नियमों की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध और संविधान से है। भारतीय धर्माचार्यों और दार्शनिकों ने अधिकांशतया धार्मिक स्वतन्त्रा की व्याख्या की। उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता के विषय में अपना मत प्रकट नहीं किया। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे शाश्वत नियमों की व्याख्या में राजनीति के सामयिक नियमों का मिश्रण करना नहीं चाहते थे। उन्होंने शाश्वत नियमों पर आधारित स्वतन्त्रता की व्याख्या से राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्रभावित किया, किंतु उसका स्वरूप निर्धारित नहीं किया। स्मृतिकारों और पौराणिक पंडितों ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की व्याख्या की है। उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बहुत मूल्य दिया।

पश्चिमी दार्शनिकों ने राजनीति के संदर्भ में स्वतन्त्रता और शासनव्यवस्था की समस्या पर पर्याप्त चिंतन किया। अरस्तू, एक्विनास, लाक और मिल आदि राजनीतिक दार्शनिकों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को आधार भूत तत्व के रूप में प्रतिपादित किया। दूसरी ओर प्लेटो, मैकेवली, हाव्स, हीगल और बर्क आदि राजनीतिक दार्शनिकों ने शासन-व्यवस्था को प्राथमिकता दी।

राजनीतिक दार्शनिकों की दृष्टि में वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो कर्तव्य का पालन करता है—वही कार्य करता है, जो उसे करना चाहिए। व्यक्ति के कर्तव्य का निर्धारण सामाजिक मान्यताओं और संविधान की स्वीकृतियों के आधार पर होता है। इस अर्थ में व्यक्ति सामाजिक और वैधानिक स्वीकृतियों का अतिक्रमण किये बिना इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग सामाजिक और आर्थिक प्रगति में होता है।

स्वतन्त्रता का अर्थ कषाय-मुक्ति :

महावीर के दर्शन में स्वतन्त्रता का अर्थ है कषाय–मुक्ति। क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्ति। आवेशमुक्त व्यक्ति ही स्वतन्त्र क्रिया कर सकता है। गाली के प्रति गाली, क्रोध के प्रति क्रोध, अहं के प्रति अहं और प्रहार के प्रति प्रहार—यह प्रतिक्रिया का जीवन है। प्रतिक्रिया जीवन जीने वाला कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता। चिड़िया जैसे अपने प्रतिबिंब पर चोंच मारती थी, बच्चे ने अपनी परछाई को पकड़ने का प्रयत्न किया और सिंह अपने ही प्रतिबिंब के साथ लड़ता हुआ कुएं में गिर पड़ा—ये सब प्रतिक्रियाएं

बाहरी दर्शन से घटित होती हैं। स्वतन्त्रता आंतरिक गुण है। जिसका अंतःकरण आवेग से मुक्त हो जाता है, वह समस्या का समाधान अपने भीतर खोजता है, क्रिया का जीवन जीता है और वह सही अर्थ में स्वतन्त्र होता है। वह गाली के प्रति मौन, क्रोध के प्रति प्रेम, अहं के प्रति विनम्रता और प्रहार के प्रति शांति का आचरण कर सकता है। यह क्रिया सामनेवाले व्यक्ति के व्यवहार से प्रेरित नहीं होती, किंतु अपने ध्येय से प्रेरित होती है, इसलिए यह क्रिया है। स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक अर्थ है क्रिया, परतन्त्रता का अर्थ है प्रतिक्रिया। अहिंसा क्रिया है, हिंसा प्रतिक्रिया, इसीलिए महावीर ने अहिंसा को धर्म और हिंसा को अधर्म बतलाया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है स्वतन्त्रता धर्म है और परतन्त्रता अधर्म।

स्वतन्त्रता का सामर्थ्य :

आंतरिक जगत में मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र हो सकता है, किन्तु शरीर कर्म और समाज के प्रतिबन्ध-क्षेत्र में कोई भी मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र नहीं हो सकता। वहां आंतरिक और बाहरी प्रभाव उसकी स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। आत्मा अपने अस्तित्व में ही पूर्ण स्वतन्त्र हो सकती है। बाहरी संपर्कों में उसकी स्वतन्त्रता सापेक्ष ही हो सकती है। यह संसार अपने स्वरूप में स्वयं बदलता है। इसके बाहरी आकार को जीव बदलते हैं और मुख्यतया मनुष्य बदलता है। क्या मनुष्य इस संसार को बदलने में समर्थ है? क्या वह इसे अच्छा बनाने में समर्थ है? इन प्रश्नों का उत्तर दो विरोधी धाराओं में मिलता है। एक धारा परतन्त्रतावादी दार्शनिकों की है। उसके अनुसार मनुष्य कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए वह संसार को नहीं बदल सकता, उसे अच्छा नहीं बना सकता। दूसरी धारा स्वतन्त्रतावादी दार्शनिकों की है। उसके अनुसार मनुष्य कार्य करने में स्वतन्त्र है। वह संसार को बदल सकता है, उसे अच्छा बना सकता है, कालवादी दार्शनिक मनुष्य के कार्य को काल से प्रतिबंधित, स्वभाववादी दार्शनिक उसे स्वभाव से प्रतिबन्धित, नियतिवादी दार्शनिक उसे नियति से निर्धारित, भाग्यवादी दार्शनिक उसे भाग्य के अधीन और पुरुषार्थवादी दार्शनिक इसे पुरुषार्थ से निष्पन्न मानते हैं।

पुरुषार्थ की सफलता-असफलता :

महावीर ने मनुष्य के कार्य की अनेकांत दृष्टि से समीक्षा की। उन्होंने कहा—द्रव्य वह होता है, जिसमें अर्थक्रिया होती है। यह स्वाभाविक क्रिया है। यह न किसी निमित्त से होती है और न किसी निमित्त से अवरुद्ध होती है। यह किसी निमित्त से प्रतिबंधित नहीं होती, इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र होती है। द्रव्य में बाह्य निमित्तों से अस्वाभाविक क्रिया भी होती है। वह अनेक योगों से निष्पन्न होने के कारण यौगिक होती है। यौगिक क्रिया में काल, स्वभाव, नियति, भाग्य और पुरुषार्थ—इन सबका योग होता है—किसी का कम और किसी का अधिक। जिसमें काल, स्वभाव, नियति या भाग्य का योग अधिक होता है, उसमें मनुष्य विचार में स्वतन्त्र होते हुए भी कार्य करने में परतन्त्र होता है। जिसमें पुरुषार्थ का योग अधिक होता है, उसमें मनुष्य काल आदि योगों से परतन्त्र होते हुए भी कार्य करने में स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतन्त्रता

सापेक्ष ही होती है, निरपेक्ष, निरन्तर और निर्बाध नहीं होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस संसार को सुदूर अतीत में ही अपनी इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने में स्वतन्त्र होता ही नहीं तो वह संसार को कुछ भी नहीं बदल पाता। यह सच है कि उसने संसार को बदला है और यह भी सच है कि वह संसार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी में नहीं बदल पाया है, धरती पर निर्बाध सुख की सृष्टि नहीं कर पाया है। इन दोनों वास्तविकताओं में मनुष्य के पुरुषार्थ की सफलता और विफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिंब हैं।

पुरुषार्थ की क्षमता-अक्षमता :

मनुष्य की कायजा शक्ति यदि काल, स्वभाव आदि में से किसी एक ही तत्त्व द्वारा संचालित होती तो काल, स्वभाव आदि में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती और वे एक दूसरे को समाप्त करने में लग जाते, किन्तु जागतिक द्रव्यों और नियमों में विरोध और अविरोध का सामंजस्यपूर्ण संतुलन है, इसलिए वे कार्य की निष्पत्ति में अपना-अपना अपेक्षित योग देते हैं। सापेक्षवाद की दृष्टि से किसी भी तत्त्व को प्राथमिकता या मुख्यता नहीं दी जा सकती। अपने-अपने स्थान पर सब प्राथमिक और मुख्य हैं। काल का कार्य स्वभाव नहीं कर सकता और स्वभाव का कार्य काल नहीं कर सकता। भाग्य का कार्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता और पुरुषार्थ का कार्य भाग्य नहीं कर सकता। फिर भी कर्तृत्व के क्षेत्र में पुरुषार्थ अग्रणी है। पुरुषार्थ से काल के योग को पृथक नहीं किया जा सकता, किन्तु काल की अवधि में परिवर्तन किया जा सकता है, पुरुषार्थ से भाग्य के योग को पृथक नहीं किया जा सकता, किन्तु भाग्य में परिवर्तन किया जा सकता है। इन सत्यों को इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कसा जा सकता है।

जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है, वैसे-वैसे पुरुषार्थ की क्षमता बढ़ती है। सभ्यता के आदिम युग में मनुष्य का ज्ञान अल्पविकसित था। उनके उपकरण भी अविकसित थे, फलतः पुरुषार्थ की क्षमता भी कम थी। प्रस्तरयुग की तुलना में अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान बहुत विकसित है। उसके उपकरण शक्तिशाली हैं और पुरुषार्थ की क्षमता बहुत बढ़ी है। आदिम युग का मनुष्य केवल प्रकृति पर निर्भर था। वर्षा होती तो खेती हो जाती। एक एकड़ भूमि में जितना अनाज उत्पन्न होता, उतना हो जाता। अनाज को पकने में जितना समय लगता, उतना लग जाता। आज का मनुष्य इन सब पर निर्भर नहीं है। उसने सिंचाई के स्रोतों का विकास कर वर्षा की निर्भरता को कम कर दिया है। उसने रासायनिक खादों का निर्माण कर अनाज की पैदावार में अत्यधिक वृद्धि कर दी और कृत्रिम उपायों द्वारा फसल के पकने की अवधि को भी कम करने का प्रयत्न किया है। उसने संकर पद्धति द्वारा अनाज के स्वभाव में भी परिवर्तन किया है। पुरुषार्थ के द्वारा काल की अवधि और स्वभाव के परिवर्तन के सैंकड़ों उदाहरण सभ्यता के इतिहास में खोजे जा सकते हैं। काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरद-हस्त प्राप्त नहीं है। इसलिए वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते हैं। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरद-हस्त प्राप्त है, इसलिए वह

काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है। उनको प्रभावित कर वर्तमान को अतीत से भिन्न रूप में प्रस्तुत कर देता है।

कर्म सिद्धान्त और स्वतन्त्रता :

इमेन्युअल कांट ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति में स्वतन्त्र है और इसीलिए कर्म करने और शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने में भी स्वतन्त्र है, यदि वह कर्म में स्वतन्त्र नहीं तो वह कर्म करने और उनका फल भोगने के लिए उत्तरदायी नहीं होगा। भारतीय कर्मवाद का यह प्रसिद्ध सूत्र है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल होता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है। इस सूत्र की मीमांसा से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य नया कर्म करने में पुराने कर्म से बंधा हुआ है। वह कर्म करने और उसका बुरा फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। यदि ऐसा है तो उसे किसी भी अच्छे या बुरे कर्म के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उसका वर्तमान अतीत से नियन्त्रित है। वर्तमान का अपना कोई कर्तव्य नहीं है। वह अतीत की कठपुतली मात्र है। कर्मवाद के इस सामान्य सूत्र ने भारतीय मानस को बहुत प्रभावित किया, उसे भाग्यवाद के सांचे में ढाल दिया। उसके प्रभाव ने पुरुषार्थ की क्षमता क्षीण करदी।

कर्म के उदीरण और संक्रमण का सिद्धान्त :

महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका पुरुषार्थवाद भाग्यवाद के विरोध में नहीं था। भाग्य पुरुषार्थ की निष्पत्ति है। जो जिसके द्वारा निष्पन्न होता है, वह उसके द्वारा परिवर्तित भी हो सकता है। महावीर ने कर्म के उदीरण और संक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भाग्यवाद का भाग्य पुरुषार्थ के अधीन कर दिया। कर्म के उदीरण का सिद्धांत है कि कर्म की अवधि को घटाया बढ़ाया जा सकता है और उसकी फल देने की शक्ति को मंद और तीव्र किया जा सकता है। कर्म के संक्रमण का सिद्धांत है कि असत प्रयत्न की उत्कटता के द्वारा पुण्य को पाप में बदला जा सकता है और सत प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा पाप को पुण्य में बदला जा सकता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है—कर्मवाद के इस एकाधिकार को यदि उदीरण और संक्रमण का सिद्धांत सीमित नहीं करता तो मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना होता। उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती। फिर ईश्वर की अधीनता और कर्म की अधीनता में कोई अन्तर नहीं होता। किन्तु उदीरण और संक्रमण के सिद्धांत ने मनुष्य को भाग्य के एकाधिकार से मुक्त कर स्वतन्त्रता के दीवट पर पुरुषार्थ के प्रदीप को प्रज्ज्वलित कर दिया।

नियति और पुरुषार्थ की सीमा का बोध :

नियति को हम सीमित अर्थ में स्वीकार कर पुरुषार्थ पर प्रतिवन्ध का अनुभव करते है। पुरुषार्थ पर नियति का प्रतिवन्ध है, किन्तु इतना नहीं है, जिससे कि पुरुषार्थ की उपयोगिता समाप्त हो जाये। यदि हम नियति को जागतिक नियम (यूनिवर्सल ला) के रूप मे स्वीकार करें तो पुरुषार्थ भी एक जागतिक नियम है इसलिए नियति उसका सीमाबोध करा सकती है किन्तु उसके स्वरूप को विलुप्त नहीं कर सकती। विलियम जैम्स ने लिखा

है—संसार में सब कुछ पहले से ही निर्धारित हो तो मनुष्य का पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योंकि पूर्व-निर्धारित अन्यथा नहीं हो सकता। यदि संसार में अच्छा और बुरा करने की स्वतन्त्रता न हो तो पश्चाताप करने का क्या औचित्य है? किन्तु जहां सब कुछ पहले से निर्धारित हो, वहां पश्चाताप करने से रोका भी नहीं जा सकता। जब तक हम मनुष्य की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक हम उसे किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते।

अनेकांत दृष्टि हमें इस वास्तविकता पर पहुंचा देती है कि इस विश्व में नियत वही है, जो शाश्वत है। जो अशाश्वत है, वह नियत नहीं हो सकता। अस्तित्व शाश्वत है। कोई भी पुरुषार्थ उसे अनस्तित्व में नहीं बदल सकता। जो यौगिक है, वह अशाश्वत है। वह पूर्व-निर्धारित नहीं हो सकता। उसे बदलने में ही स्वतंत्रता और पुरुषार्थ की अर्थवत्ता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, संसार को अच्छा या बुरा किया जा सकता है। यह पुरुषार्थ की सीमा का कार्य है। ऐसा करने में नियति उसका साथ देती है। अस्तित्व को बनाया-बिगाड़ा नहीं जा सकता। यह पुरुषार्थ की सीमा से परे उन दोनों में विरोध का अनुभव नहीं होता, सापेक्षतापूर्ण सामंजस्य का ही अनुभव होता है।

इच्छा, संकल्प और विचार की शक्ति :

क्रिया चेतन और अचेतन—दोनों का मौलिक गुण है। अचेतन की क्रिया स्वाभाविक या पर-प्रेरित होती है। चेतन में स्वाभाविक क्रिया के साथ-साथ स्वतन्त्र क्रिया भी होती है। यंत्र की गति निर्धारित मार्ग पर होती है। उसमें इच्छा और संकल्प की शक्ति नहीं होती, इसलिए उसकी गति स्वतन्त्र नहीं होती। मनुष्य चेतन है। उसमें इच्छा, संकल्प और विचार की शक्ति है, इसलिए वह स्वतंत्र क्रिया करता है। डंस स्काट्स ने भी इसी आधार पर मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—'हमारी स्वतन्त्रता हमारे संकल्पों के कारण है। व्यक्ति धर्म के मार्ग को जानते हुए भी अधर्म के पथ पर चल सकता है, यही उसकी स्वतंत्रता है।"

मनुष्य ही प्रगति का मुख्य सूत्रधार :

प्रगति का पहला चरण है संकल्प और दूसरा चरण है प्रयत्न। ये दोनों मनुष्य में सर्वाधिक विकसित होते हैं। इसलिए हमारे संसार की प्रगति का मुख्य सूत्रधार मनुष्य ही है। उसने आंतरिक जगत् में सुख-दुःख सिद्धांत, कल्पना, विचार, तर्क और भावना की सृष्टि की है। उसने बाह्य जगत में आवश्यकता, सुख-सुविधा और विलासिता के उपकरणों की सृष्टि की है। युद्ध और शांति का सृजन मनुष्य ने ही किया है।

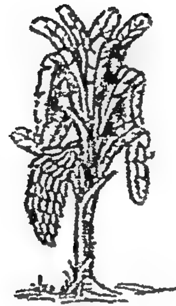
स्वतंत्रता को सहयोग की दिशा दें :

डार्विन ने यह स्थापना की—"संघर्ष प्रकृति का एक नियम है वह शाश्वत और सार्वत्रिक है। वह जीवन-संग्राम का मूल हेतु है।" इस स्थापना का स्वर भारतीय चिंतन में भी "जीवो जीवस्य जीवनम्" के रूप में मिलता है। डार्विन ने जगत को संघर्ष के दृष्टिकोण से देखा। इसमें भी सत्यांश है। किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। महावीर ने जगत को भिन्न दृष्टिकोण से देखा था। उन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि जीव जगत

पारस्परिक सहयोग के आधार पर टिका हुआ है। मनुष्य में यदि संघर्ष का बीज है, तो उसमें सहयोग का बीज क्यों नहीं हो सकता? यदि वह संघर्ष करने में स्वतन्त्र है, तो वह सहयोग करने में स्वतन्त्र क्यों नहीं हो सकता? महावीर के सिद्धान्त का सार है कि मनुष्य संघर्ष और सहयोग—दोनों के लिए स्वतन्त्र है, किन्तु जीवन में शांति की प्रतिष्ठा के लिये वह अपनी स्वतन्त्रता को संघर्ष की दिशा से हटा कर सहयोग की दिशा में मोड़ दे। हमारे जीवन में संघर्ष के क्षण बहुत कम होते हैं, सहयोग के क्षण बहुत अधिक।

महावीर ने मनुष्य की स्वतन्त्रता को कुंठित नहीं किया। उन्होंने उसके दिशा परिवर्तन का सूत्र दिया। वह सूत्र है—"मनुष्य अपनी स्वन्त्रता का उपयोग श्रेय की दिशा में करे, हर बुराई को अच्छाई में बदल डाले।

●●●●



२९

व्यक्ति स्वातंत्र्य और महावीर

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि व्यक्ति स्वातंत्र्य का आधुनिक संदर्भ में जो अर्थ है, वह महावीर की व्यक्ति स्वातंत्र्य की कल्पना से भिन्न है।

मूल्यों का अन्तर :

महावीर आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति-स्वातंत्र्य की कल्पना करते हैं जबकि आधुनिक संदर्भ विशुद्ध भौतिक भूमिका पर व्यक्ति स्वातंत्र्य का विचार करता है। इसलिए उसका विचार अधिक ठोस, मूर्त और प्रेरक है। आधुनिक संदर्भ व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाम पर ऐसी किसी अनुभूति या आज्ञा पर विश्वास नही करता जिसमें लौकिक चेतना शून्य हो। आधुनिक व्यक्ति के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ है—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से अपना जीवन जीने और विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता। आध्यात्मिक मूल्यों के बजाय उसके अपने कुछ भौतिक मूल्य हैं जिनमें उसका विश्वास है और जिन्हें राज्य से पाने का उसका मौलिक अधिकार है, वह ऐसी किसी सांस्कृतिक परम्परा और विचारधारा को मानने के लिए तैयार नहीं जो भौतिक संदर्भ में उसकी स्वतंत्रता और उसमें निहित अधिकारों को दमन या अपहरण करती हो।

आधुनिक मूल्यों का विकास :

मानव जीवन का आधुनिक संदर्भ और उसके विचार वस्तुतः उस प्रक्रिया की उपज है जो यूरोप के जीवन को अभिशप्त कर देने वाले पोपवाद के विरुद्ध बगावत के रूप में उत्पन्न हुई थी। लूथर और वाल्तेयर उसके अगुआ थे। फ्रांस की राज्यक्रांति ने नए समाज की रचना में योग दिया। लेकिन मशीनीकरण और सामूहिक उत्पादन के फलस्वरूप नया वर्ग खड़ा हो गया जिसने व्यक्ति स्वातंत्र्य का अर्थ आर्थिक शोषण की स्वतंत्रता के रूप में किया। आर्थिक उत्पीड़न के सामने व्यक्ति स्वातंत्र्य अर्थहीन हो उठा। और नया साम्यवादी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ।

इस प्रकार आधुनिक संदर्भ जीवन के विशुद्ध भौतिक मूल्यों से प्रतिबद्ध है। इस प्रतिबद्धता को ईश्वरवाद या कर्मवाद की सुन्दर से सुन्दर व्याख्याओं द्वारा कहां तोड़ा जा सकता है।

महावीर और समकालीनता :

महावीर के व्यक्ति स्वातंत्र्य का अर्थ था इच्छाविहीन स्वानुभूति का जीवन। वह व्यक्तिवादी उत्पादनवाले समाज में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने इसीलिए व्यक्तिगत त्याग पर जोर दिया। अपरिग्रह का आदर्श उन्होंने इसलिए रखा था क्योंकि उस समय श्रम और

उत्पादन व्यक्तिगत था। हालांकि उस समय भी, समाज के एक वर्ग में संचय और शोषण की प्रवृत्ति घर कर चुकी थी। अपरिग्रहवाद का उद्देश्य आर्थिक विषमता को स्वेच्छा से कम करना था। धन और भौतिक सुखों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करने के पीछे भी उनका यही उद्देश्य था। महावीर ही नहीं उनके समकालीन सभी विचारकों में भौतिक सुखों और धन के प्रति उपेक्षा का भाव पाया जाता है। महावीर राजनेता या समाज व्यवस्थापक नहीं थे। वे एक आध्यात्मिक साधक थे। इसलिए उनके विचारों का अनुकरण आध्यात्मिक लक्ष्य को पाने के लिए ही किया गया और भारतीयों का सामाजिक जीवन ज्यों का त्यों अप्रभावित रहा।

व्यवहार : दुविधा का संकट :

अब हम २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर चाहते हैं कि दुनिया उनके बताए मार्ग पर चले, क्योंकि उनके बताए मार्ग पर चलकर ही वह सुख-शांति प्राप्त कर सकती है, और महावीर की विचारधारा आज के जीवन से जुड़ जाय जिससे आधुनिक जीवन के मूल्यों में गतिशील संतुलन स्थापित किया जा सके। पर नियति की विडम्बना यह है कि जिन सिद्धान्तों का हम विश्व में प्रचार चाहते हैं, हम उनका स्वयं के जीवन में प्रयोग नहीं करना चाहते। यह एक व्यावहारिक सत्य है कि प्रचार पर उन्हीं मूल्यों की पूछ होती है जो प्रयोग से सिद्ध किए जाते हैं। महावीर के सिद्धान्त सूर्य के प्रकाश की तरह स्वच्छ और आकाश की तरह उन्मुक्त हैं, लेकिन हम चाहते हैं कि जितना प्रकाश और आकाश हमने घेर रखा है उसे ही महावीर का समग्र और आकाश समझा जाय। धन सत्ता और साधना के शिखरों पर बैठे लोगों ने महावीर के विचारों पर भी एकाधिकार कर लिया है। आज का प्रत्येक बुद्धिजीवी जो परम्परा और आधुनिकता की देहरी पर खड़ा है, इस दुविधा से ग्रस्त है, उसे कोई रास्ता नहीं सूझता।

एक प्रश्न :

मैं पूछता हूँ क्या सूर्य के प्रकाश और आसमान का भी कोई आधुनिक संदर्भ है? सम्पूर्ण प्रखरता और व्यापकता ही उनका वास्तविक संदर्भ है। अतः उक्त विचारों को बदलने, या उनकी नई व्याख्या करने के बजाय हमें स्वयं को आधुनिक संदर्भ के सांचे में ढालना होगा। महावीर के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ है उसकी पूर्ण मुक्ति, जबकि आधुनिक संदर्भ में व्यक्ति को जीने की पूर्ण स्वतंत्रता। राज्य में व्यक्ति के कुछ मूल अधिकार हैं जिनके उपभोग की पूर्ण स्वतंत्रता उसे होनी चाहिए।

सही पथ :

मैं नहीं सोचता कि आधुनिक संदर्भ में व्यक्ति जिन मूल्यों के लिए संघर्ष कर रहा है, वही उसके जीवन का चरम सत्य है या यह कि इससे जीवन की समस्याओं का अंतिम हल निकाला जा सकता है। यदि ऐसा होता तो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न देशों में अशांति और मानसिक संत्रास क्यों? इससे लगता है कि सुख-शांति के लिए केवल भौतिक मूल्यों पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। उसके लिए किसी आंतरिक स्रोत की खोज करनी होगी। मैं समझता हूँ कि महावीर का विचार स्वातंत्र्य का आदर्श इस खोज का आंतरिक स्रोत हो सकता है।

●●●●

३०

महावीर–वाणी : सही दिशा-बोध

• डॉ० प्रेमप्रकाश भट्ट

प्रेय और श्रेय :

विश्व में जितने भी धर्म प्रचलित हैं उन सब में अन्तर्निहित एकता की चर्चा अक्सर की जाती है, सभी धर्म मनुष्य के भीतर छिपी हुई श्रेय व प्रेय की आकांक्षाओं में चलने वाले द्वन्द्व को मर्यादा के अनुशासन में बांधते हैं। प्रेय-पथ, लौकिक सुख-समृद्धि, सांसारिक प्रगति तथा व्यक्ति के स्वय के सुख व समाज में उसकी पद-प्रतिष्ठा से सम्बन्धित रहता है। उसके अहम् की तुष्टि इसी पथ पर चलने से होती है। वह अपनी पूरी शक्ति व क्षमता के साथ जीवन-संघर्ष में अपने को सफल बनाने के उद्योग में लगा रहता है। लेकिन इन प्रयत्नों में उसको क्रूर-कठोर बनकर, महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये हर सम्भव उपाय अपना कर बढ़ना पड़ता है। स्वाभाविक ही है कि स्वार्थी व संकुचित वृत्तियां उसके भीतर पैठकर उसको अनिष्ट की ओर दौड़ाती हैं। और तब व्यक्ति के बाहर का समाज, उसकी प्रचलित व्यवस्था, धर्म व कानून की मर्यादायें उसके आड़े आती हैं। महत्वाकांक्षा की दौड़ में मनुष्य इन सबको कुचलकर रौंदता हुआ किसी भीषण अमर्यादा का जनक न बन जाय, इसीलिए श्रेय की आकांक्षा उसको, उसकी अंध प्रगति को अंकुश में बांधती है। यहीं पर प्रेय व श्रेय के द्वन्द्व का का जन्म होता है। धर्म इस अवसर पर मनुष्य को भीतरी सुख-शान्ति, त्याग, परोपकार, सेवा व करुणा की ओर आकर्षित कर लौकिक और स्थूल सतह के नीचे छिपे आनंद के किसी गुप्त स्रोत की ओर उन्मुख करता है। मनुष्य अपनी व्यक्ति बद्ध, देश-काल बद्ध धारणा की गुलामी से मुक्त होकर देश-कालातीत समष्टि धर्म की लहरों पर तैरने लगता है। वह सचमुच अपने भीतर जगे हुए इन नवीन अनुभवों से साक्षात्कार करके रोमांचक आल्हाद के निविड़-सुख में डूबने-उतरने लगता है। यही श्रेय की प्रतीति है।

धर्म की सामयिकता का प्रश्न :

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि व्यक्ति को उसके निजी स्वार्थों की कैद से मुक्त करके समाज के व्यापक हितों की ओर उन्मुख करना ही हर धर्म का लक्ष्य रहा है।

धर्मों की आधारभूत परिकल्पना के पीछे व्यक्ति और समाज के हित का कोई न कोई आदर्श रहा है। यह सच है कि मानव इतिहास के पिछले एक हजार वर्ष के भीतर लौकिक दृष्टि का विकास हुआ है। धर्म के दायरे में अब तक जो क्रिया-कलाप चला करते

थे, उनको इस दायरे के बाहर भी प्रचलित किया गया और इस प्रकार धर्म की सम्प्रभुता को चुनौती दी गई। फलस्वरूप धर्म ने अपने शेष दायरे में अपने को समेट कर लोक-जीवन के सहज विकास से अपने को और काट लिया। इस प्रकार धर्म का वर्चस्व काल के थपेड़ों की मार से काफी हद तक क्षीण हुआ है। योरोपीय देशों का ध्यान इस चिन्ताजनक स्थिति की ओर गया और वहां के धर्मानुयायियों ने धर्म के पुनर्संस्कार की ओर दृष्टि दौड़ाई। अब तक धर्म संदेशों में जिन रूढ़ आवृत्तियों का चलन था, उनको अर्थपूर्ण बनाने की दिशा में ये लोग प्रवृत्त हुए। तात्पर्य यह है कि देश-काल की बदली हुई स्थितियों से धर्म को जोड़ा गया। अब आज के मनुष्य को और उसकी जीवन-चर्या को ध्यान में रखकर धर्म को पुनर्प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। तभी धर्म का एक सामयिक स्वरूप उभर पायेगा। इसके अभाव में वह मात्र एक पुरानी, पिटी हुई मृत रूढ़ियों का ढांचा समझा जायेगा जो धीरे-धीरे लोक-रुचि से कटा हुआ और अर्थहीन बनकर रह जायेगा। ईसाई धर्म में सामयिकीकरण की लहर इधर बड़ी तेजी से चल रही है। प्राचीनता के अनुयायियों ने इधर इसका जोरदार विरोध किया है, पर उनका विरोध अधिक समय तक टिक नहीं सका। आज स्थिति यह है कि धर्म की सनातन मान्यताओं को युग धर्म से जोड़कर उसको सामयिक रूप देने का आन्दोलन हर समाज में जोर पकड़ रहा है।

यों भी आज के समाज की पहचान उसके उदार दृष्टिकोण व खुलेपन से होती है। इन पिछली दो-तीन सदियों में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, तत्वविज्ञान की खोजों के फलस्वरूप हम अपनी मानव सभ्यता को कुछ अधिक विश्वास के साथ पहचानने लग गये हैं। इसी का यह परिणाम है कि आज का साधारण मनुष्य इस नव-जाग्रत विवेक से अपने को व अपने समाज को जानना चाहता है। हमारा देश भी आने वाले वर्षों में कुछ इसी दिशा की ओर जायेगा, इसका स्पष्ट संकेत मिलने लगा है। ऐसी परिस्थितियों में क्या यह उचित न होगा कि समय की नब्ज पहचान कर हम अपने को लोक-जीवन के सहज विकास से जोड़ें? यह प्रश्न हम भारतीयों के लिये विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि मन व मस्तिष्क के खुलेपन में हमारे पूर्वजों का, आरम्भ से ही पूर्ण विश्वास रहा है। पश्चिम के देश अनुभवों की लम्बी डोर के सहारे आज जिस पड़ाव पर पहुंचे हैं, उसका परिचय हमें पहले से ही था।

जैन धर्म की गहरी अर्थवत्ता :

भारत में आरम्भ से लेकर जिन धर्मों का प्रचलन देखने को मिलता है यों तो उसकी विकासमान परम्परा से इस बात का प्रमाण मिलता है कि उसके मूल में विराट सामंजस्य-भावना है। फिर भी इस विशेषता का जैसा तात्विक-स्वरूप जैन धर्म–दर्शन में उभर कर स्पष्ट हुआ है—वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। इतिहास की सुदीर्घ परम्परा में जीवन सत्य की पहचान भारतीय मनीषी को जिस रूप में हुई है, उसी को अपने में सन्निविष्ट कर जैन धर्म-दर्शन ने रूप ग्रहण किया है। जैन धर्म के आरम्भिक उद्भव व विकास की परिस्थिति पर विचार करने से इस शंका का उत्तर मिलेगा कि आखिर किन कारणों से जैन धर्म-दर्शन का आन्तरिक संरचना का नियमन इस रूप में हुआ है कि वह देश-काल से निर्बन्ध

सतत् परिवर्तनशील मानव चेतना के द्वारा अर्जित अनुभव-सम्पदा को अपने भीतर समाहित कर पाने में सक्षम बना रहा। भगवान् महावीर के अवतरण के समय में हिंसा, कर्मकाण्ड व भोगवादिता की चरम सीमा थी। समाज में प्रचलित बहिर्मुखता के कारण व्यक्ति स्वार्थी और भोगलिप्सु बनकर निरंकुश जीवन जी रहा था। इस अत्यधिक विलासिता के फलस्वरूप जीवन की मर्यादा खण्डित होने लगी थी। सामाजिक जीवन का ह्रास हो रहा था। कुल मिलाकर आधिभौतिक मूल्यों के नीचे आध्यात्मिक मूल्य दबे-कुचले जा चुके थे। ऐसे समय महावीर के प्राकट्य से एक नये वातावरण का निर्माण हुआ। उन्होंने बहिर्मुखता में खोये अशान्त जीवन को स्थिर चित्त होने की सीख दी। नष्ट प्रायः मर्यादाओं को फिर जीवित किया और बाहरी-भीतरी जीवन में सन्तुलन व संयम की रचना की। कहने का आशय यह है कि संकुचित स्वार्थों से व्यक्ति का ध्यान हटाकर उसे विशालतर जीवन भूमि की ओर आकर्षित किया। इससे व्यक्ति व समाज के भीतर शुचिता व पवित्रता का नवोन्मेष हुआ। पर इस सबके पीछे सामंजस्य व सन्तुलन की भावना बराबर बनी रही। ऐसा नहीं हुआ कि भौतिकता का एकदम तिरस्कार करके कोरी आध्यात्मिकता को ही प्रतिष्ठित किया गया हो।

प्रायः यह देखने में आता है कि एक अतिवादिता को समाप्त करने के उत्साह में मनुष्य दूसरी अतिवादिता को स्थापित कर बैठता है। मानव सभ्यता के इतिहास में यह एक अति परिचित तथ्य है कि विरोधी विचार धाराओं के संघर्ष के फलस्वरूप जीवन-सत्य का बराबर तिरस्कार होता रहा। जीवन की वास्तविक सच्चाई तो उस बिन्दु पर रहा करती है जहां विरोधों में सामंजस्य रहा करता है। लेकिन ऐसा प्रायः होता नहीं है। अक्सर विचारों का पारस्परिक द्वन्द्व एक-दूसरे की काट में उलझ कर वास्तविकताओं से दूर जा पड़ता है। फलतः कोरी शास्त्र चर्चा व बौद्धिक व्यायाम के कारण एक नये पाखण्ड का जन्म होता है। जैन धर्म का इतिहास इस बात की सूचना देता है कि उसके मूल में कहीं गहरी अर्थवत्ता छिपी हुई है। यही कारण है कि किसी निश्चित विचार-धारा के प्रति उसका हठी आग्रह नहीं है, जो कि अन्यत्र प्रायः देखने को मिलता है।

जैन धर्म की आर्ष दृष्टियां :

प्रायः सत्य की अनेकरूपता के कारण किसी विशेष विचारधारा के पोषक दिशा-भ्रम के शिकार हो जाते हैं। उन्हें यह ठीक-ठीक नहीं सूझता कि सत्य-असत्य की सीमायें कहां हैं। वे भ्रमवश अपने पक्ष से मेल न खाने वाले अन्य दृष्टिकोणों का पूरी शक्ति से विरोध करते रहते हैं। जैन धर्म में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की धारणायें इन्हीं भ्रान्तियों के निराकरण के लिए अपनाई गई आर्ष दृष्टियां हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-धर्म की विकास-परम्परा के बीच जैन तत्व-चिन्तकों का यह अर्जित सत्य इन दार्शनिक अवधारणाओं के रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

प्राचीन भारतीय–विद्या के अध्येता से यह दृष्टि-भेद छिपा न रह सकेगा कि हिन्दू-धर्म में जहां 'श्रद्धा' तत्त्व पर बल दिया गया है और 'शंका' तत्त्व की एकान्त उपेक्षा की गई है, जहां जैन धर्म में ठीक इसके विपरीत शंका को प्रश्रय देकर ज्ञान की मूल प्रेरक

शक्ति जिज्ञासा का पोषण किया गया है। इधर विज्ञान की उपलब्धियों के मूल में यही भावना कार्य करती रही है। सत्य की खोज के पीछे शंका की प्रेरक शक्ति सदा वर्तमान रहती है। आधुनिक अनुसंधानों के पीछे इसका महत्त्व स्वयं सिद्ध है। ठीक इसी का पूरक दूसरा पक्ष अनेकांतवाद में देखा जा सकता है। इधर बौद्धिकों के भीतर किसी एक अनुशासन की सीमाओं में कार्यरत रहने की प्रवृत्ति दूर हो रही है। वे यह अनुभव करने लग गये हैं कि जब एक अनुशासन के भीतर की उपलब्धि बहुत दूर तक अन्य अनुशासकों की धारणाओं को आमूल परिवर्तित करने में सक्षम है, तब विविध अनुशासनों से होकर गुजरने वाला रास्ता अनन्त सम्भावनाओं के द्वार खोल देता है। क्या 'अनेकांतवाद' के रूप में आधुनिक मस्तिष्क की इस उपलब्धि की गूंज नहीं सुनाई पड़ती ? कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी बहुत सी आधुनिक अवधारणाओं का समानान्तर स्वरूप जैन-धर्म दर्शन में खोजा जा सकता है। आधुनिक मस्तिष्क के लिए यह कम विस्मय की बात नहीं है कि हजारों वर्ष पहले भारतीय मनीषा की बौद्धिक सूझ कैसी विस्तृत उड़ान भर सकती थी।

मनुष्यता दिग्भ्रमित :

धर्मों के प्रति आधुनिक समाज की रुचि व आकर्षण उस रूप में नहीं है जैसे कि प्राचीन काल या मध्ययुग में रहे हैं। इस परिवर्तन का मुख्य कारण यह है कि आज परिवर्तित परिस्थितियों में आधुनिक मनुष्य के लिये धर्म की अनिवार्यता समाप्त हो चली है। वह विशुद्ध लौकिक दृष्टि, धर्म-निरपेक्षता का भाव रखता हुआ अपनी जीवन-यात्रा चला रहा है। समाज-कल्याण की भावना का प्रवेश जब अधार्मिक संस्थाओं में हो गया है, तब धर्म का महत्त्व व गौरव कम होना स्वाभाविक ही है। परन्तु धर्म का स्थान लेने वाली व्यवस्था की सम्भावनायें अभी बहुत दूर हैं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से जन-सामान्य को वह संबल और आधार प्राप्त नहीं हो सकता जो कि धर्म के कारण उसे सहज प्राप्त था। ऐसे समय में जबकि पुराने आधार खिसक रहे हों और नवीन आधार जड़ जमा पाने में असफल हों, मनुष्यता भटका करती है। मूल्य विमूढ़ता की शिकार बनकर वह अधर में लटकती रहती है। भारत के प्रसंग में यह स्थिति और भी चिंताजनक कही जा सकती है। यहां एक ओर धर्म-निरपेक्षता की घोषित नीतियों के साथ आधुनिक निर्माण-कार्य चल रहे हैं, तथा दूसरी ओर अन्धविश्वासों की सीमा तक धर्म में गले-गले तक डूबी हुई पिछलग्गू जनता है। मुट्ठी भर आधुनिकों के हाथों विशाल जन-समुदाय हांका जा रहा है।

महावीर-वाणी : सही दिशा-बोध :

प्रश्न उठता है कि ऐसी आपा-धापी में, अंधी दौड़ में हम अपने देश व समाज के लिए किस धर्म को प्रासंगिक समझें। कहने की जरूरत नहीं है कि आज की परिस्थिति में भगवान् महावीर की वाणी में नई चेतना जगाने की शक्ति है। हजारों वर्ष पूर्व उन्होंने अपनी अमृत वाणी से हिंसा, स्वार्थ, क्रूरता, भौतिकता में डूबे हुए समाज को स्वस्थ नैतिक वायुमण्डल प्रदान कर भीतर व बाहर की शुचिता उसे प्रदान की थी—आज ठीक उसी की जरूरत है। भारत में चरित्र का स्खलन एक ऐसी महा दुखांत घटना है जिसकी पीड़ा

से देश का हर नागरिक संतप्त है। अफसोस इस बात का है कि इस महामारी से पीड़ित रहकर भी इसे दूर करने की ओर हम प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं। हम लौकिक उत्थान चाहने वाले जीवन में श्रेय की अपेक्षा प्रेय का अनुसरण करने वाले इस बात को भूल रहे हैं कि जैन-धर्म में नैतिक उत्थान का जो आदेश है उससे न केवल हमारे जीवन में समृद्धि व सुख का आविर्भाव होगा बल्कि हम आनन्द के गुप्त स्रोतों का भी उद्‌घाटन कर पायेंगे। जिनेन्द्र की वाणी में यह शक्ति है कि वह आधुनिक विज्ञान के प्रभा-मण्डल में रहने वाले मनुष्य पर सीधा प्रभाव डाल सकती है। जैन धर्म की विज्ञान सम्मत धारणाओं, स्याद्-वाद व अनेकांतवाद की दार्शनिक अवधारणाओं का इस बीसवीं सदी के मनुष्य के लिये सामयिक महत्त्व है। हजारों वर्ष पुरानी जिनेन्द्र की उस वाणी में आज की दुःख-दग्ध मनुष्यता के लिये सामयिक सन्देश है।

•••



३१

आधुनिक दार्शनिक धारणाएं और महावीर

• पं० श्रुतिदेव शास्त्री

महावीर बचपन मे ही त्याग, तपस्या और विशेष चिन्तन की अवस्था में रहस्या-वृत्त-जैसे रहते थे और यही कारण था कि वे शैशव के अनन्तर तरुणावस्था में ही घर छोड़कर तपस्या के लिए निकल पड़े थे। उन्होंने क्षुधा, पिपासा, दुःसह दुखों पर विजय पाकर अतिकृच्छ्र तपस्या की और वे सभी आस्रवों से मुक्त होकर 'जिन' हो गए थे। वे परमेष्ठी, केवली और सच्चिदानन्द स्वरूप जिन थे। जिनत्व प्राप्ति के वाद वे मैत्र और करुणावस्था में दुःखदग्ध संसार को मोक्ष-मार्ग के उपदेश के लिए जन-सामान्य के बीच निकल पड़े थे। वे अन्तिम तीर्थंकर 'जिन' थे और उन्होंने जैन धर्म को सम्पूर्णता प्रदान की थी।

महावीर कालीन दार्शनिक धारणाएं :

भगवान् महावीर के समय मगध में पराक्रमी शिशुनागवंश का विस्तृत और दृढ़तम शक्ति-सम्पन्न राज्य था, पश्चिम में काशी जनपद का दृढ़ राज्य था तथा गंगा के उत्तर वज्जी लिच्छवी संघ का सुदृढ़ गणतन्त्र-शासन था। जनता सुखी सम्पन्न थी। आर्थिक और राजनीतिक स्थितियां दृढ़तर थी। सांसारिक सुख-भोगों के आवरण में जन-सामान्य लिपटा पड़ा था। ऐसे समय में समाज में अध्यात्मवाद की एक नवीन प्रतिक्रिया आगे बढ़ती है। यही कारण था कि उस समय इस पूर्वांचल प्रदेश मे छह उपदेष्टा आचार्य और उनके संघ अध्यात्मवाद की पृथक्-पृथक् व्यवस्था प्रस्तुत कर रहे थे तथा जनता को अपना अनुयायी वना रहे थे। इनमें प्रकुध कात्यायन, अजित केशकम्बली, मक्खलि गोशाल, संजय वेलट्ठीपुत्र, बुद्ध तथा तीर्थंकर निर्ग्रन्थ महावीर प्रमुख थे। सभी आचार्य अपने-अपने ढंग से अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। इनमें कोई देववादी था, कोई ऐहिकवादी नास्तिक तथा कोई विभूति-प्रदर्शनवादी। इन सभी आचार्यों में मक्खलि गोशाल के आजीवक संघ का, बुद्ध के बौद्ध संघ का तथा तीर्थंकर महावीर के जैनसंघ का विशेष प्रभाव जनता और समाज पर था। मक्खलि गोशाल के आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षु अपने गुरु गोशाल के सामने अपने अलौकिक-विभूति-प्रदर्शन द्वारा जनता पर अधिक प्रभाव डालते थे। वे मारण-उच्चाटन का प्रयोग करते थे, वे अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करते थे, यहां तक कि मक्खलि गोशाल ने महावीर तीर्थंकर पर भी अपने मारण का प्रयोग किया था, जैसा कि 'भगवती सूत्र' के स्रोतों से ज्ञात होता है। बुद्ध पर भी उसका मारण प्रयोग हुआ

था, लेकिन इन दोनों ने उसकी लेश्या को अपनी तेजोलेश्या से समाप्त कर दिया था। बुद्ध और बौद्ध संघ का प्रभाव मगध और काशी जनपद के राजकुल पर था और उस राज्य प्रभाव के कारण उनके संघ का प्रभाव एवं प्रचार-प्रसार अधिक हुआ था, लेकिन राज्य प्रभाव से हीन जैन-संघ का प्रसार जनता के बीच स्वाभाविक रूप से होता था। जिस प्रकार बुद्ध के साथ आनन्द थे और उन्हें ही सम्बोधित करके बुद्ध प्रायः अधिकांश विशिष्ट उपदेश देते थे, उसी प्रकार महावीर के साथ गौतम थे और वही प्रायः अधिक गूढ़ प्रश्न करते थे और उन प्रश्नों का उत्तर महावीर गौतम को सम्बोधित करके दिया करते थे।

जैनागमों के साक्ष्य में कहा जा सकता है कि महावीर के जीवन का अधिकांश समय जनता की कल्याण की कामना से जनता के बीच ही बीता था जबकि बुद्ध का समय जनता और राजकुल के बीच बंटा हुआ था। वे राजकुल में—राजा, राज्याधिकारी, सैनिक एवं राजपुरुषों के बीच ऐसे समाविष्ट हो गए थे कि बहुत से राज्याधिकारी, सैनिक एवं दूसरे राजपुरुष, संघ के राजभोग्य सुखों की ओर आकृष्ट होकर भिक्षुक होते जा रहे थे और मगधराज को बुद्ध से इसकी शिकायत करनी पड़ी थी। जिसके बाद भिक्षुक बनने के लिए माता, पिता, पत्नी, अभिभावक तथा अधिकारी पुरुष की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। लेकिन ऐसी अवस्था जैन संघ में नहीं थी। जैनसंघ का सारा संघटन वज्जियों के संघशासन के अनुरूप होता था जबकि बौद्ध संघ का निर्माण संघ और राज्य दोनों के बीच का होता था।

महावीर का दर्शन :

जैन तीर्थंकर महावीर के उपदेश पंच महा-अणुव्रत पर आधारित थे। ये पंचाणुव्रत है :—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। ये ही पांच महाव्रत बौद्धागमों में पंचशील और वैदिक परम्परा में 'यम' के नाम से जाने जाते हैं। मानव जीवन के कल्याण के लिए इन व्रतों या शीलों को अनिवार्य माना जाता है, दूसरे सभी आवश्यक नियमों में परिवर्तन हो सकता है, उनका त्याग किया जा सकता है किन्तु इनमें परिवर्तन या इनका त्याग नहीं किया जा सकता है। जैनागमों में इन मूलभूत आचारों पर अत्यन्त ध्यान दिया जाता है। यह आधारशिला है। इनके बिना जैन-धर्म की सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। ये श्रावकों और अनगारों, दोनों के लिए अणुव्रत महाव्रत के रूप में अनिवार्य हैं। यों तो इन पांचों पर निर्विशेष रूप से बल दिया जाता है, लेकिन अहिंसा की जो विस्तृत व्याख्या जैन-धर्म ने प्रस्तुत की है और जितना इस पर बल दिया है, उतना किसी दूसरे धर्म ने नहीं दिया है। इस व्याख्या-क्रम में स्थूलतम हिंसा से सूक्ष्मतम हिंसा तक का निषेध कर के अहिंसा का परम एकान्तनिष्ठ सिद्धान्त स्थापित किया गया है। हिंसा की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि रागादि कषायों के कारण मन, वचन, काय से द्रव्यरूप में या भावरूप में जो प्राणियों का घात किया जाता है, वहीं हिंसा है :—

यत्खलु कषाय योगात् प्रणानां द्रव्यभाव रूपाणाम्।
व्ययरोपणस्य कारणं सुनिश्चिता सा भवति हिंसा ॥

और आत्मा में रागादि कपायों का न होना ही अहिंसा है तथा रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है, यह सम्पूर्ण जैनागम का तत्त्वसार है :—

अप्रादुर्भाव.खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेपा मेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।

इतनी सूक्ष्म व्याख्या के द्वारा हिंसा–अहिंसा की व्याख्या प्रस्तुत की गई है ।

जैन-धर्म चारित्र प्रकरण में अहिंसा को परमोच्चस्थान प्रदान करता है तथा मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के समुदाय में चारित्र में अहिंसा को प्रथम माना गया है और चारित्र के सम्यकत्व में अहिंसा को मूल मानकर वन्ध कारण-भूत सभी आस्रवों के संवरण द्वारा निर्जरा प्राप्त व्यक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का उपदेश दिया गया है ।

आधुनिक दार्शनिक धारणाएँ और महावीर :

जैन-धर्म की इस अहिंसा से प्रेरित होकर आज के महान् उपदेष्टा महात्मा गांधी ने अहिंसा को अपने सिद्धान्त का मूल मन्त्र मानकर, उसे अपने राजनीतिक संघर्ष में दार्शनिक आधारशिला के रूप में स्थापित किया था, तथा उसे व्यावहारिक जामा पहनाकर अपना संघर्ष चलाया था ।

अहिंसा को आज के वैज्ञानिक युग में जैन-धर्म की सर्व प्रथम मान्यता का कारण माना जा सकता है तथा आज के भौतिक जगत् को एक वड़ी देन मानी जा सकती है। भगवान् महावीर के चरित्राध्यायी जनों को ज्ञात ही है कि वे अपने तपस्याकाल से मुक्ति पर्यन्त अहिंसा के कितने वड़े साधक थे । उन्होंने अहिंसा को परमोच्च स्थान दिया था तथा व्यवहार में कीट-पतंगों से आक्रांत होकर भी उसे हटाने तक का प्रयास नहीं किया था, क्योंकि उस अपसारण में रागादि का भाव शरीर के प्रति कश्मल कपाय के आविर्भाव का भाव वना हुआ था ।

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान प्रकरण में जो कुछ भी ज्ञान प्रस्तुत किया गया है वह और उसकी जो दार्शनिक व्याख्या उपस्थित की गई है, वह आज के वैज्ञानिक युग में भी शत-प्रतिशत सही उतरती है । जैनागम में द्रव्य का सही लक्षण यही है कि वह उत्पाद, नाश और ध्रुवता से युक्त सत्तात्मक हो । द्रव्य का उत्पन्न होना, नाश होना तथा अपनी सीमा स्थिति में ध्रुव (स्थितिमान्) रहकर अपनी सत्ता वनाये रखना ही उसकी सत्ता का मूलस्वरूप है, "उत्पाद व्यय ध्रोव्ययुक्त सत द्रव्यम्" (तत्त्वार्थ सू०–५-२९-३०) । द्रव्य की यह व्यास्या 'भगवती सूत्र' से लेकर अद्यपर्यन्त की गई है । द्रव्य की इस उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के सिद्धान्त को आज भी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं । यही वात गीता में इस प्रकार कही गयी है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयो स्तत्त्व दर्शिभिः ।।

असत् की सत्ता नहीं हो सकती और सत् का अभाव—सर्वथा नाश नहीं हो सकता, तत्त्वदर्शी इन दोनों के अन्त के परिणाम को ज्ञान चक्षु से देखते हैं। नैयायिकों ने भी द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा है—सगुणं सक्रियं सच्च द्रव्यम्। इसका तात्पर्य है कि द्रव्य स्थितिमान् सत्तात्मक पदार्थ है उसका उत्पाद व्यय (नाश) और ध्रौव्य केवल परिणामी संस्कार है। अर्थात् द्रव्य का एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तन मात्र होता है और परिवर्तन रूप में वह तात्कालिक स्थिति में रहता है—सोना, सोने की कटक कुण्डल के रूप में परिणति तथा स्थिति। इसी सिद्धान्त को आज के वैज्ञानिक, पदार्थ सत्ता का सुरक्षात्मक सिद्धान्त तथा शक्ति का सुरक्षात्मक सिद्धान्त कहते हैं।

इसी प्रकार जैनों के अणु-सिद्धान्त और स्याद्वाद के सिद्धान्त आज के वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक परिभाषाओं पर कसे जा सकते हैं। अणुओं की विस्तृत व्याख्या एवं विवेचना जैनागमों में की गई है! अणुओं की तुलना आज के एटम और एलेक्ट्रोन से की जा सकती हैं। जो स्थिति और गति एटम में है, वही स्थिति और गति जैन शास्त्रकारों ने भी चित्रित की है।

जैनियों के स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, सप्तभंगी आदि नाम से प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त तथा पदार्थ-व्याख्या-परक मान्यतायें आज के सापेक्षवाद के साथ मिलती हैं। तीर्थंकर महावीर के गौतम को सम्बोधित करके कहे गए स्याद्वाद या सप्तभंगी के सिद्धान्त आईंस्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त से सर्वथा एकात्मकता प्राप्त करते हैं। जैनागमों में वस्तु तत्व को समझने के लिए दो नयों का प्रतिपादन किया गया है—एक विनिश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। इन्हीं दो नयों से सम्पूर्ण सृष्टि तत्त्व का ज्ञान होता है। फिर ये नय भी सप्तभंगी द्वारा सात प्रकार के माने गए हैं। प्रत्येक वस्तु 'स्यादस्ति स्यान्नस्ति' सिद्धान्त के सापेक्ष ज्ञान की परिधि में आ जाती है। महावीर ने गौतम के प्रश्न पर गुड़ के वर्ण, रस आदि गुणों की व्याख्या इन्हीं नयों से की है। फिर इन नयों के सिद्धान्त को समन्तभद्र आदि विद्वानों ने विस्तृत व्याख्या के द्वारा सूक्ष्म रूप से प्रतिष्ठापित किया था।

जिस प्रकार इन नयों से वस्तुओं के अथवा द्रव्य तत्त्व के नित्यानित्यत्व, वर्ण, रस, गन्ध स्पर्शादि का विवेचन भगवान् महावीर ने तथा दूसरे आचार्यों ने किया है उसी प्रकार से वह सर्वथा आज के वैज्ञानिक सापेक्षवाद के रूप में चित्रित किया जाता है। आज का वैज्ञानिक सापेक्षवाद अति नवीन तथा अनेक गुरुत्वाकर्षणवाद आदि वैज्ञानिक परम्पराओं को पार करके स्थापित हुआ है, जबकि प्राचीनतम भारतीय सापेक्षता का सिद्धान्त आज से कम-से-कम ढाई हजार वर्ष पूर्व का है।

हीगेल के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा 'डाइलेक्टिक मैटरियलिज्म' की व्याख्या भी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भारतीय दर्शन के सिद्धान्त की कसौटी पर खरी उतरती है। द्वन्द्वात्मकवाद की तीन अवस्थायें :—वाद (थीसिस), प्रतिवाद (एंटी थीसिस) तथा संवाद (सिन्थीसिस) भारतीय दर्शन के वाद, प्रतिवाद और संवाद के परिणाम हैं या यों कहा जाय कि स्थिति, परिवर्तन (निषेधात्मक) और प्रतिफलन या विवर्त मात्र है। प्रत्येक वस्तु की अपनी एक सत्ता होती है, उसकी एक प्रतिषेधात्मक अथवा परिवर्तनात्मक या

पर्यायात्मक स्थिति आती है और तब वह नये रूप में विवर्तरूप में परिवर्तित लक्षित होता है—जैसे दूध की स्थित्यात्मक सत्ता, उसका प्रतिषेधात्मक परिवर्तन और परिवर्तन जन्य दधि रूप में विवर्तभाव। इसी प्रकार सोना द्रव्य की सत्ता, उसका अग्निक्रिया द्वारा परिवर्तन तथा विवर्तरूप कटक-कुण्डलादि। ये तीनों अवस्थायें प्रत्येक भौतिक पदार्थ के साथ जुड़ी हुई हैं। यही वस्तुतः जैनदर्शन का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है अथवा वेदान्त और व्याकरण दर्शन का विवर्तवाद है। शब्दों का भेद हो सकता है, उदाहरण भिन्न हो सकते हैं किन्तु परिवृत्ति और निष्कर्ष एक ही आयेगा। जैसे कहीं, किसी क्षण दो-दो चार होता है वैसे ही ये अवस्थायें इसके साथ जुड़ेंगी। यह विवर्तवाद वैज्ञानिक, दार्शनिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक सभी व्याख्याओं में खरा उतरता है। चूंकि पाश्चात्य विद्वानों को बीसवीं सदी से पूर्व भारतीय-दर्शन की विशेष जानकारी प्राप्त न हो सकी थी, इसलिए उनकी नई थीसिस नवीनतम और उपजातरूप में समाज के सामने आई और तमसावृत्त भारतीय सिद्धान्त पीछे पड़ गया। भारतीय दर्शन जीवन, सृष्टि, प्रलय, पुनर्जन्म आदि की व्याख्या इसी कसौटी पर करते हैं, और आज के वैज्ञानिक भी अब इसी मार्ग का आश्रय लेकर सापेक्षवाद, परमाणुवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि की विवेचना करने लगे हैं।

भारतीय दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, जिससे कि आधुनिक वैज्ञानिक सुधीगण तथा नवीन समाज इसके महत्त्व को और वास्तविकता को समझ सके। और, फिर एक बार नास्तिकता का खंडन होकर आस्तिकवाद, आत्मवाद का प्रचार-प्रसार हो सके जिससे कि विश्लेषण प्रधान निरा भौतिकवादी विज्ञान अध्यात्म का सुहागा पाकर खरा उतरे तथा जीवन और सृष्टि का अभ्युदय एवं निःश्रेयसकारी साधन बन सके। बिना अध्यात्मवाद या आत्मदर्शन के सारी सृष्टि निष्प्रयोजन और निरुद्देश्य प्रमाणित हो जायेगी। जीवन के मूलभूत उद्देश्य चतुर्वर्ग के अभाव में सारी सृष्टि अचेतन-जैसी होगी और और मानव का अभ्युदय एवं निःश्रेयस रुक जायगा।

इस ओर आचार्य श्री तुलसी, मुनि श्री नगराज आदि ने अणुव्रत आन्दोलन द्वारा तथा आचार्य श्री नानालालजी महाराज ने 'समता दर्शन' द्वारा जैन दर्शन की नई वैज्ञानिक व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं और मानव-समाज का महान् हित-साधन किया है। महर्षि अरविन्द, डॉ० राधाकृष्णन जैसे दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन की नई जीवनोपयोगी व्यावहारिक व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं तथा धर्मानन्द कौशाम्बी आदि ने भी नवीन दृष्टि दी है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भगवान् महावीर का आचार-दर्शन, आत्म-दर्शन तथा इन दर्शनों की व्याख्यात्मक विवेचना-पद्धति न केवल वैज्ञानिक और आधुनिकतम है, प्रत्युत, मानव-समाज को सही मार्ग दिखाकर उन्हें उचित उद्देश्य की ओर ले जाने का एकमात्र साधन है।

••••

३२

अध्यात्म विज्ञान से ही मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा संभव

• श्री देवकुमार जैन

जीने की इच्छा :

सचेतन सृष्टि की प्रत्येक इकाई में जिजीविषा-मूलक वृत्ति स्वभावतः विद्यमान है। लेकिन जीवित रहना मात्र जिजीविषा नहीं है, अपितु सुख के साथ जीवित रहना ही जिजीविषा है। अतः उसके केन्द्र में सुख-प्राप्ति की अभिलाषा भी अन्तर्निहित है, और सुख के साथ जीने की अभिलाषा में प्रतिकूलता जन्य वेदना, दुःख से बचने की वृत्ति होना भी अवश्यंभावी है। इसीलिये संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से दूर भागता है। सुखी होना उसका परम लक्ष्य है। इसके लिये वह पूर्ण प्रयत्न करता है, साधन-सामग्री जुटाता है, फिर भी लक्ष्य-सिद्धि में असफलता मिलती है तो उसका मूल कारण है—आत्म-विस्मृति।

आत्म-विस्मृति के कारण ही मैं कौन हूं, मेरा क्या स्वरूप है, मेरा क्या कर्तव्य है और कौन-सा मार्ग मेरे लिये श्रेयस्कर एवं सुखदायक है आदि बातों का उसे भान ही नहीं होता है। परिणामतः वह पर-पदार्थों में राग करता है और उनसे सुख पाने की चेष्टा करता है। लेकिन जब उनसे सुख प्राप्त नहीं होता है, तब वह उनसे द्वेष करने लगता है।

राग आकर्षण का और द्वेष विकर्षण का सिद्धान्त है। राग से 'पर' में 'स्व' का आरोपण किया जाता है एवं 'स्व' 'पर' बन जाता है। स्व-पर राग-द्वेष, आकर्षण विकर्षण के कारण सदैव संघर्ष अथवा द्वन्द्व बना रहता है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं और इन दोनों के आश्रय से प्राणी चंचल होकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। सतत अभ्यास जन्य अज्ञान उसे बाह्य वस्तुओं में आसक्त रहने वाला या बहिर्मुखी बना देता है। वह पर-पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति या संयोग-वियोग में अपने को सुखी या दुःखी मानने लगता है।

जीने की इच्छा केवल मनुष्य में ही नहीं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों तक में भी पाई जाती है। वे भी जीवित रहना चाहते हैं। परन्तु उनकी दृष्टि वर्तमान दैहिक-जीवन से आगे नहीं बढ़ती है और वे आगे या पीछे के जीवन के बारे में कुछ सोच ही नहीं सकते हैं। परिणामतः सुख-प्राप्ति और दुख-निवृत्ति की अभिलाषा होने पर भी वे हेयोपादेय का विवेक न होने अपने-अपने क्षेत्र एवं समय सम्बन्धी सुख-दुःख भोगते रहते हैं।

आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति :

इतना होने पर भी यह तो निर्विवाद है कि प्रत्येक प्राणी इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिये लालायित रहता है। आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति की लघुतम किरण सदैव उसके अंतरंग को प्रकाशित करती रहती है। अस्तित्व का यह सारतत्त्व प्रत्येक प्राणी के अन्दर अवस्थित है, जिससे वह किसी भी विकटतम स्थिति में हेयोपादेय के विवेक द्वारा मोहोन्माद को उपशांत करने के प्रयत्न में जुट जाता है।

इस प्रकार जीने की इच्छा, सुखाभिलाषा एवं दुःख के प्रतिकार की भावना में ही आध्यात्मिकता का बीज निहित है। इस आध्यात्मिक उत्कर्ष के द्वारा ही व्यक्ति बहिर्मुखता एवं वासनाओं से विनिर्मुक्त होकर शुद्ध सत-चित्आनन्द घन रूप आत्मस्वरूप की ओर अग्रसर होता है। इसके विकासोन्मुखी या विकसित रूप द्वारा ही समग्र प्राणधारियों की प्रगति का अंकन किया जा सकता है।

आत्मा का ज्ञान होना, समझना संभव है। लेकिन वह केवल विवेक द्वारा नहीं वरन् सम्पूर्ण व्यक्तित्व द्वारा संभव है। इसके लिए आवश्यक है—आत्मानुशासन की, लालसा और उसके सहयोगी भय घृणा और चिन्ता पर विजय पाने की। वासनाओं पर विजय पाने वाला अपने ही भीतर आत्मा के सौन्दर्य को देख सकता है।

आध्यात्मिक ज्ञान का अर्थ है, सभी जीव-धारियों में व्यक्त एक अदृश्य वास्तविकता के प्रति आस्था, आत्मिक अनुभव का महत्व और संस्कारों एवं सिद्धान्तों की सापेक्षता। आध्यात्मिकता का अनुभव प्रयोग सिद्ध नहीं है वरन् भावनात्मक है और उसके साथ अनुभव का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। भावना अनुभूति है और उसका वेदन 'स्व' में ही होता है।

यदि हम सचेतन को केवल पार्थिव अथवा परिवर्तनशील विचारों का पिंड समझें तो समझ नहीं सकेंगे। वह सृष्टि की प्रक्रिया का व्यर्थ पदार्थ नहीं है। वह आध्यात्मिक प्राणी है और जब उसका स्वाभाविक जीवन प्रारम्भ होता है, तभी उसके आध्यात्मिक अस्तित्व का पता चलता है।

सचेतन सृष्टि के समस्त प्राणधारियों में मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। उसकी अपनी मौलिक विशेषतायें हैं, जो अन्य प्राणधारियों में नहीं पाई जाती हैं। मानव और पशु आदि सचेतन हैं लेकिन मानव में विवेकयुक्त चेतना का प्रादुर्भाव है। वह अंधी भौतिक शक्तियों का शिकार नहीं है, वरन् अपने भविष्य के निर्माण में स्वयं अग्रसर होता है। पशु नकल करके ही कुछ सीखते हैं, किन्तु अनुभव से सीखने की क्षमता का सर्वाधिक विकास मानव में ही हो पाया है।

विकास का सही अर्थ :

आधुनिक युग विकास का युग अवश्य कहलाता है परन्तु विकास के सही अर्थ को न समझ कर विकास की बातें होते देखकर विस्मय होता है। भौतिक सम्पदा की वृद्धि वास्तविक विकास नहीं है, लेकिन आज विकास का यही अर्थ माना जाता है। विकास दो

प्रकार के हैं—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक विकास तो पशु-पक्षियों तक में भी देखा जाता है। खान-पान, स्थान आदि की सुविधा मिले और चिन्ता-भय नहीं रहे तो पशु-पक्षी भी बलवान और पुष्ट हो जाते हैं। लेकिन मनुष्य और पशु-पक्षियों के शारीरिक विकास का अंतर ध्यान देने योग्य है। क्या मनुष्य का शारीरिक विकास केवल खान-पान और रहन-सहन आदि की पूरी सुविधा और निश्चिंतता से ही सिद्ध हो सकता है? मनुष्य के शारीरिक विकास के पीछे पूरा बुद्धि-योग हो, तभी वह समुचित रूप से सिद्ध हो सकता है अर्थात् मनुष्य का पूर्ण और समुचित विकास (शारीरिक और मानसिक) व्यवस्थित और जागृत बुद्धि-योग की अपेक्षा रखता है। मानव-जाति की महत्वपूर्ण विशेषता यही है कि उसे सहज बुद्धि को धारण करने या पैदा करने की सामर्थ्य या योग्यता प्राप्त है, जो विकास का, असाधारण विकास का मुख्य साधन है। इसको विकसित करने के लिये आध्यात्मिक आलोक की ओर अग्रसर होने की महती आवश्यकता है और उसकी साधना में मानव-जीवन की कृतार्थता है। लेकिन मानसिक विकास के मूलाधार बौद्धिक, आध्यात्मिक चिन्तन की उपेक्षा कर संसार को ही सब कुछ माना जाये तो फिर विकास हो कैसे? बिना बीज के अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है। आंखों में पदार्थों को देखने की शक्ति न हो तो उन्हें देखा नहीं जा सकता है। इसीसे मानवीय मस्तिष्क में विकृति है और आत्मा रोगग्रस्त है। शाश्वत के प्रति आस्थाहीनता ही विषम व्याधि है और विश्व की अशान्ति का कारण है।

अपना अस्तित्व और आत्मा की निर्मलता को बनाये रखना, तथा आध्यात्मिक पवित्रता को प्राप्त करना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। आत्मपरकता का सिद्धान्त ही उसके पृथक् अस्तित्व का मूलाधार है। मानव केवल भौतिक संपत्ति, यहां तक कि ज्ञानार्जन से ही संतुष्ट नहीं हो सकता है। सच्चा ऐश्वर्य आत्मिक है, भौतिक नहीं है। उसका उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार करना है। यही स्वतंत्रता है और असीम स्वतंत्रता में मुक्ति है।

आध्यात्मिकता के प्रति लगाव के लिये देश और काल की लक्ष्मण रेखा नहीं खींची जा सकती है। प्राचीन और अर्वाचीन जितनी भी सभ्यतायें और संस्कृतियां हैं, सभी ने अध्यात्म ज्ञान के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है और किसी न किसी रूप में चरम अध्यात्मदशापन्न को उपासना का प्रतीक मान कर अपने आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य रखा है। उन्होंने माना है कि आत्मा व्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि उसका संबध शाश्वत जगत् से है, नश्वर जगत् से नहीं है और उसका जीवन अनन्त है।

आत्मा की निधि को पहचानें :

भौतिक-विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य मूलतः एक बौद्धिक प्राणी है, जो तर्कसंगत ढंग से सोच सकता है और उपयोगितावादी सिद्धान्तों के अनुसार कार्य कर सकता है। लेकिन बौद्धिक योग्यता की अपेक्षा आध्यात्मिक ज्ञान और सहानुभूति का अधिक महत्त्व है। आज हम इतने दरिद्र हो गये हैं कि अपनी आत्मा की निधि को पहचान ही नहीं सकते हैं। अपने जीवन की दौड़धूप और कोलाहल में अपने अस्तित्व के ध्रुव बोधक स्वरों की ओर हम ध्यान नहीं देते। हम उन वस्तुओं से अधिक परिचित है, जो हमारे पास हैं और उनसे कम, जो कि हम स्वयं हैं।

जब तक हम बहिर्मुखी जीवन बिताते हैं और अपनी आन्तरिक गहराइयों को थाह नहीं लेते, तब तक हम जीवन के अर्थ अथवा आत्मा के रहस्यों को समझ नहीं सकते हैं। जो लोग सतही जीवन जीते हैं, उन्हें स्वभावतः ही आत्मिक जीवन में कोई श्रद्धा नहीं होती है। परन्तु जब एक बार व्यक्ति आत्मिक स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु 'स्व' को केन्द्र बना लेता है, तब उसमें इतनी अधिक शक्ति और स्थिरता आ जाती है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी शान्ति और शक्ति को बनाये रखने में समर्थ होता है। मानवीय प्रयत्न का अंतिम लक्ष्य आत्मा की परम प्रशान्तता प्राप्त करना है।

व्यक्ति के जीवन की आधारशिला आध्यात्मिक परम्परायें हैं और उनके लिये आवश्यकता है—आत्मानुशासन की, आत्म केन्द्रित होने की और आध्यात्मिक प्रवृत्ति की। आध्यात्मिक चिन्तन-मनन और आत्मा-परमात्मा की चर्चा-वार्ता करना मात्र धर्मस्थानों की परिधि तक सीमित नहीं है। यह तो प्रतिक्षण के जीवन का अंग है। इनके स्वरों को सुनिये। आध्यात्मिक चिन्तन सर्वजनहिताय है, सब जीवों के कल्याण के लिये है। यह तो सबके मन को पवित्र बना कर अन्तर्ज्योति जगाता है। आध्यात्मिक जागृति का कार्य वस्तुतः श्रेष्ठतम कार्य है, इसके लिये जिज्ञासु व्यक्ति तत्पर हो सकता है।

अच्छे जीवन और सामाजिक व्यवस्था के केन्द्र में आध्यात्मिक मूल्यों की सर्वोच्चता को स्वीकार करना ही होगा। भ्रमवश भौतिक शरीर या बुद्धि को ही आत्मा नहीं समझ लेना चाहिये। बुद्धि, मन और शरीर की अपेक्षा अधिक गहरी भी कोई वस्तु है—वह है आत्मा, जो समस्त शिव, सत्य और सुन्दर के साथ एकाकार है: मानव को न केवल तकनीकी दक्षता प्राप्त करनी है, अपितु आत्मा की महानता भी प्राप्त करनी है। जब तक मानव अपने अन्तर्निहित स्वभाव को नहीं पहिचान लेता, तब तक वह पूरी तरह 'स्वयं' नहीं होता है।

कुछ हम से छूट गया है :

भौतिक उन्नति से हमें संतोष नहीं हो सकता है। यदि हमारे पास खाने के लिये अटूट अन्न भंडार हो, विविध व्यंजनों के अम्बार सुरक्षित हों, आवागमन के सुचारू परिवहन हों, विश्व में प्रतिक्षण घटित होने वाली घटनाओं की जानकारी के लिये आवश्यक सुविधायें सुलभ हों, शारीरिक रोगों का दमन एवं उन्मूलन भी हो जाये और प्रत्येक व्यक्ति दीर्घायु तक जीवित भी रहने लगे, तब भी परम सत्य के लिये आकांक्षा बनी ही रहेगी।

शरीर, मस्तिष्क और आत्मा इन तीनों के स्वाभाविक सामंजस्य के निर्वाह से व्यक्ति सुखी हो सकता है। लेकिन आज के युग में आध्यात्मिक मूल्यों को भुला कर हम मस्तिष्क की उपलब्धियों पर अधिक जोर देने लगे हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों और खोजों ने अधिकाधिक समृद्धि उत्पन्न करदी, अकाल पर लगभग विजय प्राप्त करली गई, प्लेग और महामारियों जैसी जीवन की दुखद घटनाओं पर नियन्त्रण कर लिया, सामाजिक व्यवस्था के विषय में विश्वास और सुरक्षा की भावना विश्व में फैली, लेकिन प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द की उस व्यवस्था को विकृत बना दिया, जो आत्मा के विकास के लिये अत्यावश्यक है।

इसी कारण हम दुःखी हैं। हमारी आत्मिक शक्तियां कम होती जा रही हैं तथा मस्तिष्क की उपलब्धियों का अनुपात भयोत्पादक सीमा तक पहुंच गया है। हम पृथ्वी और आकाश को अपने अधिकार में मानते-से हैं, परमाणु और नक्षत्रों के रहस्य को समझने का दावा करते हैं, किन्तु आशंकाओं से घिरे हुए हैं। हम उच्चतम शैल-शिखरों या पृथ्वी के अंतिम छोरों पर झंडा गाड़ने के लिये तो परिश्रम करते हैं और कष्ट सहने के लिए तैयार हैं, किन्तु उन विचारों के लिये नहीं, जिन्हें कि हम स्वयं अनुसरणीय मानते हैं। हममें से अधिकांश लोग आध्यात्मिक ज्ञान को ऐसी आसानी से संभाल लेना चाहते हैं, जैसे हम समुद्र के किनारे पड़ी सीपी को उठा लेते हैं, पुस्तकों की दूकान से पुस्तकें लेते हैं या औषधि-विक्रेता से औषधि ले लेते हैं। वैसे ही हम यह आशा या आकांक्षा रखते हैं कि कुछ समय या धन देकर आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि कर ली जायगी, क्योंकि हममें अध्यवसायपूर्वक खोज करने की शक्ति या धैर्य नहीं है। निश्चय ही कुछ ऐसा प्रतीत होता है, जो हमसे छूट गया है या जिससे हम दूर, अति दूर चले जा रहे हैं। यदि हम अपनी आत्मा को गंवा कर सारे संसार को भी प्राप्त करलें तो उसका कोई लाभ या मूल्य नहीं है।

आश्चर्यजनक तकनीकी उपलब्धियों और भौतिक विज्ञान के आविष्कारों के कारण अनेक लोगों का दृष्टिकोण हो गया है कि भौतिक ही सत्य है, प्रयोगसिद्ध स्थापनायें ही सत्य हैं। प्रयोगों द्वारा सिद्ध न की जा सकने वाली स्थापनायें सही नहीं हैं। नीतिशास्त्र और आध्यात्मविद्या की स्थापनाओं का कोई अर्थ नहीं है। आध्यात्म या तो मानव के अहंकार का व्यर्थ प्रयास है, जो समझ से परे के विषयों की छानबीन करता है, या लोक-प्रचलित अन्धविश्वासों की छाया है कि जिसने उचित रीति से अपनी रक्षा न कर पाने पर अपनी कमजोरी को ढंकने और सुरक्षित रहने के लिये कंटीली झाड़ियां लगा दी हैं। यह यथार्थ विज्ञान नहीं है। इसी प्रकार दुर्भाग्यवश विज्ञान और तकनीकी उपलब्धियों से आकृष्ट हमारे युग के कुछ नेता भी मानव को एक विशुद्ध यांत्रिक, भौतिक और स्वयंचलित इच्छाओं से निर्मित प्राणी समझते हैं। वे मानव की मौलिक प्रवृत्तियों पर तो जोर देते हैं, किन्तु उसके अन्तस् में उपस्थित उच्चतर पवित्रता को भूले-से लगते हैं। हमारे युग का रोग है— आस्थाहीनता। इसी कारण हम आध्यात्मिक रूप से विस्थापित हैं और हमारी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ चुकी हैं।

अपने आप में जीना सीखें :

अपने भौतिक वातावरण को काबू में रखने की हमारी असीमित क्षमता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है 'स्व' को जानना और स्वयं के साथ सम्बद्ध रहना। विवेक की उपस्थिति हमारी मानवता की गारण्टी नहीं है। मानव बनने के लिये हमें विवेक के साथ किसी और वस्तु की भी आवश्यकता है। संभाव्य विनाश को दूर करने के लिये आवश्यक है कि हम अपने आप में जीना सीखें। इसके लिये निश्चय ही आध्यात्मिकता की खोज करना होगा, मानवीय व्यक्तित्व का समादर करना होगा। अभिमान और घृणा से मानव स्वभाव चाहे जितना कलुषित हो चुका हो किन्तु उसके भीतर विराजित देवत्व को समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस निष्ठा के द्वारा हम अन्धकार से प्रकाश में पहुंचते हैं। जब आत्मा

अपनी ही गहराइयों में अपने ही जीवन और सम्पूर्ण यथार्थ के आधार को प्राप्त कर लेती है उस समय उसकी अनुभूति और आनन्द को किसी भी भाषा में व्यक्त करना असंभव है।

'प्राणीमात्र से प्रेम करो' ऐसा कहना और सुनना सुन्दर प्रतीत होता है, किन्तु प्रेम करने की क्षमता अर्जित करना दुष्कर है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह बल है जो प्रेम करने की क्षमता प्राप्त करा सकता है। सत्य और ईमानदारी, पवित्रता और गंभीरता, दया और क्षमा जैसे गुण आत्मिक-बोध से ही उत्पन्न होते हैं। आत्म-केन्द्रीयता से शांति और जीवन सौख्य की प्राप्ति होती है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का सही रूप में प्रदर्शन होता है। जब तक हमारी वासनाओं और अभिलाषाओं का हम पर शासन है, तब तक हम पड़ौसी ही नहीं प्राणीमात्र का अपमान करते रहेंगे, उन्हें शांति से नहीं रहने देंगे और अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियों, लोलुपता एवं ईर्ष्या आदि से ग्रस्त रहेंगे एवं इनसे परिपूर्ण संस्थाओं और समाजों का निर्माण करते रहेंगे।

हम जिस संसार में रहते हैं और जिस युग के उत्तराधिकारी हैं, उसमें तीव्र वैमनस्य और उथल-पुथल है। हमने अन्यायपूर्ण व्यवहार किया है और कर रहे हैं। युद्ध का यही कारण है और उससे उत्पन्न अराजकता का यही केन्द्र बिन्दु है। लेकिन इससे मानव शिक्षा ग्रहण नहीं कर सका। यंत्रणापूर्ण स्थिति से निकल आने पर अपने अन्तस् में झांकने का प्रयास करना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसके विपरीत भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों से उन आध्यात्मिक मूल्यों पर ध्यान देना बन्द कर दिया, जिनके द्वारा मानव की प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता था।

यह ठीक है कि भौतिक विज्ञान की उपलब्धियां हमारे स्वास्थ्य, समृद्धि, अवकाश या जीवन की अभिवृद्धि में सहायक हो सकती हैं, लेकिन हम उनका उपयोग क्या करते हैं? कभी-कभी हम कहते हैं कि अणुबम या हाइड्रोजन बम शांति स्थापना और युद्धों को रोकने में समर्थ है। लेकिन गंभीरता से विचार करें तो वे मानव के लिये एक चुनौती है, उसके विवेक की कसौटी है, आध्यात्मिक विकास की पुकार है। समस्या का समाधान घातक शस्त्र नहीं, वह तो मानसिक और आध्यात्मिक मूल्यों के एकीकरण से संभव है। आत्मिक मूल्यों और मस्तिष्क की उपलब्धियों के बीच तनाव कम करने के प्रयास से ही हमें मानवीय आत्मा के आदर्श के दर्शन होंगे।

युद्ध की अनुपस्थिति अथवा युद्धों को रोक देना ही शान्ति नहीं है, किंतु यह एक सुदृढ़ बन्धुत्वभावना के विकास पर निर्भर है। अन्य लोगों के विचारों और मूल्यों को ईमानदारी से समझने के प्रयास से संभव है और इसके लिये आवश्यक है कि हम आध्यात्मिक महत्ता को अपने आप में प्रतिष्ठित करें। अति समीपी ऐक्य को, विचारों के मिलन की, भावनाओं के संयोग की आवश्यकता है। जब मानव के आन्तरिक जीवन की महत्ता का ज्ञान बढ़ता है तब भौतिक सुखों और समृद्धि का महत्व कम हो जाता है और उस स्थिति में युद्धों की सम्भावना नहीं रह सकती है।

अन्तर्दृष्टि विकसित करें :

आत्मिक जगत् में रहने का अर्थ यह है कि हम इस संसार की वास्तविकताओं के

प्रति उदासीन न हो जायें। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि सामान्यतया अच्छाई के लिये एक नई शक्ति के रूप में प्रगट होती है। आध्यात्मिक मानव इस संसार की वास्तविकताओं से मुंह नहीं मोड़ लेता है अपितु इस संसार में अधिक अच्छी सामग्री और आध्यात्मिक परिस्थितियां उत्पन्न करने के एक मात्र उद्देश्य से कार्य करता है। दर्शन और चिन्तन, कला और साहित्य आदि आत्मिक चेतना को तीव्रतर करने में सहायक होते हैं। लेकिन आज बौद्धिक प्रगति और वैज्ञानिक उन्नति के बावजूद जो इतनी अस्थिरता संघर्ष और अस्तव्यस्तता दिखलाई पड़ती है, वह इसी कारण कि हमने जीवन के आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा कर दी।

विज्ञान आध्यात्मिकता का प्रतिपक्षी नहीं है, विरोध नहीं करता है। लेकिन उसके प्रस्तुतीकरण का रूप और उससे प्राप्त परिणाम भयावह अवश्य हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों को अमंगलकारी उद्देश्यों की पूर्ति में लगाने से विज्ञान की आत्मा को ही दूषित कर दिया है। वैज्ञानिक शिक्षा का उद्देश्य मानव के दृष्टिकोण और रुचि को अधम व भौतिक कार्यों तक सीमित कर देना नहीं है। विज्ञान की ठीक समझ आत्मा की विविध शक्तियों की प्रदर्शक है। विज्ञान का विकास उन मनीषियों की मनीषा का सुपरिणाम है, जिन्हें ज्ञान, कौशल और मूल्यांकन की क्षमता प्राप्त है। मानव परमाणु का भंजन इसीलिये कर सका है कि उसके भीतर परमाणु से श्रेष्ठतर का अस्तित्व है। भौतिक उपलब्धियां तो उसकी साक्षी मानी जायेंगी कि मानव-चेतना क्या कुछ कर सकती है और क्या-क्या प्राप्त कर सकी है।

यन्त्रों को हावी न होने दें :

विज्ञान का सामान्यतया यह अर्थ समझा जाता है कि जिसने अनेक अद्भुत आविष्कारों और तकनीकी यन्त्रों को जन्म दिया। हमारे मन में भी यह मानने की भावना उठती है कि तकनीकी प्रगति ही वास्तविक प्रगति है और भौतिक सफलता ही सभ्यता का मापदण्ड है। यह ठीक है कि तकनीकी आविष्कारों और सभ्यता में अच्छे अवसर और अच्छी संभावनाएं हैं, लेकिन साथ ही बड़े-बड़े खतरे भी छिपे हुए हैं। यदि यन्त्रों का प्रभुत्व स्थापित हो गया तो हमारी सम्पूर्ण प्रगति व्यर्थ हो जायेगी। विज्ञान और तकनीकी ज्ञान न अच्छे हैं और न बुरे। आवश्यकता उन्हें निषिद्ध करने की नहीं वरन् नियन्त्रित रखने और उचित उपयोग की है। यन्त्र मस्तिष्क की विजय के प्रतीक हैं। वे उपकरण हैं, जिनका आविष्कार मानव ने अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिये किया। हमारे आदर्श गलत हैं तो इसका दायित्व हमारा है, यन्त्रों का नहीं। हमारे आदर्श सही हों तो यत्रों का उपयोग अन्याय के निवारण, मानवता की दशा सुधारने और आत्मा की परिपक्वता प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक हो सकता है। खतरा तभी है, जब वे प्रभु हो जायें।

तकनीकी सभ्यता का अभिशाप यही है कि हमारे कार्यों को आत्मा का संस्पर्श नहीं मिलता है। मानव के श्रेष्ठतम अंश का प्रकाशन नहीं हो पाता है और व्यक्ति व्यक्तिगत प्रवृत्ति को खोकर चेतना की सतह पर जीवित रहता है और व्यक्तित्वविहीन हो जाता है, अपनी जड़ें खो बैठता है। अपने स्वाभाविक संदर्भ से अलग जा पहुंचता है। व्यक्ति के अभिमान और अधिकारों और आत्मा की स्वाधीनता को तकनीकी युग में सुरक्षित रखना सरल काम नहीं है। आस्था के पुनर्जीवन से ही यह संभव है।

आध्यात्म विज्ञान की आवश्यकता :

हम इतिहास के एक निराशामय युग से गुजर रहे हैं। यह दारुण विपत्ति अपनी घोर प्राणघातकता के साथ आगे बढ़ती ही जा रही है। आज यह संसार उस चटशाला के समान मालूम पड़ता है जो उदण्ड, जिद्दी और शरारती बच्चों के कोलाहल से पूर्ण है, जहां के बच्चे एक दूसरे के साथ धक्कामुक्की कर रहे हैं, और अपनी भौतिक संपदाओं रूपी भद्दे खिलौनों का प्रदर्शन कर रहे हैं। हम शांति की कीमत चुकाने को तैयार नहीं हैं। शांति की कीमत है—आध्यात्मिक स्वतन्त्रता तथा निष्ठा के आधार पर विश्व की पुनर्व्यवस्था। आत्म-साक्षात्कार से जैसा दृढ़ विश्वास पैदा होता है, वैसा दृढ़ विश्वास विज्ञान हमें नहीं दे पाता है। हमारा आंतरिक जीवन रिक्त है। हमने अपने आपको इतना निश्चेष्ट बना लिया है कि हम विवश होकर हर प्रकार के प्रचार तथा प्रदर्शन के शिकार बन गये हैं। यदि हम नहीं संभलते तो इसमें संदेह नहीं कि एक दूसरा अन्धयुग संसार को आवृत कर लेगा।

आधुनिक युग की इस स्थिति से परित्राण पाने के लिये आध्यात्म विज्ञान की आवश्यकता है जो भावनात्मा को मुक्त करता हो, जो मनुष्य के मन में भय को नहीं परन्तु आस्था को, औपचारिकता को नहीं, स्वाभाविकता को, यंत्रिक जीवन की नीरसता को नहीं, नैसर्गिक जीवन की रसात्मकता को बढ़ावा देता है।

•••



३३

अहिंसा के आयाम : महावीर और गांधी

• श्री यशपाल जैन

अहिंसा की श्रेष्ठता :

मानव-जाति के कल्याण के लिए अहिंसा ही एक मात्र साधन है, इस तथ्य को आज सारा संसार स्वीकार करता है, लेकिन कम ही लोग जानते हैं कि अहिंसा की श्रेष्ठता की ओर प्राचीन काल से ही भारतवासियों का ध्यान रहा है। वैदिक काल में हिंसा होती थी, यज्ञों में पशुओं की वलि दी जाती थी, लेकिन उस युग में भी ऐसे व्यक्ति थे, जो अनुभव करते थे कि जिस प्रकार हमें दुःख-दर्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी होता है, अतः जीवों को मारना उचित नहीं है। आगे चलकर यह भावना और भी विकसित हुई। "महाभारत के शांति-पर्व" में हम भीष्म पितामह के मुंह से सुनते हैं कि हिंसा अत्यन्त अनर्थकारी है। उससे न केवल मनुष्यों का संहार होता है, अपितु जो जीवित रह जाते हैं, उनका भी भारी पतन होता है। उस समय ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम नहीं थी, जो मानते थे कि यदि हिंसा से एकदम वचा नहीं जा सकता तो कम से कम उन्हें अपने हाथ से तो हिंसा नहीं करनी चाहिये। उन्होंने यह काम कुछ लोगों को सौंप दिया जो वाद में क्षत्रिय कहलाये। ब्राह्मण उनसे कहते थे कि हम अहिंसा का व्रत लेते हैं, हिंसा नहीं करेंगे, लेकिन यदि हम पर कोई आक्रमण करे अथवा राक्षस हमारे यज्ञ में वाधा डालें, तो तुम हमारी रक्षा करना। विश्वामित्र ब्रह्मर्षि थे, धनुर्विद्या में निष्णात थे, पर उन्होंने अहिंसा का व्रत ले रखा था। अपने हाथ से किसी को नहीं मार सकते थे। उन्होंने राम-लक्ष्मण को धनुप-बाण चलाना सिखाया और अपने यज्ञ की सुरक्षा का दायित्व उन्हें सौंपा।

मारने की शक्ति हाथ में आ जाने से क्षत्रियों का प्रभुत्व वढ़ गया। वे शत्रु के आने पर उसका सामना करते। धीरे-धीरे हिंसा उनका स्वभाव वन गया। जब शत्रु न होता तो वे आपस में ही लड़ पड़ते और दुःख का कारण वनते। परशुराम से यह सहन न हुआ। उन्होंने धनुप-बाण उठाया, फरसा लिया और संसार से क्षत्रियों को समाप्त करने के लिए निकल पड़े। जो भी क्षत्रिय मिलता, उसे वे मौत के घाट उतार देते। कहते हैं, उन्होंने इक्कीस वार भूमि को क्षत्रियों से ख़ाली कर दिया, लेकिन हिंसा की जड़ फिर भी वनी रही। विश्वामित्र अहिंसा के व्रती थे, वे स्वयं हिंसा नहीं करते थे, पर दूसरों से हिंसा

करवाने में उन्हें हिचक नही हुई। परशुराम हिंसा से अहिंसा स्थापित करना चाहते थे। दोनों की अहिंसा में निष्ठा थी, किन्तु उनका मार्ग सही नहीं था। उसमें हिंसा के लिए गुंजाइश थी और हिंसा से अहिंसा की स्थापना हो नहीं सकती थी।

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय :

भगवान् बुद्ध ने एक नयी दिशा दी। समाज के हित को ध्यान में रख कर "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" का घोष किया। उन्होंने कहा "वह काम करो, जिसमें बहुसंख्यक लोगों को लाभ पहुंचे, सुख मिले"। इससे स्पष्ट था कि उन्होंने मारक की मर्यादा को छूट दी, अर्थात् जिस कार्य से समाज के अधिकांश व्यक्तियों का हित-साधन होता हो उसे उचित ठहराया, भले ही उससे अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा क्यों न होती हो।

महावीर और आगे बढ़े :

भगवान् महावीर एक कदम आगे बढ़े। उन्होंने सबके कल्याण की कल्पना की और अहिंसा को परम धर्म मानकर प्रत्येक प्राणी के लिए उसे अनिवार्य ठहराया उन्होंने कहा—

"सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया, दुक्खपडिकूलताअप्पियवहा।
पिय जीविणो जीवि उकामा, (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचणं॥

अर्थात् सब प्राणियों को आयु प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सबके प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, सब जीने की इच्छा रखते है, इससे किसी को मारना अथवा कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये।

हम देखते हैं कि महावीर से पहले भी अनेक धर्म-प्रवर्तकों तथा महापुरुषों ने अहिंसा के महत्त्व एवं उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला था, लेकिन महावीर ने अहिंसा तत्त्व की जितनी विस्तृत, सूक्ष्म तथा गहन मीमांसा की, उतनी शायद ही और किसी ने की हो। उन्होंने अहिंसा को गुण स्थानों में प्रथम स्थान पर रखा और उस तत्त्व को चरम सीमा तक पहुंचा दिया। कहना होगा कि उन्होंने अहिंसा को सैद्धांतिक भूमिका पर ही खड़ा नहीं किया, उसे आचरण का अधिष्ठान भी बनाया। उनका कथन था—

सयं तिवायए पाणे, अदुवन्नेहि घायए।
हणंतं वाणुजाणाइ, देरं वड्ढइ अप्पणो॥

(जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है. दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए बैर बढ़ाता है।)

अहिंसा की व्याख्या करते हुए वे कहते है—

तेसिं अच्छणए जो एव, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एवं हवदू संजय॥

(मन, वचन और काया, इनमें से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है।)

सब जीवों के प्रति आत्मभाव रखने, किसी को त्रास न पहुंचाने किसी के भी प्रति वैर-विरोध-भाव न रखने, अपने कर्म के प्रति सदा विवेकशील रहने, निर्भय बनने, दूसरों को अभय देने, आदि-आदि वातों पर महावीर ने विशेष वल दिया, जो स्वाभाविक ही था। मानव-जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने और समाज में फैली नाना प्रकार की व्याधियों को दूर करके उसे स्थायी सुख और शांति प्रदान करने के अभिलाषी महावीर ने समस्त चराचर प्राणियों के बीच समता लाने और उन्हें एक सूत्र में वांधने का प्रयत्न किया। उनका सिद्धान्त था "जीओ और जीने दो" अर्थात् यदि तुम चाहते हो कि सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो तो उसके लिए आवश्यक है कि दूसरों को भी उसी प्रकार जीने का अवसर दो। उन्होंने समष्टि के हित में व्यष्टि के हित को समाविष्ट कर देने की प्रेरणा दी। वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को विकृत करने वाली सभी बुराइयों की ओर उनका ध्यान गया और उन्हें दूर करने के लिए उन्होंने मार्ग सुझाया।

महावीर की अहिंसा प्रेम के व्यापक विस्तार में से उपजी थी। उनका प्रेम असीम था। वह केवल मनुष्य-जाति को प्रेम नहीं करते थे, उनकी करुणा समस्त जीवधारियों तक व्यापक थी। छोटे-बड़े, ऊंच-नीच आदि के भेद भाव को उनके प्रेम ने कभी स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि अहिंसा का उनका महान् आदर्श प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी था।

जिसने राज्य छोड़ा, राजसी ऐश्वर्य को तिलांजलि दी, भरी जवानी में घर-बार से मुंह मोड़ा, सारा वैभव छोड़कर अकिंचन बना और जिसने बारह वर्षों तक दुर्द्धर्ष तपस्या की, उसके आत्मिक वल की सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती। महावीर ने रात-दिन अपने को तपाया और कंचन बने। उनकी अहिंसा वीरों का अस्त्र थी, दुर्वल व्यक्ति उसका उपयोग नहीं कर सकता था। जो मारने का सामर्थ्य रखता है, फिर भी मारता नहीं और निरन्तर क्षमाशील रहता है, वही अहिंसा का पालन कर सकता है। यदि कोई चूहा कहे कि वह बिल्ली पर आक्रमण नहीं करेगा, उसने उसे क्षमा कर दिया है, तो उसे अहिंसक नहीं माना जा सकता। वह दिल में बिल्ली को कोसता है, पर उसमें दम ही नहीं कि उसका कुछ बिगाड़ सके। इसी से कहा है—"क्षमा वीरस्य भूषणम्" यही बात अहिंसा के विषय में कही जा सकती है। कायर या निर्वीर्य व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने अहिंसा का व्यापक प्रचार-प्रसार किया और उसे धर्म का शक्तिशाली अंग बनाया। उस जमाने में पशु-वध आदि के रूप में घोर हिंसा होती थी। महावीर ने उसके विरुद्ध अपनी आवाज ऊंची की। उन्होंने लोगों में यह विश्वास पैदा किया कि हिंसा अस्वाभाविक है। मनुष्य का स्वाभाविक धर्म अहिंसा है। उसी का अनुसरण करके वह स्वयं सुखी रह सकता है, दूसरों को सुखी रख सकता है।

इस दिशा में हम ईसा के योगदान को भी नहीं भूल सकते हैं। उन्होंने हिंसा का निषेध किया और यहां तक कहा कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। उन्होंने यह भी कहा कि तुम अपने को जितना प्रेम करते हो, उतना ही अपने पड़ौसी को भी करो।

अहिंसा का व्यापक प्रचार :

इसके पश्चात् अहिंसा के प्रचार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कलिंग युद्ध में एक लाख व्यक्तियों के मारे जाने से सम्राट् अशोक का मन किस प्रकार अहिंसा की ओर आकृष्ट हुआ, यह सर्वविदित है। अपने शिला-लेखों में अशोक ने धर्म की जो शिक्षा दी, उसमें अहिंसा को सबसे ऊंचा स्थान मिला। तेरहवीं-चौदहवीं सदी में वैष्णव धर्म की लहर उठी। उसने अहिंसा के स्वर को देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचा दिया। महाराष्ट्र में बारकरी सम्प्रदाय ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और भी बहुत से सम्प्रदायों ने हिंसा को रोकने के लिए प्रयत्न किए। सन्तों की वाणी ने लाखों-करोड़ों नर-नारियों को प्रभावित किया।

परिणाम यह हुआ कि जो अहिंसा किसी समय केवल तपश्चरण की वस्तु मानी जाती थी, उसकी उपयोगिता जीवन तथा समाज में व्याप्त हुई। उसके लिए जहां कोई सामूहिक प्रयास नहीं होता था, वहां अब बहुत से लोग मिल-जुलकर काम करने लगे।

इन प्रयासों का प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। जिन मनुष्यों और जातियों ने हिंसा का त्याग कर दिया वे सभ्य कहलाने लगीं, उन्हें समाज में अधिक सम्मान मिलने लगा।

अहिंसा की सामाजिकता और गांधी :

लेकिन अहिंसा के विकास की यह अन्तिम सीमा नहीं थी। वर्तमान अवस्था तक आने में उसे कुछ और सीढ़ियां चढ़नी थी। वह अवसर उसे युग-पुरुष गांधी ने दिया। उन्होंने देखा कि निजी जीवन में अहिंसा और बाह्य क्षेत्र में हिंसा, ये दोनों चीजें साथ-साथ नहीं चल सकतीं, इसलिए उन्होंने धार्मिक ही नहीं सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में अहिंसा के पालन का आग्रह किया। उन्होंने कहा—

> "हम लोगों के दिल में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा सकती है और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। अहिंसा सामाजिक धर्म है और वह सामाजिक धर्म के रूप में विकसित की जा सकती है, यह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है।"

इतना ही नहीं उन्होंने यहां तक कहा—

> "अगर अहिंसा व्यक्तिगत गुण है तो वह मेरे लिए त्याज्य वस्तु है। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। वह करोड़ों की है। मैं तो उनका सेवक हूं। जो चीज करोड़ों की नहीं हो सकती है, वह मेरे लिए त्याज्य है और मेरे साथियों के लिए भी त्याज्य होनी चाहिये। हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत आचार के ही नियम नहीं हैं, वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति हो सकते हैं। मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशा के लिए है, वह आत्मा का गुण है इसलिए वह व्यापक है, क्योंकि आत्मा तो सभी के होती है। अहिंसा सबके लिए है, सब जगहों के लिए है, सब समय के लिए है। अगर वह वास्तव में आत्मा का गुण है तो हमारे लिए वह सहज हो जाना चाहिए।"

लोगों ने कहा—"सत्य और अहिंसा व्यापार में नहीं चल सकते। राजनीति में उनकी जगह नहीं हो सकती।" ऐसे व्यक्तियों को उत्तर देते हुए गांधी ने कहा—

"आज कहा जाता है कि सत्य व्यापार में नहीं चलता, राजकारण में नहीं चलता, तो फिर कहां चलता है ? अगर सत्य जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी व्यवहारों में नहीं चल सकता तो वह कौड़ी-कीमत की चीज नहीं है। जीवन में उसका उपयोग ही क्या रहा ? सत्य और अहिंसा कोई आकाश-पुष्प नहीं है। उन्हें हमारे प्रत्येक शब्द, व्यापार और कर्म में प्रकट होना चाहिये।"

गांधीजी ने यह सब कहा ही नहीं, उस पर अमल करके भी दिखाया। उन्होंने प्राचीन काल से चली आती अहिंसा की परम्परा को आगे बढ़ाया, उसे नया मोड़ दिया। उन्होंने जहां वैयक्तिक जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा की, वहां उसे सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों की आधार-शिला भी बनाया। अहिंसा के वैयक्तिक, एवं सामूहिक प्रयोग के जितने दृष्टान्त हमें गांधीजी के जीवन में मिलते हैं, उतने कदाचित् किसी दूसरे महापुरुष के जीवन में नहीं मिलते।

हिंसा-अहिंसा की आंख-मिचौनी :

पर दुर्भाग्य से हिंसा और अहिंसा की आंखमिचौनी आज भी चल रही है। गांधीजी ने अपने आत्मिक बल से अहिंसा को जो प्रतिष्ठा प्रदान की थी, वह अब क्षीण हो गयी है। अहिंसा की तेजस्विता मन्द पड़ गयी है, हिंसा का स्वर प्रखर हो गया है। इसी से हम देखते हैं कि आज चारों तरफ हिंसा का बोलबाला है। विज्ञान की कृपा से नये-नये आविष्कार हो रहे हैं और शक्तिशाली राष्ट्रों की प्रभुता का आधार विनाशकारी आणविक अस्त्र बने हुए हैं। हिरोशिमा और नागासाकी के नर-संहार की कहानी और वहां के असंख्य पीड़ितों की कराह आज भी दिग्दिगन्त में व्याप्त है, फिर भी राष्ट्रों की भौतिक महत्त्वाकांक्षा तथा अधिकार-लिप्सा तृप्त नहीं हो पा रही है। संहारक अस्त्रों का निर्माण तेजी से हो रहा है और उनका प्रयोग आज भी कुछ राष्ट्र बेधड़क कर रहे हैं।

अहिंसा की जड़ें गहरी हैं :

लेकिन हम यह न भूलें कि अहिंसा की जड़ें बहुत गहरी हैं। उन्हें उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं है। उसका विकास निरन्तर होता गया है और अब भी उसकी प्रगति रुकेगी नहीं। हम दो विश्वयुद्ध देख चुके हैं और आज भी शीतयुद्ध की विभीषिका देख रहे हैं। विजेता और पराजित, दोनों ही अनुभव कर रहे हैं कि यह अस्वाभाविक स्थिति अधिक समय तक चलने वाली नहीं है। यातायात के साधनों ने दुनिया को बहुत छोटा कर दिया है और छोटे-बड़े सभी राष्ट्र यह मानने लगे हैं कि उनका अस्तित्व युद्ध से नहीं प्रेम से सुरक्षित रह सकता है।

पर उनमें अभी इतना साहस नहीं है कि वर्ष में ३६४ दिन संहारक अस्त्रों का निर्माण करें और ३६५वें दिन उन सारे अस्त्रों को समुद्र में फेंक दें।

अहिंसा अब नये मोड़ पर खड़ी है और संकेत करके कह रही है कि विज्ञान के

साथ आध्यात्म को जोड़ो और वैज्ञानिक आविष्कारों को रचनात्मक दिशा में मोड़ो। जीवन का चरम लक्ष्य सुख और शान्ति है। उसकी उपलब्धि संघर्ष से नहीं सद्भाव से होगी।

अहिंसा में निराशा को स्थान नहीं। वह जानती है कि उषा के आगमन से पूर्व रात्रि के अन्तिम प्रहर का अंधकार गहनतम होता है। आज विश्व में जो कुछ हो रहा है वह इस बात का सूचक है कि अब शीघ्र ही नये युग का उदय होगा और संसार में यह विवेक जाग्रत होगा कि मानव तथा मानव-नीति से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों वह दिन आयेगा जब राष्ट्र नया साहस बटोर पायेंगे और वीर-शासन के सर्वोदय-तीर्थ तथा गांधी के रामराज्य की कल्पना को चरितार्थ करेंगे।

••••



षष्ठम खण्ड

वैज्ञानिक संदर्भ

३४

जैन दर्शन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

• मुनि श्री सुशीलकुमार

सत्य की उपलब्धि :

तत्त्व का ज्ञान तपस्या एवं साधना पर निर्भर है। सत्य की उपलब्धि इतनी सरल नहीं है कि अनायास ही वह हाथ लग जाय। जो निष्ठावान् साधक जितनी अधिक तपस्या और साधना करता है, उसे उतने ही गुह्य-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की बात छोड़दें और चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के ही जीवन पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट विदित होगा कि उनकी तपस्या और साधना अनुपम और असाधारण थी। भ० महावीर साढ़े बारह वर्षों तक निरन्तर कठोर तपश्चर्या करते रहे। उस असाधारण तपश्चर्या का फल भी उन्हें असाधारण ही मिला। वे तत्त्वबोध की उस चरम सीमा का स्पर्श करने में सफल हो सके, जिसे साधारण साधक प्राप्त नहीं कर पाते। वास्तव में जैनधर्म के सिद्धान्तों में पाई जाने वाली खूबियां ही उनका रहस्य है। जैन मान्यताएं यदि वास्तविकता की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित विज्ञानसम्मत हैं तो उनका रहस्य भगवान् महावीर का तपोजन्य परिपूर्ण तत्त्वज्ञान ही है।

सृष्टि-रचना की प्रक्रिया :

उदाहरण के लिए सृष्टि रचना के ही प्रश्न को ले लीजिये, जो दार्शनिक जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधारभूत है। विश्व में कोई दर्शन या मत न होगा, जिसमें इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास न किया गया हो। क्या प्राचीन, और क्या नवीन, सभी दर्शन इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। मगर वैज्ञानिक विकास के इस युग में उनमें अधिकांश उत्तर कल्पनामात्र प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने बिना किसी संकोच या झिझक के स्पष्ट कह दिया कि लोक का प्रश्न अव्याकृत है—अनिर्णित है। इसका आशय यही लिया जा सकता है कि लोक-व्यवस्था के सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इस स्पष्टोक्ति के लिए गौतम बुद्ध धन्यवाद के पात्र हैं, मगर लोक के विषय में हमारे अन्तःकरण में जिज्ञासा सहज रूप से उदित होती है, उसकी तृप्ति इस उत्तर से नहीं हो पाती। और जब हम जिज्ञासा तृप्ति के लिए इस विषय के विभिन्न दर्शनों के उत्तर की ओर ध्यान देते हैं, तब निराशा का सामना करना पड़ता है।

सृष्टि रचना के विषय में अनेक प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रथम यह

कि सृष्टि का विधिवत् निर्माण हुआ है या नहीं ? अगर निर्माण हुआ है, तो इसका निर्माता कौन है ? यदि निर्माण नहीं हुआ तो सृष्टि कहां से आई ? सृष्टि निर्माण से पहले क्या स्थिति थी ?

इन प्रश्नों पर दार्शनिक कभी सहमत नहीं हो सके। एक कहता है......."सृष्टि देव के द्वारा उत्पन्न की गई है।" तो दूसरा कहता है....... "ब्रह्म या ब्रह्मा ने इसकी रचना की है।" किसी का मत है कि ईश्वर इसका निर्माता है, और किसी के मतानुसार प्रकृति से सृष्टि बनी है। कोई स्वयंभू को सृष्टि का कर्ता कहते हैं। कोई अण्डे से उसकी उत्पत्ति बतलाते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार यह चराचर विश्व, अण्डे से उत्पन्न हुआ है। जब संसार में कोई भी वस्तु नहीं थी तब ब्रह्मा ने पानी में एक अण्डा उत्पन्न किया बढ़ते-बढ़ते वह बीच में से फट गया। उसके दो भागों में से एक से ऊर्ध्व-लोक की और दूसरे से अधोलोक की उत्पत्ति हुई।

कोई स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, कोई काल से, कोई नियति से और कोई यदृच्छा से।

सृष्टि से पहले कौन-सा तत्त्व था, इस विषय में भी विभिन्न दर्शनों में मतैक्य नहीं हैं। किसी के मन्तव्य के अनुसार सृष्टि से पहले जगत् असत् था......."असद्वा इदमग्र आसीत्" दूसरे कहते हैं—"सदैव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे सौम्य ! जगत् सृष्टि पहले सत् था। किसी का कहना है—"आकाशः परायणम्" अर्थात् सृष्टि से पूर्व आकाश-तत्त्व विद्यमान था। कोई इस मन्तव्य के विरुद्ध कहते हैं:—"नैवेह किन्चनाग्र आसीत्"। 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' अर्थात् सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था, सभी कुछ मृत्यु से व्याप्त था, अर्थात् प्रलय के समय नष्ट हो चुका था।

अभिप्राय यह है कि जैसे सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएं है, उसी प्रकार सृष्टिपूर्व की स्थिति के सम्बन्ध में भी परस्पर विरुद्ध मन्तव्य हमारे समक्ष उपस्थित हैं।

सृष्टि प्रक्रिया सम्बन्धी इन परस्पर विरुद्ध मन्तव्यों की आलोचना जैन दर्शन में विस्तारपूर्वक की गयी है। उसे यहां प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं, तथापि यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि इन कल्पनाओं के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् सत् मान लिया जाय तो उसके नये सिरे से निर्माण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो सत् है वह तो है ही। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् एकान्त असत् था और असत् से जगत् की उत्पत्ति मानी जाये तो शून्य से वस्तु का प्रादुर्भाव स्वीकार करना पड़ेगा, जो तर्क और बुद्धि से असंगत है। इसी प्रकार सृष्टिनिर्माण प्रक्रिया भी तर्कसंगत नहीं है।

जैन धर्म की मान्यता :

इस विषय में जैन धर्म की मान्यता ध्यान देने योग्य है। जैन धर्म के अनुसार जड़ और चेतन का समूह यह लोक सामान्य रूप से नित्य और विशेष रूप से अनित्य है। जड़

और चेतन में अनेक कारणों से विविध प्रकार के रूपान्तर होते रहते हैं। एक जड़ पदार्थ जब दूसरे जड़ पदार्थ के साथ मिलता है तब दोनों में रूपान्तर होता है, इसी प्रकार जड़ के सम्पर्क से चेतन में भी रूपान्तर होता रहता है। रूपान्तर की इस अविराम परम्परा में भी हम मूल वस्तु की सत्ता का अनुगम स्पष्ट देखते हैं। इस अनुगम की अपेक्षा से जड़ और चेतन अनादिकालीन हैं और अनन्त काल तक स्थिर रहने वाले हैं। सत् का शून्य रूप में परिणमन नहीं हो सकता, और शून्य से कभी सत् का प्रादुर्भाव या उत्पाद नहीं हो सकता है।

पर्याय की दृष्टि से वस्तुओं का उत्पाद और विनाश अवश्य होता है परन्तु उसके लिए देव ब्रह्म, ईश्वर या स्वयम् की कोई आवश्यकता नहीं होती, अतएव न तो जगत् का कभी सर्जन होता है, न प्रलय ही होता है। अतएव लोक शाश्वत है। प्राणीशास्त्र के विशेषज्ञ माने जाने वाले श्री जे. बी. एस. हाल्डेन का मत है कि–"मेरे विचार में जगत् की कोई आदि नहीं है। सृष्टिविषयक यह सिद्धांत अकाट्य है, और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नहीं कर सकता।"

पृथ्वी का आधार :

प्राचीन काल के दार्शनिकों के सामने एक जटिल समस्या और खड़ी रही है। वह है इस भूतल के टिकाव के सम्बन्ध में, यह पृथ्वी किस आधार पर टिकी है। इस प्रश्न का उत्तर अनेक मनीषियों ने अनेक प्रकार से दिया है। किसी ने कहा…… "यह शेष नाग के फण पर टिकी है।" कोई कहते हैं. "कछुए की पीठ पर ठहरी हुई है," तो किसी के मत के अनुसार "वराह दाढ़ पर" इन सब कल्पनाओं के लिए आज कोई स्थान नहीं रह गया है।

जैनागमों की मान्यता इस सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक है। इस पृथ्वी के नीचे घनोदधि (जमा हुआ पानी) है, उसके नीचे तनु-वात है और तनुवायु के नीचे आकाश है। आकाश स्वप्रतिष्ठित है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नही है।

लोकस्थिति के इस स्वरूप को समझाने के लिए एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। कोई पुरुष चमड़े की मशक को वायु भर कर, फुला दे और फिर मशक का मुंह मजबूती के साथ बांध दे। फिर मशक के मध्य भाग को भी एक रस्सी से कस कर बांध दे। इस प्रकार करने से मशक की पवन दो भागों में विभक्त हो जायगी और मशक डुगडुगी जैसी दिखाई देने लगेगी। तत्पश्चात् मशक का मुंह खोल कर ऊपरी भाग का पवन निकाल दिया जाय और उसके स्थान पर पानी भर कर पुनः मशक का मुंह कस दिया जाय, फिर बीच का बन्धन खोल दिया जाय, ऐसा करने पर मशक के ऊपरी भाग में भरा हुआ जल ऊपर ही टिका रहेगा, वायु के आधार पर ठहरा रहेगा, नीचे नहीं जाएगा, क्योंकि मशक के ऊपरी भाग में भरे पानी के लिए वायु आधार रूप है। इसी प्रकार वायु के आधार पर पृथ्वी आदि ठहरे हुए हैं। (भगवती सूत्र श० १. उ० ६)

स्थावर जीवों की जीवत्वशक्ति :

जैन धर्म वनस्पति, पृथ्वी, जल वायु और तेज में चैतन्य शक्ति स्वीकार करके उन्हें

स्थावर जीव मानता है। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा वनस्पति की सजीवता प्रमाणित करदी है। उसके पश्चात् विज्ञान, पृथ्वी की जीवत्वशक्ति को स्वीकार करने की ओर अग्रसर हो रहा है। विख्यात भूगर्भ वैज्ञानिक श्री फ्रांसिस ने अपनी दशवर्षीय भूगर्भयात्रा के संस्मरण लिखते हुए Ten years under earth नामक पुस्तक में लिखा है कि—

"मैंने अपनी इन विविध यात्राओं के दौरान में पृथ्वी के ऐसे-ऐसे स्वरूप देखे हैं, जो आधुनिक पदार्थ विज्ञान से विरोधी थे। वे स्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक सुनिश्चित नियमों द्वारा समझाये नही जा सकते।"

इसके पश्चात् वे अपने हृदय के भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—

"तो प्राचीन विद्वानों ने पृथ्वी में जीवत्वशक्ति की जो कल्पना की थी, क्या वह सत्य है?"

श्री फ्रांसिस भूगर्भ सम्बन्धी अन्वेषण कर रहे हैं। एक दिन वैज्ञानिक जगत् पृथ्वी की सजीवता स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

आत्मा की अनन्त ज्ञानशक्ति :

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञानशक्ति विद्यमान है, परन्तु जब तक वह कर्म द्वारा आच्छादित है, तब तक अपने असली स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाती। जब कोई सबल आत्मा आवरणों को निःशेष कर देती है, तो भूत और भविष्य वर्तमान की भांति साफ दिखाई देने लगते हैं।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० जे. बी. राइन ने अन्वेषण करके अनेक आश्चर्यजनक तथ्य घोषित किये हैं। उन तथ्यों को भौतिकवाद के पक्षपाती वैज्ञानिक स्वीकार करने में हिचक रहे हैं, मगर उन्हें अमान्य भी नहीं कर सकते हैं। एक दिन वे तथ्य अन्तिम रूप से स्वीकार किये जायेंगे, और उस दिन विज्ञान आत्मा तथा सम्पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) की जैन मान्यता पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा।

ध्यान और योग जैन-साधना के प्रधान अङ्ग हैं। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार ध्यान और योग के द्वारा विस्मयजनक आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति की जा सकती है। आधुनिक विज्ञान भी इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हुआ है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रेवाल्टर की The Leaving Brain नामक पुस्तक पठनीय है।

ज्ञान को विषाक्त बनने से रोकने की कला :

दर्शन शास्त्र का उद्देश्य शुद्ध बोध की उपलब्धि और उसके द्वारा समस्त बन्धनों से विमुक्ति पाना है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है, क्योंकि मुक्ति बिना शाश्वत शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। बोध मुक्ति का साधन है, मगर यह भी स्मरणीय है कि वह दुधारी खड्ग है। ज्ञान के साथ अगर नम्रता है, उदारता है, निष्पक्षता है, सात्विक जिज्ञासा है, सहिष्णुता है, तो ही ज्ञान आत्मविकास का साधन बनता है। इसके विपरीत

ज्ञान के साथ यदि उदण्डता, संकीर्णता, पक्षपात एवं असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है तो वह अधःपतन का कारण बन जाता है। मानवीय दौर्बल्य से उत्पन्न यह अवांछनीय वृत्तियां अमृत को भी विष बना देती हैं।

जैन धर्म ने उस कला का आविष्कार किया है, जो ज्ञान को विषाक्त बनने से रोकती है। वह कला ज्ञान को सत्य, शिव, और सुन्दर बनाती है. उस कला को जैनदर्शन ने अनेकान्त दृष्टि का नाम दिया है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है। यह दृष्टि परस्पर विरोधी वादों का आधार समन्वय करने वाली, परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि में उदारता, नम्रता, सहिष्णुता और सात्विकता उत्पन्न करने वाली है। दार्शनिक जगत् के लिए यह महान् वरदान है।

अहिंसक दृष्टि का विकास :

मानव जाति को मांस भक्षण की अवांछनीयता एवं अनिष्टकरता समझा कर मांसाहार से विमुख करने का सूत्रपात जैन धर्म ने ही किया है। समस्त धर्मों का आधारभूत और प्रमुख सिद्धांत अहिंसा ही है। यह मन्तव्य बनाने का अवकाश जैन धर्म ने ही दिया है। जैन धर्म ने अहिंसा को इतनी दृढ़ता और सबलता के साथ अपनाया, और जैनाचार्यों ने अहिंसा का स्वरूप इतनी प्रखरता के साथ निरूपण किया, कि धीरे-धीरे वह सभी धर्मों का अंग बन गई। जैन धर्मोपदेशकों को यदि सबसे बड़ी एक सफलता मानी जाय, तो वह अहिंसा की साधना ही है। उनकी बदौलत ही आज अहिंसा विश्वमान्य सिद्धान्त है। देश-काल के अनुसार उसकी विभिन्न शाखाएं प्रस्फुटित हो रही हैं। जैन धर्म की, अहिंसा के रूप में एक महान् देन है, जिसे विश्व के मनीषी कभी भूल नहीं सकते।

यों तो भगवान् ऋषभदेव के युग से ही अहिंसा तत्त्व, प्रकाश में आ चुका था, मगर जान पड़ता है कि मध्यकाल में पुनः हिंसा-वृत्ति उत्तेजित हो उठी तब बाईसवें तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि ने अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए जोरदार प्रयास किया। उन्होंने विवाह के लिए श्वसुरगृह के द्वार तक पहुँच कर भी पशु-पक्षियों की हिंसा के विरोध में विवाह करना अस्वीकार करके तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में भारी सनसनी पैदा कर दी। अरिष्टनेमि का वह साहसपूर्ण उत्सर्ग, सार्थक हुआ और समाज में पशुओं और पक्षियों के प्रति व्यापक सहानुभूति जागी। उनके पश्चात् तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने सर्प जैसे विषैले प्राणियों पर अपनी करुणा की वर्षा करके, लोगों का ध्यान दया की ओर आकर्षित किया। फिर भी धर्म के नाम पर जो हिंसा प्रचलित थी, उसे निश्शेष करने के लिए चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने प्रभावशाली उपदेश दिया। यद्यपि हिंसा प्रचलित है फिर भी विचारवान लोग उसे धर्म या पुण्य का कार्य नहीं समझते, बल्कि पाप मानते हैं। इस दृष्टिपरिवर्तन के लिए जैन-परम्परा को बहुत उद्योग करना पड़ा।

अवतारवाद बनाम परमात्मवाद :

. आत्मा की चरम और विशुद्ध स्थिति क्या है ? यह दर्शनशास्त्र के चिंतन का एक

प्रधान प्रश्न रहा है। विभिन्न दर्शनों ने इस पर विचार किया है और अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार चित्त की परम्परा का अवरुद्ध हो जाना, आत्मा की चरम स्थिति है। इस मान्यता के अनुसार दीपक के निर्वाण की भांति आत्मा शून्य में विलीन हो जाता है।

कणाद मुनि का वैशेषिक दर्शन आत्मा की अन्तिम स्थिति मुक्ति स्वीकार करता है, पर उसकी मुक्ति का स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसे समझ लेने पर अन्तःकरण में मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत नहीं होती। कणाद ऋषि के मन्तव्य के अनुसार मुक्त आत्मा ज्ञान और सुख से सर्वदा वंचित हो जाता है। ज्ञान और सुख ही आत्मा के असाधारण गुण हैं और जब इनका ही समूल उच्छेद हो गया तो फिर क्या आकर्षण रह गया मुक्ति में ?

संसार में जितने अनादिमुक्त एकेश्वरवादी सम्प्रदाय हैं, उनके मन्तव्य के अनुसार कोई भी आत्मा, ईश्वरत्व की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। ईश्वर एक अद्वितीय है। जीव जाति से वह पृथक् है। संसार में अधर्म की वृद्धि और धर्म का ह्रास होने पर उसका संसार में अवतरण होता है। उस समय वह परमात्मा से आत्मा का रूप ग्रहण करता है। जैन धर्म अवतारवाद की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है। और परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है, किन्तु परमात्मा के पुनः भवावतरण का विरोध करता है। इस प्रकार हमारे समक्ष उच्च से उच्च जो आदर्श संभव है, उसकी उपलब्धि का आश्वासन और पथप्रदर्शन जैन धर्म से मिलता है। वह आत्मा के अनन्त विकास की संभावनाओं को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। जैन धर्म का प्रत्येक नर को नारायण और भक्त को भगवान्, बनने का यह अधिकार देना ही उसकी मौलिक मान्यता है।

व्यक्ति की महत्ता गुणों से :

जैन धर्म सदैव गुण पूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल, वर्ण अथवा बाह्य वेष के कारण वह किसी व्यक्ति की महत्ता अंगीकार नहीं करता। भारतवर्ष में प्राचीन काल से एक ऐसा वर्ग चला आता है जो वर्णव्यवस्था के नाम पर, अन्य वर्गों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए तथा स्थापित की हुई सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए एक अखण्ड मानव जाति को अनेक खंडों में विभक्त करता है। गुण और कर्म के आधार पर, समाज की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना तो उचित है, जिसमें व्यक्ति के विकास को अधिक-से-अधिक अवकाश हो परन्तु जन्म के आधार पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है।

एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञान और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊंचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी, और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाज-घातक है।

इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है। प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर-अपमान है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचार, सदाचार से ऊंचा उठ जाता है, अज्ञान, ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण सतोगुण के सामने आदरास्पद बन जाता है। यही ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकजनों को सह्य नहीं हो सकती।" (निर्ग्रन्थ प्रवचन भाष्य, पृष्ठ २८६)

अतएव जैन धर्म की मान्यता है कि गुणों के कारण कोई व्यक्ति आदरणीय होना चाहिए और अवगुणों के कारण अनादरणीय एवं अप्रतिष्ठित होना चाहिए। इस मान्यता के पोषक जैनागमों के कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य हैं–

मस्तक मुंड़ा लेने से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता, अरण्यवास करने से ही कोई मुनि नहीं होता और कुश-चीर के परिधानमात्रसे कोई तपस्वी का पद नहीं पा सकता।

(उत्तराध्ययन अ० २५, सूत्रकृतांग १ श्रु०, अ० १३, गा० ६, १०, ११)

समभाव के कारण श्रमण ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान की उपासना करने के कारण मुनि, और तपश्चर्या में निरत रहने वाला तापस कहा जा सकता है।

कर्म (आजीविका) से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है, और कर्म से शूद्र होता है।

मनुष्य–मनुष्य में जाति के आधार पर कोई पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता मगर तपस्या (सदाचार) के कारण अवश्य ही अन्तर दिखाई देता है (उत्तराध्ययन)

इन उद्धरणों से स्पष्ट होगा कि जैन धर्म ने जन्मगत वर्णव्यवस्था एवं जाति-पाति की क्षुद्र भावनाओं को प्रश्रय न देकर गुणों को ही महत्व प्रदान किया है। इसी कारण जैन संघ ने मनुष्य-मात्र का वर्ण एवं जाति का विचार न करते हुए समान-भाव से स्वागत किया है। वह आत्मा और परमात्मा के बीच में भी कोई अलंघ्य दीवार स्वीकार नही करता तो आत्मा-आत्मा और मनुष्य-मनुष्य के बीच कैसे स्वीकार कर सकता है?

अपरिग्रह भाव की व्यावहारिकता :

संसार का कोई भी धर्म परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नहीं मानता है, किन्तु सब धर्म एक स्वर से इसे हेय घोषित करते हैं। ईसाई धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक बाइबिल का यह उल्लेख प्रायः सभी जानते हैं कि–"सूई की नोंक में से ऊंट कदाचित निकल जाय, परन्तु धनवान् स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता।" परिग्रह की यह कड़ी-से-कड़ी आलोचना है। इधर भारतीय धर्म भी परिग्रह को समस्त पापों का मूल और आत्मिक पतन का कारण कहते हैं, किन्तु जैन धर्म में अपरिग्रह को व्यवहार्य रूप प्रदान करने की एक बहुत सुन्दर प्रणाली निर्दिष्ट की गई है।

जैन संघ मुख्यतया दो भागों में विभक्त है·······त्यागी और गृहस्थ। त्यागी वर्ग के लिए पूर्ण अपरिग्रही, अकिंचन रहने का विधान है। जैन त्यागी संयम-साधना के लिए

अनिवार्य कतिपय उपकरणों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने अधिकार में नहीं रखता। यहां तक कि अगले दिन के लिए भोजन भी अपने पास नहीं रख सकता। उसके लिए अपरिग्रह महाव्रत का पालन करना अनिवार्य है।

गृहस्थवर्ग अपरिग्रही रहकर संसार-व्यवहार नहीं चला सकता और इस कारण उसके लिए पूर्ण परिग्रहत्याग का विधान नहीं किया गया है, उसे सर्वथा अनियन्त्रित भी नहीं छोड़ा गया है। गृहस्थ को श्रावक की कोटि में आने के लिए अपनी तृष्णा, ममता एवं लोभ-वृत्ति को सीमित करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिये। परिग्रह-परिमाण श्रावक के पांच मूल व्रतों में अन्यतम है। इस व्रत का समीचीन रूप से पालन करने के लिए श्रावक को दो व्रत और अंगीकार करने पड़ते हैं, जिसका भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदंड-त्याग के नाम से गृहस्थ धर्म के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। परिमित परिग्रह का व्रत तभी ठीक तरह व्यवहार में आ सकता है, जब मनुष्य अपने भोग और उपयोग के योग्य पदार्थों की एक सीमा बना ले और साथ ही निरर्थक पदार्थों से अपना संबंध विच्छेद कर ले। इस प्रकार अपरिग्रह व्रत के लिए इन सहायक व्रतों की बड़ी आवश्यकता है।

अर्थ तृष्णा की आग में मानव-जीवन भस्म न हो जाय, जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन न बन जाय, जीवन-चक्र द्रव्य के इर्द-गिर्द ही न घूमता रहे, और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अन्धकार में विलीन न हो जाय, इसके लिए अपरिग्रह का भाव जीवन में आना ही चाहिए। यदि अपरिग्रह भाव जीवन में आ जाय, और सामूहिक-रूप मे आ जाय तो अर्थवैषम्यजनित सामाजिक समस्याएं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। उन्हें हल करने के लिए समाजवाद या साम्यवाद या अन्य किसी नवीनवाद की आवश्यकता ही नहीं रहती।

जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओं का सुन्दर समाधान है, अतएव समाजशास्त्रियों के लिए अध्ययन करने योग्य है। इससे व्यक्ति का जीवन भी उच्च और प्रशस्त बनता है और साथ ही समाज की समस्याएं भी सुलझ जाती हैं।

●●●●



३५

आधुनिक विज्ञान और द्रव्य विषयक जैन धारणा

• डॉ० वीरेन्द्रसिंह

वैज्ञानिक शक्ति-मूल्य और ज्ञान-मूल्य :

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान एक ऐसी सबल मानवीय क्रिया अथवा अनुशासन है जिसने ज्ञान के क्षेत्रों को केवल प्रभावित ही नहीं किया है, वरन् विश्व और ब्रह्माण्ड के रहस्यों को एक तार्किक रूप में उद्घाटित किया है। वैज्ञानिक-ज्ञान के दो पक्ष हैं, जो दो प्रकार के मूल्यों की सृष्टि करते हैं—एक शक्ति मूल्य और दूसरे प्रेम या चिंतन-मूल्य। जहां तक शक्ति-मूल्य का सम्बन्ध है, वह तकनीकी विकास से उद्भूत है जो अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिस्पर्द्धा का विषय बनता जा रहा है। इसके द्वारा शक्ति और स्वार्थ मूल्यों की इस कदर वृद्धि होती जा रही है कि आधुनिक मानस विज्ञान को केवल शक्ति-अर्जन का पर्याय मानता जा रहा है। दूसरी ओर विज्ञान का वह महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो प्रेम-मूल्य या ज्ञान-मूल्य का सृजन करता है जिसकी ओर हमारा ध्यान कम जाता है। सत्य रूप में, विज्ञान का यह ज्ञान-मूल्य ही 'प्रतिमानों' का सृजन करता है जो मानवीय संदर्भ को अर्थवत्ता प्रदान करता है क्योंकि प्रत्येक मानवीय क्रिया, मानव और उससे संबंधित विश्व संदर्भ के लिए ही है। यह ज्ञान प्राप्त करने का मनोभाव विज्ञान का भी लक्ष्य है। रहस्यवादी, प्रेमी, कलाकार सभी सत्यान्वेषी होते हैं, यह बात दूसरी है कि उनका अन्वेषण उस 'पद्धति' को स्वीकार न करता हो जो वैज्ञानिक अन्वेषण में स्वीकार की जाती है। इस कारण ये कवि और रहस्यवादी हमारे लिए किसी भी दशा में कम सम्मान के पात्र नहीं हैं क्योंकि वैज्ञानिक के समान वे भी ज्ञान के अन्वेषी हैं। प्रेम के प्रत्येक स्वरूप के द्वारा हम 'प्रिय' के ज्ञान का साक्षात्कार करना चाहते हैं। यह साक्षात्कार 'शक्ति' प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं होता है, वरन् इसका सम्बन्ध आंतरिक उल्लास और ज्ञान के आयामों को उद्घाटित करने के लिए होता है।[1] अतः 'ज्ञान' स्वयं में एक मूल्य है जो वैज्ञानिक ज्ञान के लिए भी उतना सत्य है जितना अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के लिए। विज्ञान का आरंभ इसी प्रेम संबंध का रूप है क्योंकि वैज्ञानिक भी वस्तुओं, दृश्यों, ब्रह्माण्डीय पिंडों आदि से एकात्म स्थापित कर उनके 'रहस्य' का उद्घाटन करता है।

१. द साइन्टिफिक इन्साइट, बर्ट्रेंड रसेल, पृ० २००।

वैज्ञानिक सापेक्षतावाद तथा स्याद्वाद :

ज्ञान के इस व्यापक परिवेश में एक अन्य बात यह भी स्पष्ट होती है कि विज्ञान और जैन-दर्शन का सम्बन्ध 'सापेक्षवाद' की आधार भूमि पर माना जा सकता है जो वैज्ञानिक-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण 'प्रत्यय' है जो जैन-दर्शन के स्याद्वाद से मिलता जुलता है। यह समानता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि जैन मनीषा ने विश्व के यथार्थ स्वरूप के प्रति एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्राप्त की थी जो तत्व-चिंतन का क्षेत्र होते हुए भी 'यथार्थ' के प्रति एक स्वस्थ आग्रह था। विश्व और प्रकृति का रहस्य 'सम्बन्धों' पर आधारित है जिसे हम निरपेक्ष (Absolute) प्रत्ययों के द्वारा कदाचित् हृदयंगम करने में असमर्थ रहेंगे। द्रव्य या पुद्गल की समस्त अवधारणा इसी सापेक्ष तत्व पर आधारित है और वर्तमान भौतिकी, रसायन तथा गणितीय प्रत्ययों के द्वारा 'द्रव्य' (Matter) का जो भी रूप समक्ष आया है, वह कई अर्थों मे वैज्ञानिक अनुसंधानों से प्राप्त निष्कर्षों से समानता रखता है।

विकासवादी सिद्धांत और जीव-अजीव की धारणाएं :

आधुनिक विज्ञान का एक प्रमुख सिद्धांत विकासवाद है जिससे हम विश्व स्वरूप के प्रति एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करते है। डार्विन आदि विकासवादियों ने जैव (Organic) और अजैव (Inorganic) के सापेक्ष संबंध को मानते हुए उन्हें एक क्रमागत रूप में स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैव (चेतन) और अजैव (जड़) के मध्य शून्य नहीं है, पर दोनो के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जो दोनों के 'सत्' स्वरूप के प्रति समान महत्त्व का भाव प्रकट करता है। जैन-दर्शन की द्रव्य अवधारणा में इस वैज्ञानिक तथ्य का संकेत 'जीव' और 'अजीव' की परिकल्पनाओं के द्वारा व्यक्त हुआ है जो क्रमशः चेतन और अचेतन के पर्याय है और दोनों यथार्थ और सत् हैं। यहा पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वेदांत अथवा चार्वाक-दर्शन के समान यहां पर द्रव्य (Matter) चेतन या जड़ नहीं है, पर द्रव्य (पुद्गल) की धारणा मे इन दोनों तत्वों का समान समावेश है। इस सारे विवेचन से एक अन्य तथ्य यह भी प्रकट होता है कि सत्, द्रव्य, पदार्थ और पुद्गल—सब समानार्थक अर्थ देने वाले शब्द हैं और इसी से, जैन आचार्यो ने "द्रव्य ही सत् है और सत् ही द्रव्य है" जैसी तार्किक प्रस्थापना को स्थापित किया। उमास्वाति नामक जैन आचार्य ने तो यहां तक माना कि "काल भी द्रव्य का रूप है"[1] जो बरबस आधुनिक कण-भौतिकी (Particle Physics) की इस महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना की ओर ध्यान आकर्षित करती है कि काल तथा दिक् भी पदार्थ के रूपांतरण हैं और यह रूपांतरण पदार्थ के तात्विक रूप की ओर भी संकेत करते हैं पदार्थ या द्रव्य का यह रूप आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी अधिक है क्योंकि जैन-दर्शन भेद को उतना ही महत्त्व देता है जितना अद्वैतवादी अभेद को। पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले ने भी 'भेद' को एक आवश्यक तत्त्व माना है जिससे हम सत् के सही रूप का परिज्ञान कर सकते हैं।[2]

---

१. जैन-दर्शन, डॉ० मोहनलाल मेहता, पृ० १२८—उमास्वाति के ग्रंथ तत्वार्थभाष्य से उद्धृत।

२. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, डॉ० हीरालाल जैन, पृ० १८।

द्रव्य की रूपांतरण-प्रक्रिया तथा भेद :

जैन-दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो द्रव्य की अवधारणा में एक नित्यता का भाव है जो न नष्ट होती है और न नई उत्पन्न होती है। उत्पाद और व्यय (विनाश) के बीच एक स्थिरता रहती है (या तुल्यभाग्िता Balance रहती है) जिसे एक पारिभाषिक शब्द ध्रौव्य के द्वारा इंगित किया गया है। मेरे विचार से ये सभी दशाएं द्रव्य की गतिशीलता और सृजनशीलता का प्रतिरूप है। विज्ञान के क्षेत्र में फ्रेड हायल ने पदार्थ का विश्लेषण करते हुए पृष्ठभूमि पदार्थ (Background Material) की प्रस्थापना की है जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है और अंततः फिर उसी में विलय हो जाता है, यह क्रम निरन्तर चला करता है।[1] इस प्रकार सृजन और विलय के बीच समरसता स्थापित करने के लिए 'ध्रौव्य' (स्थिरता) की कल्पना की गई। त्रिमूर्ति की धारणा में भी ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश क्रमशः सृजन, स्थिरता (सामरस्य) और विलय (या प्रलय) के देवता हैं जो प्रत्यक्षः प्रकृति की तीन शक्तियों के प्रतीक हैं। द्रव्य का यह परिवर्तनशील तथा अनित्य रूप विज्ञान के द्वारा भी मान्य है जहां पर पदार्थ रूपांतरित होता है न कि नष्ट। विज्ञान तथा जेन दर्शन में द्रव्य का यह रूप समान है, पर एक विशेष प्रकार का अन्तर भी है। जैन-दर्शन में 'आत्मा' नामक प्रत्यय को भी द्रव्य माना गया है जिस प्रकार आकाश या स्पेस (आकाशास्तिकाय) काल या टाइम (कालास्तिकाय), पदार्थ तथा ऊर्जा (पुद्गलास्तिकाय) आदि को। विज्ञान के क्षेत्र में द्रव्य को उतने व्यापक अर्थ में ग्रहण नहीं किया है जितना कि जैन-दर्शन में। परंतु आधुनिक विज्ञान की ओर विशेषकर भौतिकी गणित तथा रसायन की अनेक नवीन उपपत्तियों में पदार्थ के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्वों की ओर संकेत मिलता है जो उसके भावी रूप के प्रति एक दिशा प्रदान करता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक-दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसेल ने पदार्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए एक स्थान पर कहा है कि पदार्थ वह है जिसकी ओर मन सदैव गतिशील रहता है पर वह 'उस' तक कभी पहुँचता नहीं है। आधुनिक पदार्थ भौतिक नहीं है।[2]

जैन दर्शन में पदार्थ के उपर्युक्त स्वरूप से एक बात यह स्पष्ट होती है कि वहां पर द्रव्य एक ऐसा प्रत्यय है जो 'सत्ता सामान्य' का रूप है जिसके छह भेद किए गए हैं— धर्मास्तिकाय से लेकर कालास्तिकाय तक जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। जहां तक पुद्गल या पदार्थ का सम्बन्ध है, वह द्रव्य का एक विशिष्ट प्रकार है जिसका विश्लेषणात्मक चिंतन जैन आचार्यों ने किया है। परमाणुवाद का पूरा प्रसाद पुद्गल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण पर आधारित रहा है जो आधुनिक वैज्ञानिक परमाणुवाद के काफी निकट है।

---

१. द नेचर ऑफ यूनीवर्स, फ्रेड हॉयल, पृ० ४५।

२. 'Matter is something in which the mind is being led, but which it never reaches. Modern matter is not material.' उद्धृत 'फिनासिफिकल एसपेक्ट्स आफ माडर्न साइंस', पृ० ८७, सं०—सी० ई० एम० जोड०।

जैन परमाणुवाद और विज्ञान :

पुद्‌गल की संरचना को लेकर जैन दर्शन ने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह पदार्थ के सूक्ष्म तत्वों (कणों) की ओर संकेत करता है। आधुनिक विज्ञान ने पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई को परमाणु कहा है जिसके संयोग से 'अणु' बनता है और इन अणुओं के संघात से ऊतक (Tissue) का निर्माण होता है। जैविक संरचना में कोष (Cell) सूक्ष्मतम इकाई है जिनके संयोग से अवयव (Organ) का निर्माण होता है। इस प्रकार, समस्त जैविक और अजैविक संरचना में अणुओं, परमाणुओं, कोषों और अवयवों का क्रमिक साक्षात्कार होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि समस्त सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है। जैन आचार्यों की परमाणु और स्कंध धारणाओं में उपर्युक्त तथ्यों का समावेश प्राप्त होता है। जैन मतानुसार परमाणु पदार्थ का अंतिम रूप है जिसका विभाजन संभव नहीं है। वह इकाई रूप है जिसकी न लम्बाई, चौड़ाई और न गहराई होती है, तथा जो स्वयं ही आदि, मध्य तथा अंत है। आधुनिक विज्ञान ने परमाणु को विभाजित किया है और उसकी आंतरिक संरचना के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। परमाणु में अन्तर्निहित इलेक्ट्रान, प्रोटान, पाजिट्रान, न्यूट्रान आदि सूक्ष्मतम कणों की जानकारी आज के विज्ञान ने दी है और साथ ही, सौर मंडल की संरचना के समान परमाणु की संरचना को स्पष्ट किया है। इस वैज्ञानिक प्रस्थापना के द्वारा यह दार्शनिक तथ्य भी प्रकट होता है कि जो पिंड (Microcasm) परमाणु में है, वहीं ब्रह्माण्ड में है जो योग साधना का एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। अतः मुनि श्री नगराजजी ने जो यह मत रखा है कि विज्ञान में परमाणु का 'सूक्ष्म रूप' नहीं मिलता है जैसा कि जैन दर्शन में[1] यह मत उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में पूर्ण सत्य नहीं ज्ञात होता है। तथ्य तो यह है कि अधुनातन वैज्ञानिक प्रगति में परमाणु की सूक्ष्मतम व्याख्या प्रस्तुत की है जो प्रयोग और अनुभव की सीमाओं से प्रमाणित हो चुकी है। स्कंध की धारणा विज्ञान की अणु (Molecule) भावना से मिलती है क्योंकि दो से अनंत परमाणुओं के संघात को स्कंध या कण की संज्ञा विज्ञान तथा जैन दर्शन दोनों में दी गई है।

स्कंध निर्माण प्रक्रिया :

अब प्रश्न उठता है कि परमाणु स्कंध रूप में कैसे परिणत होता है? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर विज्ञान तथा जैन मत ने अपने-अपने तरीके से दिया है जिसमें अनेक समानताएं हैं। जैन मत और विज्ञान में एक सबसे बड़ी समानता यह है कि दोनों में परमाणुओं के योग से स्कंध का निर्माण होता है जिसका हेतु धन और ऋण विद्युत् है (+ और —) जिनके परस्पर आकर्षण से स्कंध तथा पदार्थ का सृजन होता है। जैन आचार्यों ने परमाणुओं के स्वभाव को स्निग्ध तथा रूक्ष (+ और —) माना है जिनमें रूक्ष और स्निग्ध परमाणु बिना शर्त बंध जाते हैं। इसके अतिरिक्त रूक्ष-परमाणु रूक्ष से तथा स्निग्ध परमाणु स्निग्ध से तीन से लेकर यावत् अनंत गुणों का बंधन प्राप्त करते हैं। परमाणुओं के ये दो विपरीत स्वभाव उनके आपसी बंधन के कारण हैं। आधुनिक विज्ञान में पदार्थ के अन्तर्गत

१. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, मुनि श्री नगराज, पृ० ८६।

धन विद्युत् (Positive Charge +) और ऋण विद्युत् (Negative Charge —) के अस्तित्व को स्वीकार किया है। यहां पर स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि जैन विचारकों ने आधुनिक विज्ञान द्वारा बताए गए परमाणु स्वभाव को ठीक उसी प्रकार निष्पन्न किया था जो आधुनिक विज्ञान हजारों वर्ष बाद कर रहा है। श्री वी० एल० शील का भी यही मत है कि जैन दर्शनविद् इस तथ्य को पूरी तरह जानते थे कि धन और ऋण विद्युत्कणों के मिलन से विद्युत् की उत्पत्ति होती है।[1] आकाश में चमकने वाली विद्युत् का हेतु भी परमाणुओं का रूक्षत्व और स्निग्धत्व गुण है—यह तथ्य भी 'सर्वार्थ सिद्धि', अध्याय ५ में प्राप्त है। प्राणी तथा वनस्पति जगत में भी धन और ऋण विद्युत् का रूप यौन-आकर्षण में देखा जा सकता है, यहां तक कि वनस्पति संसार में भी यह आकर्षण एवं विकर्षण प्राप्त होता है। धन और ऋण का यह अनंत विस्तार सृष्टि में व्याप्त है और यहां पर आकर जैन चिंतक की वैज्ञानिकता का प्रमाण मिलता है।

परमाणु के स्पर्श गुण और विज्ञान :

जैन दर्शन में परमाणुओं के अनेक 'स्पर्श' माने गए हैं जो प्रत्यक्षतः परमाणुओं के गुण तथा स्वभाव को स्पष्ट करता है। इन्हें 'स्पर्श' इसलिए कहा गया है कि इन्द्रियां इन्हें अनुभूत करती हैं। इन स्पर्शों की संख्या आठ हैं जैसे कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शील, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष। इस प्रकार के विभिन्न गुण वाले परमाणुओं के संश्लेष से उल्का, मेघ, इंद्रधनुष आदि का सृजन होता है जिसे हम प्राकृतिक घटना (Phenomenon) कहते हैं। आधुनिक भौतिकी भी इसी तथ्य को स्वीकार करती है कि उल्का, मेघ तथा इन्द्रधनुष परमाणुओं का एक विशिष्ट संघात है। यही नहीं, छाया, आतप, शब्द तथा अंधकार को भी पुद्गल का रूप माना गया है जो आधुनिक विज्ञान में भी मान्य है। जैनाचार्यो ने पुद्गल के ध्वनिरूप परिणाम को 'शब्द' कहा है। परमाणु अशब्द है, शब्द नाना स्कंधों के संघर्ष से उत्पन्न होता है।[2] यही कारण है कि ध्वनि का स्वरूप कंपनयुक्त (Vibration) होता है और इस दशा में ध्वनि, शब्द का रूप ग्रहण कर लेती है। आधुनिक भौतिकी के अनुसार भी यह एक सामान्य अनुभव है कि ध्वनि का उद्गम कंपन की दशा में होता है। उदाहरणार्थ शंकु का कांटा (स्वर यंत्र), घण्टी, पियानो के तार, आरगन पाइप की हवा—ये सब वस्तुएं कंपन की अवस्था में रहती हैं जबकि वे ध्वनि पैदा करती हैं।'[3] विज्ञान के अनुसार शब्द एक

---

१. पाजिटिव साइंस ऑफ एन्शेंट हिन्दूज, वी० एल० शील, पृ० ३६।

२. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० ६५।

३. It is a common experience that a source of sound is in a state of vibration. For example the prong of a tuning fork, a bell, the strings of a piano and the air in an organ pipe are all in a state of vibration when they are producing sound.

—Text book of Physics, R. S. Willows, P. 249.

शक्तिरूप प्रत्यय है जिसका स्वरूप तरंगात्मक है जो रेडियो, माइक्रोफोन आदि में शब्द तरंगे, विद्युत् प्रवाह में परिणत होकर आगे बढ़ती हैं और लक्ष्य तक पहुँच कर फिर शब्द रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। शब्द को लेकर केवल एक अंतर विज्ञान से ज्ञात होता है क्योंकि विज्ञान, शब्द या ध्वनि को शक्ति के रूप में स्वीकार करता है (Energy) न कि पदार्थ के रूप में, जबकि जैन मत में ध्वनि पौद्‌गलिक है जो लोकांत तक पहुँचती है। इस सूक्ष्म अंतर के होते हुए भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का ध्वनि-विषयक चिंतन आधुनिक विज्ञान के काफी निकट है जो भारतीय मनीषा का एक आश्चर्यजनक मानसिक अभियान कहा जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जैन चितकों ने परमाणु को गतिमुक्त तथा कंपन-युक्त माना है। यही नही अभयदेव सूरि ने यहां तक कहा है कि परमाणु विविध कंपन करता है और वह भेदन करने में भी समर्थ है।[1] मुझे अनायास हिन्दी के महाकवि श्री जयशंकर प्रसाद की ये पंक्तियां याद आ जाती हैं जिसमें परमाणु के उपर्युक्त वैज्ञानिक रूप को एक सर्जनात्मक प्रक्रिया के द्वारा व्यक्त किया है—

अणुओं को है विश्राम कहां
है कृतिमय वेग भरा कितना
अविराम नाचता कंपन है
उल्लास सजीव हुआ कितना। (कामायनी, कामसर्ग)

आइंस्टीन ने भी परमाणु के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं जिनके द्वारा परमाणु गतिशील होते हैं—वे है, गति (Velocity), कंपन (Vibration) और उल्लास (Veracity) जिनका सापेक्ष सम्बन्ध ही सत्य है।[2]

परमाणु शक्ति और जैन मत :

परमाणु के उपर्युक्त गतिशील स्वरूप के प्रकाश में जैन-दर्शन में परमाणु शक्ति के बारे में जो भी संकेत प्राप्त होते हैं, वे न्यूनाधिक रूप से वैज्ञानिक निष्कर्षों से समानता रखते हैं। परमाणु शक्ति के दो रूप एटम बम और हाइड्रोजन बम हैं जो क्रमशः 'फिशन' (Fission) और फ्यूजन (Fusion) प्रक्रियाओं के उदाहरण है। फिशन का अर्थ है टूटना या पृथक् होना और एटम बम में यूरेनियम परमाणुओं के इस टूटने से शक्ति का (या ऊर्जा) विस्फोट होता है। दूसरी ओर हाइड्रोजन बम में फ्यूजन होता है जिसका अर्थ है मिलन या संयोग। इस प्रक्रिया में हाइड्रोजन के चार परमाणुओं के संयोग से हिलियम परमाणु बनता है। इस संयोग से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह हाइड्रोजन या उद्‌जन बम है। परमाणु की ये दोनों प्रक्रियाएं इस सूत्र वाक्य में दर्शनीय है—"पूरण गलन धर्मत्वात्

---

१. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, मुनि श्री नगराज, पृ० ३८।

२. दि लिमीटेशन्स ऑफ साइंस, जे० सूलीवेन, पृ० १४०।

पुद्गलः"। हाइड्रोजन बम पूरण या संयोग धर्म का उदाहरण है (फ्यूजन) और एटम बम वियोग या गलन का उदाहरण है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो पुद्गल की संरचना में परमाणुओं का यह गलन और पूरण रूप एक ऐसा तथ्य है जिस पर आधुनिक विज्ञान (विशेषकर भौतिकी) की समस्त परमाणविक ऊर्जा का प्रासाद निर्मित हुआ है। जैन शब्दावली में एक अन्य शब्द प्रयुक्त होता है—'तेजोलेश्या' जो पुद्गल की कोई रासायनिक प्रक्रिया है जो सोलह देशों को एक साथ भस्म कर देती है।[1] यह संहारक प्रवृत्ति आधुनिक बमों की ओर भी संकेत करती है। आधुनिक अणुशक्ति केवल ऊष्मा के रूप में ही प्रकट होती है, पर तेजोलेश्या में उष्णता और शीतलता दोनों गुण विद्यमान हैं और शीतल तेजोलेश्या, उष्ण तेजोलेश्या के प्रभाव को शीघ्र नष्ट कर देता है। आधुनिक विज्ञान उष्ण तेजोलेश्या को एटम तथा हाइड्रोजन बमों के रूप में प्राप्त कर चुका है, पर इनके प्रतिभारक रूपों के प्रति अब भी पहुँच नहीं सका है जो अभी भविष्य के गर्त में ही विद्यमान हैं। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर इन बमों के प्रयोग के प्रति सभी शक्तिशाली देश सशंकित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जैन दार्शनिकों ने केवल आध्यात्म के क्षेत्र में ही नहीं पर पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसे सत्यों का साक्षात्कार किया जो आधुनिक विज्ञान के द्वारा न्यूनाधिक रूप में मान्य हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से यह महसूस करता हूँ कि जैन विचारधारा ने सही रूप में, दर्शन और विज्ञान के सापेक्ष महत्त्व को उद्‌घाटित किया और विश्व तथा प्रकृति के सूक्ष्मतम अंश परमाणु के रहस्य को प्रकट किया है। द्रव्य की यह लीला अनंत है और व्यक्ति यही चाहता है कि वह द्रव्य के 'अनन्वेषित प्रदेशों' तक पहुँच सके—यह जानने और पहुँचने की आकांक्षा ही ज्ञान का गत्यात्मक रूप है। वीरेन्द्र कुमार जैन की निम्न काव्य पंक्तियां इस पूरी स्थिति को सर्जन के धरातल पर व्यक्त करती हैं:—

देश-दिशा काल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों में
अनंत और अशेष कमरे खुलते चले गए:
कमरे के भीतर कमरा
और हर कमरे के लघुतम अंतरिक्ष में
असंख्यात कोटि कमरे।
स्कंध, अणु, परमाणु से भरे
द्रव्य की उस नग्न परिणमन लीला का अन्त नहीं था।

---

१. भगवती शतक १५ में ये सोलह देश इस प्रकार हैं—अंग, वंग, मगध, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, कोच्छ आदि।

—यों तुम्हें अंतिम रूप से पा लेने,

प्यार करने और जानने की।

आत्महारा बेचैनी में

मैं तत्त्व के

अकथ्य और अब तक अन्वेपित

प्रदेशों के सीमांतों तक चला गया।

—(शून्य पुरुष और वस्तुएं, पृ० ३१)

....



३६

वैज्ञानिकी और तकनीकी विकास से उत्पन्न मानवीय समस्याएँ और महावीर

• डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

प्रश्नाकुल स्थिति :

भगवान महावीर जिन मूल्यों की प्रतिमा थे—और जो आज भी वंद्य हैं—वे अध्यात्ममूलक जीवन दृष्टि से जिए गए जीवन की प्रयोगशाला में उत्पन्न हुए थे। वर्तमान संदर्भ और जीवन 'विज्ञान' प्रभावित है। विज्ञान ने आज का परिवेश निर्मित किया है, उसकी उपलब्धियां धर्माध्यात्ममूलक क्रमागत उपलब्धियों से मेल नहीं खाती, फलतः समाज के नेतृत्व-सम्पन्न बुद्धिवादियों ने आत्मा और तन्मूलक मान्यताओं तथा मूल्यों के प्रति या तो पूर्ण अनास्था घोषित कर दी है अथवा संदिग्ध मनःस्थिति कर ली है। यदि कहीं उस क्रमागत मूल्यों के प्रति आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास के ज्योतिकरण हैं भी, तो विज्ञान निर्मित यांत्रिक और स्वार्थकेन्द्रित व्यावसायिक वातावरण में वे मंदप्रभ होते जा रहे हैं और व्यवहार में कार्यान्वित नहीं हो पा रहे हैं। फलतः जब सारे समाज की आज नियति बनती जा रही है—अनाध्यात्मिकता और क्रमागत मूल्यों की अवहेलना अथवा त्याग, तब भगवान् महावीर ही नहीं, तमाम अध्यात्म मूलक मान्यताए प्रश्नाकुल हो गई हैं। अहिंसा काष्ठापन्न स्थिति में ग्राह्य होने के कारण जैन धर्म अथवा उसके प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर की स्थिति अपेक्षाकृत और अधिक गम्भीर हो गई है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने ठीक कहा है कि समस्या को जानना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उसके समाधान को जानना। अतः सबसे पहले वैज्ञानिक और तकनीकी विकास से उत्पन्न समस्याओं पर विचार आवश्यक है। विज्ञान की कठोर पद्धति का तकाजा है कि हम वही कहें और करें जो प्रमाणसिद्ध हो या किया जा सके जबकि धर्माध्यात्ममूलक पद्धति दूसरों के कथन पर विश्वास करने को बाध्य करती है। विश्वास करने के लिए इसलिए बाध्य करती है कि उसे पूर्वज मानते आ रहे हैं, उसकी सिद्धि में परम्परा प्राप्त आप्तवाक्य प्रमाण है और सबसे बड़ी बात यह कि उन्हें तर्कातीत कहा गया है।

अतर्क्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण चिन्तयेत्।

वैज्ञानिकों ने अपने अनुसंधान से धर्माध्यात्मक मूलक उक्त पद्धति को अस्वीकार घोषित कर दिया है। आप्तों के वचनों में भी जब परस्पर विरोध है—तब किसे श्रद्धा दी जाय ? जब इन्जील, कुरान, वेद और भिन्न-भिन्न आगमों में परस्पर वैमत्य है तब समस्त

विश्व के धर्माध्यात्मसमर्थक कैसे एक मत हों और तब इस स्थिति में आप्त वाक्यों पर विश्वास त्यागना ही पड़ेगा।

एक बात यह भी है कि जब विज्ञान के क्षेत्र में 'सत्य' के निकट अतीत की अपेक्षा वर्तमान के श्रम से 'भविष्य' में ही पहुँचेंगे—यह मान्यता सही है तब धर्म के क्षेत्र में यह क्यों मान लिया जाय कि 'सत्य' का साक्षात्कार अतीत में हो चुका, अब भविष्य उस दृष्टि से रिक्त है? विश्व एक नियम में बंधा हुआ है, विज्ञान इसी नियम के शासन पर बल देता है। इन्हीं नियमों का यह अनुशीलन करता है। जिस दिन सारे नियम ज्ञात हो जायेंगे, उस दिन 'रहस्य' नाम की कोई वस्तु न होगी। यद्यपि क्वाण्टम् सिद्धान्त में अनिर्धारणात्मकता की स्वीकृति से 'नियम' पूर्णतः और आत्यंतिक सत्य नहीं माना गया है तथापि विज्ञान प्राकृतिक व्यवहारों में निहित इस फ्री विल या स्वेच्छारिता के कारण अपना निर्धारणात्मक प्रयत्न नहीं छोड़ता बल्कि और आशा से अज्ञात कारणों की संगति खोजना चाहता है। विज्ञान जब यह मानता है कि सब कुछ नियम की शृंखला में बद्ध है तब किसी को 'कृपा' या 'स्वातन्त्र्य' का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर की कृपा और विज्ञान की नियमबद्धता परस्पर विपरीत है।

विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की उपलब्धियों के आलोक मे चेतना के अतिरिक्त किसी शाश्वत आत्मा की भी सिद्धि नहीं हो पाती : फिर यह भी कहा जाता है कि जीवन की इस विकास शृंखला में मानव ही अंतिम विकास क्यों माना जाय? धर्माध्यात्ममूलक जिन जीवन मूल्यों के लिए हम संघर्षशील हैं, बदलते हुए और विकासोन्मुख समाज में रूपों और आकारों की बनने बिगड़ने वाली ब्रह्माण्ड प्रक्रिया में, वे कितने क्षणिक हैं—स्पष्ट है। विज्ञान का निष्कर्ष है कि मन, भावना और आत्मा जीवित मस्तिष्क के ही अभिव्यक्त रूप हैं—वैसे ही जैसे ज्वाला जलती हुई मोमबत्ती का अभिव्यक्त रूप। इस मान्यता के अनुसार मस्तिष्क के नष्ट होते ही सब कुछ नष्ट हो जायगा। कहां के धर्म-आध्यात्म और कहां के तन्मूलक जीवन मूल्य। विज्ञान मानता जा रहा है कि प्रकृति की इतर चीजों की भांति मानव भी उसके विकास का एक अंग है। फ्रायड मानता है कि धर्म मानव समाज के मनोवैज्ञानिक विकास की एक विशेष सीढ़ी के साथ जुड़ा हुआ भ्रम है। समाज उसे उखाड़ के फेंकने की दिशा में गतिशील है। कहां तक विवरण दिया जाय, विश्वास की विभिन्न समस्याओं ने जो उपलब्धियां की हैं—वे सबकीसब धर्माध्यात्म के विपक्ष में जाती हैं।

तकनीकी विकास से उत्पन्न समस्याएं :

जहां तक तकनीकी विकास का संबंध है और उनसे उत्पन्न समस्याओं की बात है आज का प्रत्येक मानव उसे महसूस कर रहा है। यंत्र मानव का काम छीनता जा रहा है और मानव भावनाओं को खोता हुआ यांत्रिक होता जा रहा है। स्थल, जल तथा नभ–सर्वत्र प्रयोग-शालाएं स्थापित हो रही हैं। बाहरी दूरी समाप्त होती जा रही है, पर मानव-मानव के मध्य दूरी बढ़ती जा रही है। लोग भूतार्थवाद के आलोक में सामाजिक से 'व्यक्ति' होते जा रहे हैं। 'एक' से 'अनेक' हो रहे हैं, अभेद से भेद की ओर बढ़ रहे हैं। विश्व, राष्ट्र, समाज तथा परिवार के ही धरातल पर नहीं, व्यक्ति के स्तर पर भी सिर और धड़ अलग-अलग

होते जा रहे हैं। आज व्यक्ति का सिरस्थ-यंत्र सोचता कुछ और है और 'धड़' अपनी विवशता में करता कुछ और है। निष्कर्ष यह है कि आज का सारा वातावरण 'राहु' और 'केतु' के अकाण्ड ताण्डव से व्याप्त और विक्षिप्त है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की जगह विरोधी वृत्तियों ने ले ली है। सर्वत्र हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार तथा परिग्रह दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। संसार में शांति और सुख के निमित्त जितने सम्मेलन होते हैं—अशांति उतनी ही बढ़ती जा रही है। महाध्वंस के मेघ विश्व के ऊपर गरज रहे हैं। भीतर आस्था के अभाव से वैचारिक द्वंद्व और अस्थिरता से अशांति और बाहर परमाणविक अस्त्रों, उद्जन बमों का भय। हर व्यक्ति तनाव, अकेलेपन, संत्रास तथा आतंक से ग्रस्त है। शक्ति और सत्ता अर्जन के प्रति प्रतिस्पर्द्धा भाव ने मानव के समक्ष समस्याओं का अबार पैदा कर रखा है। वाटरगेट काण्ड में जिन उपकरणों का प्रयोग विपक्षी के रहस्यात्मक कार्यों के ज्ञान के लिए किया गया है, उसके आलोक में आत्मरक्षा का कौनसा प्रयत्न गुप्त रह सकता है? इस प्रकार उक्त विचारों के आलोक में न तो अध्यात्मवादियों का आत्मवाद सुरक्षित रह सका है और न उसके अनुरूप स्थापित जीवन-मूल्यों में आस्था। फलतः समस्त आध्यात्मवादी ज्योतिःस्तम्भ हिल उठे हैं।

प्रसिद्ध चिंतक जैनेन्द्र ने एक बार यह कहा था कि वे अपनी कृतियों में भारतीय 'अध्यात्ममूलक संस्कृति के घटक तत्वों को बार-बार इसलिए हिला देते हैं ताकि नए संदर्भ में नए चिंतन से उन्हें पुनः सुदृढ़ता प्रदान की जाय। ठीक यही बात आज अध्यात्म ज्योति भगवान् महावीर के बारे में भी कही जा सकती है। मानवता के ऊपर आए हुए वर्तमान संकट से त्राण पाने के निमित्त, अंधकाराच्छन्न जीवनपथ को आलोकित करने के उद्देश्य से ऐसी आध्यात्मज्योतियों की मंच पर प्रतिष्ठा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

विज्ञान की चमक और धर्माध्यात्म की मदप्रभता से जो संक्रमण आज दृष्टिगोचर हो रहा है, यह आज ही नहीं है—इतिहास में अनेक बार आया है। कहा तो यह भी जाता है कि सदन के बगीचे के द्वार से बाहर निकलते हुए आदम और हौवा ने ही सबसे पहले कहा था कि वे संक्रान्ति के काल से गुजर रहे हैं। इस प्रकार इस संदर्भ में सर्वप्रथम समस्या है—आत्मवाद के स्थापन की। इसके अभाव में और सारी बातें बेबुनियाद हैं।

आत्मवाद की प्रतिष्ठा :

आत्मवाद के विपक्ष में अनात्मवादी वैज्ञानिकों के कई तर्क हैं उनमें से पहला यह कि आत्मवाद प्रमाण सिद्ध नहीं। वह परम्परागत विश्वास पर आधृत है और अतर्क घोषित है। निस्संदेह आत्मवाद प्रमाणसिद्ध नहीं है। कारण, आत्मवादी मानते हैं कि जो प्रमाण सिद्ध है, अपनी सत्ता की सिद्धि में प्रमाण-सापेक्ष है, वह और चाहे जो हो, आत्मा नही है। आत्मवादी मानते हैं कि उसके लिए और कोई प्रमाण नहीं है, पर यदि अनुभव और अंतर्दृष्टि (बुद्धि से भी ऊपर की शक्ति) प्रमाण है तो उसके साक्ष्य पर आत्मा का अस्तित्व माना गया है और माना जा सकता है। बुद्धि से परे अंतर्दृष्टि या अंतर्ज्ञान की सत्ता विज्ञान भी मानता है। विश्व विख्यात वैज्ञानिकों को ऊपर उठाने वाली यही अंतर्दृष्टि है। अतः यह कहना कि आत्मवाद निराधार है और केवल परम्परागत विश्वासों पर टिका हुआ है, ठीक नहीं।

रही परम्परा तो वह भी इतनी हल्की नहीं होती। किसी ने ठीक कहा है कि शताब्दियों के जीवन से इतिहास बनता है और सदियों के इतिहास से परम्परा। इस परम्परा को स्थिरता और मान्यता देने में असंख्य जनता की जीवनमयी प्रयोगशाला सक्रिय रहती है। उसे यों ही नहीं ठुकरा दिया जा सकता।

धर्म की बुनियाद अनुभव :

धर्म के अनुभवात्मक स्वरूप पर सर्वाधिक बल हिन्दू धर्म में दिया गया है। हिन्दू धर्म का प्रयोग यहां उन सब धर्मों के लिए दिया गया है जो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। हिन्दुस्तान की धरा पर उत्पन्न होने वाला चाहे नैगमिक और आगमिक परम्परा से संबद्ध हो अथवा जैन और बौद्ध, सभी पुनर्जन्म में आस्था रखते हैं। यद्यपि यह सही है कि प्रत्येक धर्म अपने पुरस्कर्ता के अनुभव पर ही प्रतिष्ठित है। वेद का नाम ही ज्ञान है—जिसके द्रष्टा ऋषि हैं, स्रष्टा नहीं। बौद्ध बुद्ध के बोधि पर ही केन्द्रित है। जैन धर्म का सब कुछ तीर्थंकरों का अनुभव है। मूसा ने भी जलती हुई झाड़ी में ईश्वर को देखा था और एलिजा ने दिव्य अनाहतनाद सुना था। कहां तक कहा जाय सभी धर्मों की बुनियाद अनुभव है।

रहा यह कि सभी धर्मों की मूल मान्यताओं में, आसमानी किताबों में जो मतभेद है—और पारस्परिक विरोध वश जो पारस्परिक अमान्यता का सवाल है, वह व्यक्तिगत अनुभव वैचित्र्य तथा उसकी प्रतीकात्मक भाषा के कारण है। अन्यथा स्वामी रामकृष्ण के विषय में प्रसिद्ध ही है कि उन्होंने सभी धर्मों की साधनाएं अनुष्ठित की थीं और अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी एकमत हैं सब ओर से एक ही गंतव्य पर पहुँचा जा सकता है। विरोध खण्डित भूमिका के द्रष्टा की दृष्टिवश है—दृष्टि कोण वश है।

विभिन्न अध्यात्मवादियों की उपलब्धियों में पारस्परिक विरोध जिन्हें दिखाई पड़ता है, उन्हें विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से उपलब्ध मान्यताओं में विरोध क्यों नहीं दिखता ? विरोध तो वहां भी है और विज्ञान अपनी सत्यान्वेषण प्रक्रिया में स्वयं पूर्ववर्ती निष्पत्तियों को परवर्ती उपलब्धियों के आलोक में अग्राह्य ठहरा देता है।

जीवन-सत्य तर्क से परे :

रही, तर्कातीत होने की बात। अध्यात्म के सम्बन्ध में तो, उसके विषय में 'महावीर मेरी दृष्टि में' के भूमिका लेखक की बात मुझे पर्याप्त संगत लगती है। उन्होंने कहा है—'तर्क विरोध को स्वीकार नहीं करता, किन्तु जीवन विरोधी तत्त्वों से ही बना है। इसलिए जीवन तर्क की पकड़ से चूक जाता है। अतः जीवन का सत्य तर्क में नहीं, तर्क से परे है।' जैन शास्त्र कहते ही हैं—सव्वे सराणियहंति तक्का जत्थन विज्जति। मति तत्थनं गा हिता (आचारांग) इस विरोध की संगति अनुभव ही लगा सकता है।

अध्यात्म और तन्मूलक मान्यताओं में आस्था रखने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि विज्ञान की मान्यताओं से अभिभूत होकर उसकी परीक्षा की जाय अथवा शिश्नोदरदरी पूर्ति के संदर्भ में प्राप्त अनुभवों पर आवृत संस्कारों के आलोक में उन्हें देखा जाय। उनके प्रति आस्थावान् होने के लिए आवश्यक है उनकी 'साधना' और उनकी 'दृष्टि' पकड़ी जाय।

'दृष्टि' में जितना सम्यक्त्व आयेगा, चारित्र उतना ही उत्कृष्ट होगा। सवाल यह है कि भगवान् महावीर की उपलब्धियों को आज के जीवन से क्यों जोड़ा जाय ?

आज का सार्वभौम जीवन :

वस्तुतः आज का सार्वभौम जीवन परलोक से लोक की ओर, और लोक में भी समष्टि से व्यष्टि की ओर, और व्यष्टि में भी आत्मा से शरीर की ओर उत्तरोत्तर मुड़ता चला जा रहा है। शरीर की आवश्यकताएं सर्वोपरि आवश्यकता समझी जाती है और उसकी पूर्ति के लिए व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा की आग लगी हुई है। जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जहां व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा नहीं है, लेनदेन की सरगर्मी नहीं है। परिणामतः 'परिग्रह' की मात्रा बढ़ती जा रही है। हमारा सारा प्रयास वहीं केन्द्रित है। विज्ञान और तकनीकी प्रयास भी मानव की इसी वृत्ति की तुष्टि में संलग्न है। विज्ञान और तकनीकी प्रयासों की संभावनाएँ चाहे जो हों, पर उनका विनियोग करने वाले मानव के हाथ 'परिग्रह' प्रेरित हैं—फलतः वे प्रतिस्पर्द्धा में उनका उपयोग कर रहे हैं और शक्ति तथा सत्ता के अर्जन में युद्ध की विभीषिका खड़ी कर रहे हैं। इस भयावह परिणाम से यदि बचना है तो भगवान् महावीर के द्वारा आदिष्ट महाव्रतों और अणुव्रतों की ओर लौटना होगा और समझना होगा उनकी परमार्थ दृष्टि को।

चन्द्रयान की यात्रा, बहिर्जगत् की यात्रा :

कहा जा सकता है कि ढाई हजार वर्ष पुराना समाधान वर्तमान संदर्भ में किस काम का ? बैलगाड़ी और चन्द्रयान का इतना बड़ा व्यवधान ! क्या वे तत्कालीन समाधान इस व्यवधान को पार कर सकेंगे ? इस विषय में स्पष्ट उत्तर यह है कि बैलगाड़ी से चंद्रयान की यात्रा बहिर्जगत् की यात्रा है, महावीर के समाधान और उनकी मान्यताएं अंतर्जगत् की यात्रा के लिए हैं। अंतर्जगत् का सत्य शाश्वत और चिरंतन सत्य है—उसकी उपलब्धि के सोपान हैं—अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य। और इन सबके साथ उनकी अनेकान्तवादी दृष्टि। पांच महाव्रतों में से तीन निषेधात्मक अर्थात् पहले तीन किसी सत्तावान् के निषेध की अनिवार्य परिणति हैं। इन तीनों में भी महत्वपूर्ण है—अहिंसा। हिंसा के निषेध से अनिवार्य फलित आचार है। हिंसात्मका वृत्ति के शेष रहते ही चौर्य और परिग्रह संभव है। यदि चौर्य और परिग्रह अनाकांक्षित हैं—तो फिर हिंसा किसलिए ? यह हिंसा कर्तव्यबुद्ध्या नहीं।

सम्यक् चारित्र का विस्फोट :

इसीलिए भगवान् महावीर ने पहले सम्यक् दर्शन, तब सम्यक् ज्ञान और फिर सम्यक् चारित्र की बात कही है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् दृष्टि का ही नामान्तर है, जो 'सत्य' की ग्राहिका है। यही दृष्टि स्थिर और परिपक्व होकर 'सम्यक् ज्ञान' बन जाती है। सम्यक् चारित्र इसी का विस्फोट है—इसी की अनिवार्य परिणति है। सारा सुधार अध्यात्मवाद के अनुसार भीतर से बाहर की ओर होता है। महापुरुषों के चरित्र के अनुकरण से वाञ्छित की उपलब्धि नहीं होगी, प्रत्युत् 'सत्य' के दर्शन और ज्ञान से चारित्र की सुगंध स्वतः फूट

निकलेगी। अतः सबसे बड़ी चीज है—उपवास। उपवास अनशन का पर्याय नहीं है, प्रत्युत वह है—समीपवास, चरमसत्य के समीप पहुँचने का समाव्यात्मक प्रयास। इस तप से उस सत्य का साक्षात्कार हो जायगा। न चरित्र ऊपर से थोपा हुआ सम्यक् चरित्र है और न दर्शन तथा ज्ञान ही। दर्शन आत्मनिहित सत्य की उपलब्धि है, ज्ञान उसी का परिपाक है और चरित्र उसी की परिणति।

इसी 'सत्य' की उपलब्धि के मार्ग हैं—अस्तेय, अपरिग्रह तथा अहिंसा। इनमें भी अहिंसा प्रमुख है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। हिंसात्मिका वृत्ति के अस्त होते ही जो पूर्वतः विद्यमान स्थिति व्यक्त हो जाती है वह है 'अहिंसा'। इस वृत्ति के उदित होने पर चौर्य और परिग्रह स्वयम् शांत हो जाते हैं, फलतः 'सत्य' का 'दर्शन' होता है और ब्रह्मचर्य उसी का बाह्य प्रकाश है। अनेकान्तवादी दृष्टि के प्रवर्तक भगवान् महावीर विचारों में भी अहिंसक हैं। यह अनेकान्तवादी दृष्टि जिसे मिल जाय उसमें हिंसा वृत्ति का निषेध हो ही जायगा।

अस्तित्व का आन्तरिक बोध :

अपने अस्तित्व का बोध प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। इसी के लिए यह सारा संघर्ष है। पर आज का और आज का ही नहीं, सदा का परिग्रही और हिंसक मानव-पशु इस 'अस्तित्व' का बोध दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करके कर पाता है, अन्य निरपेक्ष होकर नहीं। वास्तव में 'अस्तित्व' के आंतरिक रूप का बोध जिसे महावीर निर्दिष्ट 'अहिंसा' और 'अनेकान्तवादी' पद्धति से हो चुका है—वह अपने 'अस्तित्व' की निरपेक्ष पूर्णता का साक्षात्कार कर चुका होता है। अतः वह स्वयं में इतनी तृप्ति का अनुभव करता है कि उसे आत्मेतर का माध्यम नहीं अपनाना पड़ता। वह 'केवली' हो जाता है। पर आत्मेतर माध्यम से अपने 'अस्तित्व' का बोध करने वाला चोर, परिग्रही तथा हिंसक होता है। ये ही वे माध्यम हैं उसकी दृष्टि में, जिनसे वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित कराता है और इस रास्ते अपने अस्तित्व का बोध करता है। पर-सापेक्ष अस्तित्व का बोध 'दुरहंता' का बोध है—जो विश्व के लिए घातक है और पर-निरपेक्ष अस्तित्व का बोध निर्मल आत्मा का स्वरूप बोध है—जो आत्मकल्याण और विश्वकल्याण दोनों का साधक है, दोनों के लिए अनुकूल है। इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट अध्यात्ममूलक पथ के प्रचार-प्रसार से आरोपित आचार की जगह स्वतः स्फूर्त सदाचार व्यक्ति—व्यक्ति में प्रकट होगा, वर्तमान परिग्रही युग में आत्मकल्याण और लोक-कल्याण की दिशा में यह सर्वथा और सर्वोपरि उपयोगी होगा।

●●●

सप्तम
खण्ड

मनोवैज्ञानिक
संदर्भ

३७

सुमति का पत्र विवेक के नाम

भगवान् महावीर की वे बातें जो आज भी उपयोगी हैं

• श्री उमेश मुनि 'अणु'

आयुष्मान विवेक !

तुम्हारा पत्र मिला। कुशल वार्ता विदित हुई।

विशेष—तुमने अपनी मानसिक उलझनों का उल्लेख करते हुए 'भगवान् महावीर की वे बातें—जो आज भी उपयोगी हैं'—इस विषय में जानना चाहा है। बन्धु ! हो सकता है, कि तुम्हारी इस जिज्ञासा में आज के प्रबुद्ध जैन नवयुवकों की जिज्ञासा ही बोल रही हो। परन्तु मुझे पहले तो तुम्हारी बात जरा अटपटी लगी, क्योंकि श्रद्धा-प्रधान व्यक्ति के समक्ष ऐसी बात आने पर उसे यह आशंका होना स्वाभाविक है, कि—'क्या भगवान् महावीर की ऐसी भी बातें है, जो इस युग में निरुपयोगी हो गई हैं ?' वस्तुतः श्रद्धालु व्यक्ति को अपने श्रद्धेय की प्रत्येक बात प्रत्येक युग में उपयोगी ही प्रतीत होती है। भगवान् महावीर अपने आराध्य होने के कारण मुझे भी उनके उपदेश में कोई भी बात निरर्थक नहीं दिखाई देती है। पर मैं केवल श्रद्धा के कारण ही यह बात कह रहा हूं—ऐसा नहीं है। वस्तुतः चिन्तन-विहग काल-क्षितिज के पार पहुंच कर यही दर्शन करता है। भगवान् महावीर ने अपनी देश-काल को भेदने वाली दिव्य दृष्टि से पदार्थों की बाह्य-आभ्यन्तर सार्वकालिक अवस्थाओं को देखकर, अपने उपदेशों में जीवों की अन्तरंग वृत्तियों का विश्लेषण किया है और वृत्तियों के मलिन होने के कारणों को बता कर, उन्हें परिष्कृत करके आत्मस्थ करने की विधियां बताई हैं।[1]

अतः जब तक जीवों में मलिन वृत्तियाँ रहेंगी, तब तक भगवान् महावीर की बातें उपयोगी रहेंगी। फिर भी तुम्हारी जिज्ञासा अनुचित है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि आज के साहित्यिक वातावरण, सामाजिक स्थिति, धर्म-साधकों के शिथिल मनोबल, वर्तमान की वैज्ञानिक उपलब्धियों की चकाचौंध से उत्पन्न मानवीय शक्ति के अहंकार और आधुनिक शिक्षा-पद्धति के कारण ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। जिज्ञासा, जिज्ञासा

१. आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्ष कारणम् ।
इतीयमार्हती दृष्टि-रन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥

हीं है। स्वयं भगवान् महावीर ने ही मुमुक्षुओं को यह अधिकार दिया है, कि वे विविध दृष्टियों से स्वयं तत्व-निर्णय करें। अतः जिज्ञासा जब हो चुकी है तो उसका समाधान होना ही चाहिए। मैं दावा तो नहीं कर सकता हूं, कि तुम्हारी जिज्ञासा का पूर्णतः समाधान कर दूंगा, पर भगवान् महावीर के उपदेश अतीत काल में जितने उपयोगी रहे हैं उतने सम्प्रति भी उपयोगी हैं और भविष्य में भी उपयोगी रहेंगे—इस आशय से तुम्हारे चिन्तन को कुछ दिशा-बोध कराने के लिए, कुछ प्रयत्न कर रहा हूं।

वर्तमान युग की स्थिति :

आज के युग की कैसी स्थिति है?—यह हमसे छिपी नहीं है। हम इसी युग में सांस ले रहे हैं। फिर इस युग के स्पन्दन हमें क्यों न विदित होंगे? आज किसी भी क्षेत्र में (धार्मिक, सामाजिक, शासकीय, पारस्परिक व्यवहार आदि क्षेत्र में) सच्चारित्र की आस्था मर रही है। व्यक्ति के कुण्ठाग्रस्त होने का शोर है। सम्बन्धों की स्नेहिलता और निर्मलता समाप्त हो रही है। सैक्स के विषय में आधुनिक दृष्टिकोण ने नैतिकता, सामाजिकता, धार्मिकता आदि की धज्जियां उड़ाकर, समस्त मानवीय सम्बन्धों को धुन्धला कर दिया है। जो हीन है, तुच्छ है, निम्न स्तरीय भाव है—उसमें यथार्थ की प्रतीति के कारण मानव आदर्श की उच्चता खो बैठा है। यान्त्रिकता और भौतिकता-प्रधान संस्कृति ने युग-मानस में शतशः ग्रन्थियों को उत्पन्न कर दिया है। आजकी रुचियां भी कितनी विचित्र हैं? भोग-भावना ने रुचियों को कितना मलिन बना दिया है? मानव-हृदय अहंकार-युक्त महत्वाकांक्षा का सिंहासन बना हुआ है। सुख के विपुल साधन जुड़ रहे हैं, फिर भी दुःख पीछा नहीं छोड़ रहा है। वैज्ञानिक अन्वेषणों की निरन्तर प्रगति होते हुए भी आजका युग-बोध कितने संकुचित क्षेत्र में चक्कर काट रहा है? विशाल जनसमूह में रहते हुए भी मानव अकेलेपन के अहसास से संत्रस्त है। भीतरी टूटन, घुटन और ऊब से कितना पीड़ित है—आज का मानव? वस्तुतः अनास्था, असन्तोष और अशान्ति ही आज के युग में व्याप्त है।

यह युग चित्रण प्रायः आज के मनीषियों के शब्दों में ही किया गया है। परन्तु मेरी समझ में कर्मयुग में जब-जब सभ्यता भोग-प्रधान हो उठती है और संस्कृति बहिर्मुख-मात्र जड़ता और वैषयिकता को प्रश्रय देने वाली—हो उठती है, तब-तब ये समस्यायें विशेष रूप से उभरती आई हैं अथवा कर्मयुग की कुछ ऐसी ही विशेषता है, कि थोड़े बहुत अन्तर से, उसमें प्रत्येक काल में आत्मगत दबी हुई विकृतियां मुखर होकर, इस प्रकार की समस्याओं को जन्म देती आई हैं—भले ही उनका बाहरी जामा भिन्न हो। मुझे लगता है, कि—कर्मयुग की हृदय को झकझोर देने वाली इस विशेषता के कारण ही, कर्मयुग के प्रवर्तक युगादिदेव भगवान् ऋषभदेव ने, कर्मयुग के प्रारम्भ काल में ही, उन आन्तरिक समस्याओं का हल करने वाले उपाय के रूप में, धर्म का उपदेश दिया होगा। अर्थात् कर्म-युग के साथ यह विडंबना जुड़ी हुई है। अतः साधना-पथ के पथिकों के लिए ये समस्याएं नई नहीं हैं। क्योंकि आत्मसाधक अनास्था आदि अन्तर-ग्रन्थियों को भेदकर ही साधना-मार्ग में आगे बढ़ सकता है।

जीव तुच्छ ग्रन्थियों से ग्रस्त :

भगवान् महावीर ने समस्त जीवों के त्रैकालिक अन्तरंग परिणामों को स्पष्ट रूप से देखा। भगवान् के तत्व दर्शन के अनुसार, जीव मात्र अनादि काल से असंस्कृत है।[1] अतः अपने आप में परमात्म-स्वरूप की सत्ता लिए हुए भी तुच्छ ग्रन्थियों से ग्रस्त है। आत्मगत संस्कार विहीनता के कारण जीव बन्धन में पड़ा हुआ है।[2] भगवान् ने जीव की इन भाव-ग्रन्थियों का विभिन्न रूप में विभिन्न शैलियों में निरूपण किया है। आचार्यों ने भगवान् के आशयानुसार ग्रन्थियों के चौदह प्रकारों का संकलन किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यातत्व (=मिथ्या श्रद्धा, अनास्था), (२) क्रोध (=उत्तप्त भावावेग), (३) मान (=घमण्ड, तनाव से युक्त भावावेग), (४) माया (=छल-कपट, दुराव-छिपाव, वक्रता), (५) लोभ (=लालच, लालसा, वस्तुओं से चिपटने की भाव विकृति), (६) हास (=हंसी, मज़ाक, कौतुकवृत्ति आदि), (७) रति (=वैकारिक भावों या कार्यों आदि में रुचि), (८) अरति (=ऊब, उकताहट, संयम में अरुचि), (९) भय, (१०) शोक (चिन्ता), (११) जुगुप्सा (=घृणा, सूग), (१२) स्त्रीवेद (=पुरुष से रमण की इच्छा), (११) पुरुषवेद (=स्त्री से रमण की इच्छा) और (१४) नपुंसकवेद (=स्त्री-पुरुष दोनों से रमण की इच्छा)।[3]

इन आभ्यन्तर ग्रन्थियों में आजकल की समस्त आन्तरिक उलझनों का प्रायः समावेश हो जाता है। इन ग्रन्थियों के वाह्य निमित्त के रूप में क्षेत्र (=खुली जमीन), वास्तु (=मकान आदि शिल्प से ढंकी हुई भूमि), हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि परिग्रह हैं अर्थात् इनकी आत्मिक पकड़ से—चाह से भीतरी उलझनों की वृद्धि होती है। इन आभ्यन्तर ग्रन्थियों को आभ्यन्तर ग्रन्थ या परिग्रह और इनके वाह्य निमित्त क्षेत्रादि को वाह्य ग्रन्थ या परिग्रह भी कहा गया है।

इन समस्त उलझनों के मूल कारण (=क्षेत्रादि के समग्र रूप से आत्मा के पकड़ रूप भाव) दो प्रकार के हैं—(१) राग बंधन (=पदार्थों में रुचि रूप आत्मिक उलझन) और (२) द्वेष वन्धन (=पदार्थों में अरुचि रूप आत्मिक उलझन)।[4] इन कारणों की विशेष स्थितियों और स्तर की अपेक्षा से इनका वन्ध के पांच हेतुओं (=आस्रव) के रूप में उल्लेख हुआ है। यथा—(१) मिथ्यात्व (=सत्तत्वों में अनास्था, अप्रतीति, अरुचि और असत्तत्वों में आस्था, प्रतीति और रुचि), (२) अविरति (=आत्म-मलिनता के हेतुओं से विरत नहीं होना—लगाव नहीं खींचना और उन्हीं में संलग्न रहना तथा

---

१. असंखयं जीवियं—उत्तर० ४।१.

२. अज्झज्झहेउं निययस्स वंधो—उत्तर० १४।१९.

३. मिच्छत्तं वैयतिगं हासाइछक्कगं च नायव्वं।
कौहाईणं चउक्कं चउदस अब्भिंतरोगंठो॥ —रत्नसंचय, गा० ३४९।

४. आवस्सय, पडिक्कमणादण्डग। —उत्तर० ३२।७।

आत्मशुद्धि के हेतुओं से लगाव नहीं होना, सत्संकल्प की हीनता), (३) प्रमाद (=आत्म-मलिनता के हेतुओं से असावधान रहना, वैषयिक प्रवृत्ति आदि), (४) कषाय (=आवेशों के वशीभूत होना) और (५) योग (=मन, वचन और काया की क्रिया पर नियन्त्रण नहीं रखना या क्रिया को नहीं रोकना और क्रिया का विस्तार करना)।[1]

यदि हम गहराई से विचार करें तो हमें विदित होगा कि प्रायः आधुनिकतम मानव आज इन पांचों कारणों के पुनः पुनः सेवन में ही जीवन की यथार्थता, सार्थकता, कृतार्थता और प्रगतिशीलता समझता है।

ग्रन्थियों से मुक्त होने की प्रक्रिया :

यह भगवान् महावीर देव की वाणी के माध्यम से आज के युग की विकृतियों का निदान और विकृतियों के कारणों का विश्लेषण हुआ। अब विकृतियों और विकृतियों के कारण निवारण करने के उपायों के विषय में विचार करना है। वस्तुतः विकृतियों के कारणों का अभाव होने पर विकृतियां स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। अतः विकृतियों के कारणों को हटाने के उपायों का विचार करना योग्य है।

मिथ्यात्व (=अतत्व में राग और तत्व में द्वेष) से आस्था, प्रतीति और रुचि में विकृति पैदा होती है। अतः आस्था आदि की शुद्धि के विषय में विचार किया जाता है।

आस्था की दृढ़ता :

भगवान् महावीर ने जीवन की निर्मलता के लिए समझ की शुद्धि और बुद्धि की स्थिरता को प्राथमिकता दी है। भगवान् अपने उपदेशों में पहले इसी बात की प्रेरणा देते और क्रम से उनके उपायों का प्रतिपादन करते थे। उस प्रेरणा और उपायों की पद्धति को 'अस्तित्ववाद' कहा जा सकता है। हम उस पद्धति का आज परिवेश में विचार करते हैं—

(अ) **लोक-अस्तित्व**—लोक और अलोक के अस्तित्व के विषय में अतीत में भी अनेक विभ्रम रहे हैं और आज भी हैं। लोक-सत्ता को स्वीकार नहीं करने पर मिथ्या भाव की ग्रन्थि पड़ जाती है और मिथ्या भाव समस्त विकृतियों का मूल कारण है। अतः उस मिथ्याभाव के निवारण के लिए, लोक-अलोक के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए। भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'अत्थि लोए, अत्थि अलोए' अर्थात् लोक है और अलोक भी है।[2]

भगवान् ने जिस रूप में लोक-स्वरूप का वर्णन किया है और जिन तत्वों का निरूपण किया है, उससे आधुनिक विज्ञान भी सम्मत होता जा रहा है। भगवान् ने षड्द्रव्यात्मक लोक और आकाश मात्र अलोक का वर्णन किया है।[3]

---

१. तत्वार्थ सूत्र ८।१, ठाण ५।
२. उववाइय सुत्त ३४।
३. भगवई २।१०।

(आ) **जीवाजीव-अस्तित्व**—वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार से, आज कई जन जीव के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और कई तथाकथित शुद्ध दार्शनिक अजीव का अस्तित्व नहीं मानते हैं। परन्तु भगवान् के तत्व दर्शन के अनुसार, जीवाजीव के अस्तित्व को नहीं मानने से अनास्था का स्वर मुखर होता है और अहिंसा, सत्य आदि की जीवन में अनावश्यकता और विषय-भोगों की सारता प्रतीत होती है। फिर मनुष्य आपा-धापी में डूब जाता है। अतः भगवान् ने इन भावनाओं के प्रतिकार के लिए कहा है—'जीव हैं और अजीव हैं।'[1] जीव और अजीव के अस्तित्व को मानकर ही अनास्था को निर्मूल किया जा सकता है। जीव-अजीव के अस्तित्व की श्रद्धा से ही सच्चे आत्मविश्वास का जन्म होता है और आत्म-विकास में रुचि उत्पन्न होती है।

(इ) **आत्म-हीनता और उच्चता का अस्तित्व**—आत्मा में मलिनता भी है और उच्चता भी। आत्मा हीन प्रवृत्ति भी है और उच्च प्रवृत्ति भी। आत्मा बद्ध भी है और मुक्त भी हो सकती है। आज बंध, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि को निरी कल्पना ही कहा और माना जाने लगा है। जो अपने आपको दर्शनशास्त्र-वेत्ता मानते हैं, वे भी दर्शन के तत्वों के इतिहास लिखने के बहाने इन तत्वों को किन्हीं कल्पनाओं से प्रसूत या विकसित हुआ बतलाते हैं। परन्तु ऐसा मानने से अनास्था की ही वृद्धि होती है। इन तत्वों को नकारने से—बंध, मोक्ष, पुण्य, पाप, निर्जरादि तत्वों की अनास्था से—सामाजिक या नैतिक अपराधों की सृष्टि होती है और आत्मा पतन के गर्त में गिर पड़ती है। इसी लिए भगवान् ने कहा है—'बन्ध (=जीव और पुद्गल का नीर-क्षीरवत् सम्बन्ध) है, मोक्ष (=समस्त कर्मों से रहित शुद्ध व चैतन्य अवस्था) है, पुण्य है, पाप है, आस्रव (=आत्मा में कर्म के प्रवेश द्वार रूप भाव) है, संवर (=आत्मा में प्रविष्ट होने वाले कर्मों को रोकने वाले आत्म-परिणाम) है, वेदना (=कर्म फल का भोग) है और निर्जरा (=कर्मों को आत्मा से दूर करने वाले आत्मपरिणाम) है।[2]

वस्तुतः इन तत्वों के प्रतिपादन से भगवान् ने आत्मा के बद्ध और मुक्त स्वरूप का, सांसारिक सुख-दुःख के हेतुओं का, आत्मा में सुख-दुःख के हेतु रूप कर्मों के प्रवेश के कारणों का, उनको रोकने के उपायों का, कर्मों के भोगने का और कर्मों के क्षय करने के उपायों का वर्णन करके, आत्मा का साधना के योग्य समस्त परिचय दे दिया है, जिससे मनुष्य की अपने विषय में जानने की जिज्ञासा आज भी तृप्त हो सकती है।

(ई) **मानव-विकास के स्तर**—आज मानव की शक्तियों और उसके विकास के स्तर एवं स्वरूप को, यथार्थता के नाम पर बहुत ही बौना करके देखा जाता है। अपने स्वरूप को हीन रूप में देखने से मानव में उदात्त भावों के उत्कर्ष का अभाव हो जाता है और जीवन में नीरसता आ जाती है, जो ऊब और कुण्ठा के रूप में व्यक्त होती है। भगवान् महावीर ने मानव-मन की हीनता का प्रक्षालन करने के लिए, उसके बाह्य-आभ्यन्तर विकास के सर्वोच्च शिखर रूप व्यक्तियों को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर, उनके

1. उववाइय सुत्त ३४। २. उववाइय सुत्त ३४।

स्वरूप का निरूपण करने से पूर्व कहा—'अरिहंत हैं, चक्रवर्ती हैं, वलदेव हैं, वासुदेव हैं।'[1] सर्वोच्च लोकोत्तर पुरुष अर्हत् और सर्वोच्च लौकिक पुरुष चक्रवर्ती, वलदेव और वसुदेव का अस्तित्व मानने पर सत्कर्मों की सफलता विदित होती है और मानव के भव्य तथा उच्च स्वरूप में आस्था होने से जीवन में उत्साह और शुभ कार्यों में विशेष भाव उत्पन्न होता है।

(उ) परलोक – अस्तित्व—परलोक के अस्तित्व के विषय में अतीत में भी चार्वाक दर्शन से प्रेरित व्यक्ति शंकाशील रहे हैं। आज भी कई मनीषी परलोक के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। सामान्य जीवों में भी इस विषय में अपना विशिष्ट निर्णय नहीं होता है। परलोक में अनास्था से अनेक प्रश्नों का सही समाधान नहीं हो सकता है और शुभ भावना में गहराई नहीं आ सकती है। भगवान् ने जो देखा उसे स्पष्ट रूप से यों कहा—'नरक हैं, नैरयिक हैं, तिर्यन्च हैं, तिर्यन्चनियां हैं,·······देव हैं, देवलोक हैं।'[2] अर्थात् मनुष्येत्तर जीवों का अस्तित्व है और उनके निवास-स्थान भी हैं। एक-दूसरी योनि में जीवों का जन्म भी होता है।

(ऊ) सम्बन्ध-अस्तित्व—जब उपदेशक सम्बन्धों को माया जाल, सपने की माया मिथ्या आदि कहते हैं, तब उनका उद्देश्य सम्बन्धों के अस्तित्व का निषेध करने का नहीं होता है। यदि सचमुच में व्यवहार-दृष्टि से भी सम्बन्धों के अस्तित्व की धज्जियां उड़ादी जाती हैं। तो कई व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। फ्रायड के सैक्स विश्लेषण को आज की चेतना ने गलत रूप में लिया है, जिससे माता, पिता, भाई, वहिन, पति, पत्नी आदि के सम्बन्धों का पवित्रांश विनष्ट-सा हो रहा है। आज का सभ्य मानव ऐसी स्थिति में पहुंचता हुआ प्रतीत हो रहा है कि जहां सैक्स के नर-नारी रूप दो केन्द्रों को छोड़कर सभी सम्बन्ध विलुप्त हो जाते हैं। परन्तु सम्बन्धों की भावना कल्पना में होते हुए भी—'उनका अस्तित्व विलकुल नहीं है,' यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उन सम्बन्धों की भावना का भी कुछ न कुछ वाह्य आधार है ही और भावनाओं का अस्तित्व भी तो अस्तित्व ही है न ! अतः जो है, उसका उस काल में अस्तित्व नहीं मानने से अनेकानेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। आज माता-पिता को उजड्डता से ऐसे कहते हुए पुत्र मिल जायेंगे कि 'आपने हमें जन्म देकर, हमारे लिए क्या उपकार किया ? आपने अपने जीवन का आनन्द लेना चाहा और वीच में अनिवार्य रूप से हम आ टपके'। परन्तु इन सम्बन्धों के निर्मलता के अंश की कई दृष्टियों से रक्षा करना योग्य है। अतः भगवान् ने कहा है 'माता है, पिता है·······'[2] नैतिकता की सुदृढ़ता के लिए सम्बन्ध मान्य होने चाहिये।

मुनि – अस्तित्व—आज त्याग के प्रति अरुचि पैदा होती जा रही है और मनुष्यों के एक वर्ग में त्याग को प्रदर्शन, ढोंग आदि समझने-समझाने की वृत्ति पैदा हो रही है। आधुनिक शिक्षा और सुख-सुविधा के साधनों की वहुलता ने मनुष्य की कष्ट-सहिष्णुता

---

१. उववाइय सुत्त ३४।

२. वही।

को नष्ट कर दिया है। अतः आधुनिक शिक्षित मानस, नूतन शृंगार-सज्जा में लिप्त मानस, वीतराग प्रभु के द्वारा उपदिष्ट परम त्याग से मण्डित मुनित्व के लिए—परम वैराग्य बीज के लिए, अनुर्वर बंजर भूमि-सा हो गया है। दूसरी ओर मानव का अभिमानी मन अपनी दुर्बलता को स्वीकार करना भी नहीं चाहता है। ऐसी मनोवृत्ति से साधुत्व के प्रति ही अविश्वास होने लगता है। वह कहता है—'कोई साधु हो ही नहीं सकता,' "साधुबाबाओं का युग लद गया,' 'साधुत्व जीवन से पलायन हैं,' 'विज्ञान के युग में साधु बनना वृथा है,' 'साधुता तो मन में होनी चाहिए,' "साधु का बाना लेना ढोंग है,' आदि। इस प्रकार मुनित्व-निषेध का स्वर दिन-प्रतिदिन मुखर होता जा रहा है। यह सत्य है, कि मुनित्व के नाम पर ढोंग भी चलता है। परन्तु सच्चे साधु हैं ही नहीं ऐसा नहीं है और मुनियों का न होना संघ, समाज या व्यक्ति किसी के भी लिए हितकर नहीं है। मुनि के अस्तित्व को मिटाने से सत्य-साधकों की परम्परा और उदात्त भावों के संरक्षक नष्ट हो जाते हैं और मुनीत्व को नकारने से व्यक्ति सत्य दर्शन की साधना की उपलब्धि से वंचित हो जाता है। अतः भगवान् ने कहा—'ऋषि हैं....'[1] सत्य के साधक और दृष्टा मुनियों का अस्तित्व मानकर ही उनसे लाभान्वित हो सकता है।

(ए) शुद्ध चैतन्य – अस्तित्व—परमात्मा-सत्ता से इंकार करना भी आज की एक विशेषता है। वस्तुतः जीवन के चरम और परम लक्ष्य के विषय में, जन सामान्य न तो कुछ विचार ही करता है, न निर्णय ही लेता है और न कुछ विश्वासी ही है। परन्तु परमात्म-सत्ता से इंकार करने से और उसे अपने चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार न करने से शुद्ध चारित्र्य भी निष्फल हो जाता है। भगवान् महावीर ने मानव मन की इस विवेक-शून्यता को दूर करने के लिए कहा—'सिद्धि है, सिद्ध है, परिनिर्वाण है, परिनिवृत्ति है....'[2] समस्त ज्ञान-विज्ञान और चारित्र की व्यवस्थित सिद्धि के लिए शुद्ध चैतन्य में आस्था आवश्यक है।

(ऐ) धर्म – अधर्म – अस्तित्व—जितनी निम्नतम वृत्तियां यथार्थ हैं, उतनी ही उच्चतम वृत्तियां भी यथार्थ हैं। एक को यथार्थ मानकर, दूसरी को अयथार्थ मानना योग्य नहीं है। अशुभ को – अशिव को यथार्थ मानकर, उसका अस्तित्व जीवन में स्वीकार करना और शुभ को – शिव को अयथार्थ मानकर जीवन में उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करना, चिर काल–स्थायी दुःख को आमंत्रण देना और जीवन में भाव-वैभव के प्रकट होने के मार्ग को अवरुद्ध करना है। अशुभ को अशुभरूप में और शुभ को शुभ रूप में मानने पर ही अशुभ से निवृत्त होकर, शुभ में प्रवृत्त होने की इच्छा होती है। भगवान् ने इस तथ्य को उजागर करने के लिए कहा है—'प्राणातिपातहै, मृषावाद है, अदत्तादान है, मैथुन है, परिग्रह है, क्रोध है ...मिथ्यादर्शन – शल्य है और प्राणातिपात विरमण है, मृषावाद विरमण है....क्रोध विवेक है.... मिथ्या दर्शन शल्य-विवेक है।'[3]

---

१. उववाइय० ३४।

२. वही।

३. वही।

आस्था को जमाने के विषय में ये मुख्य मुद्दे हैं। भगवान् विविध युक्तियों से 'अस्तित्ववाद' का प्रतिपादन करके, व्यक्तियों के श्रद्धा गुण को परिष्कृत करते थे — आस्था को दृढ़ करते थे।

भगवान् के 'अस्तित्ववाद' के प्रतिपादन से यह निष्कर्ष निकलता है, कि—जो है, उसे 'है' और जो नहीं है, उसे 'नहीं है' ही मानना चाहिए। जो है, उसे 'नहीं है' और जो नहीं है, उसे 'है' मानने से आस्था विकृत होती है। मिथ्या आस्था से मिथ्याज्ञान और चारित्र-हीनता का ही उद्भव होता है, सम्यग् ज्ञान और चारित्र-शीलता का नहीं।

इन्द्रभूति गौतम गणधर ने भगवान् महावीर का उद्घोष, अन्य तैर्थिकों को इस प्रकार सुनाया—'हम जो है उसे 'नहीं है' नहीं कहते हैं और जो नहीं है उसे 'है' नहीं कहते हैं। सर्व अस्ति भाव को 'अस्ति' कहते हैं और सर्व नास्तिभाव को 'नास्ति' कहते हैं।'[1]

यह है भगवान का 'यथास्थित वस्तुवादी दर्शन'।

प्रतीति का परिष्कार :

तर्क-शुद्ध स्थिर बुद्धि को प्रतीति कहते हैं। जब तर्क सीमा का अतिक्रमण करने लगता है, तब वह अशुद्ध हो जाता है और प्रतीति में भी मालिन्य उत्पन्न कर देता है। भ्रम या विभ्रम भी प्रतीति का ही मलिन रूप है। प्रतीति के आत्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि स्तर पर कई मलिन अवस्थाएं होती हैं। प्रतीति की अशुद्धि ही विग्रह, कदाग्रह आदि का मूल है। भगवान् ने तर्क और प्रतीति के परिष्कार के लिए निक्षेप, नयवाद, प्रमाणवाद, स्याद्वाद, कर्मवाद आदि का प्रतिपादन किया है। नय, निक्षेप आदि का तर्क से साक्षात् सम्बन्ध है और भाव-प्रतीति का साक्षात् सम्बन्ध कर्मवाद से है।

आज मनुष्य को दया, सत्य, अचौर्य, न्याय, नीति आदि शुभ भावों का विपन्नता. असम्मान. दुःख, हीनता आदि अशुभ फल दिखाई देते हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, अन्याय, अनीति, क्रूरता, तिकड़मबाजी आदि अशुभ भावों का सम्पन्नता, सत्ताधीशता, सम्मान, सुख आदि शुभ फल दिखाई देते हैं और वे यह मानते हैं कि—हमारी पीड़ा. दुख, दैन्य, शोषण, हीनता आदि का कारण जातिवाद, सामाजिक-विषमता, शासन आदि परजन हैं। बुद्धि की संकुचितता से, अल्पकालीन बोध को सम्पूर्ण कालबोध मान लेने से और निमित्तों को ही प्रधान मान लेने से तथा कर्मवाद का सही ज्ञान न होने से ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है। इस विकृति के परिमार्जन के लिए, भगवान् ने कर्मवाद और आत्म-कर्तृत्ववाद का प्रतिपादन किया है।

कर्मवाद का साररूप और नैतिकता की नींव रूप इस प्रतीति को दृढ बनाओ। 'शुभ भावों से किये गये शुभकर्म, शुभ फल-प्रदाता होते हैं और अशुभ भावों से किये गये अशुभ कर्म अशुभ फल प्रदाता होते हैं।'[2] कर्म का कर्ता आत्मा ही है। इस विषय में भगवान् महावीर का उद्घोष है।

१. भगवई ७/१०।
२. उववाइय ३४।

अपने सुख-दुःख का उत्तरदायित्व अपनी आत्मा पर ही है और अपनी परिस्थितियों का निर्माता अपनी आत्मा ही है[1] अन्य नहीं।[2]

ऐसी भावनाओं का अभ्यास, जो कि धारणा रूप में बन चुका हो, प्रतीति का परिष्कार करता है और उदात्त भावों एवं प्रशस्त वृत्तियों में स्थिर रहने का बल प्रदान करता है।

कर्मवाद और आत्मकर्तृत्व के विषय में अनेक युक्तियों-प्रयुक्तियों और तर्क-वितर्कों का आगमों तथा प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन है।

रुचि का संशोधन :

सामान्य जीव की यही धारणा होती है कि परिग्रह और विषय-सेवन ही सुख का स्रोत है। अतः उसकी रुचि भी अनादि कालीन अभ्यास से अनायास ही परिग्रह-संचय और विषयों की ओर बढ़ती रहती है। आज का वातावरण भी परिग्रह और वैषयिकता प्रधान है। इस कारण रुचि अत्यन्त विकृत हो गई है। विकृत रुचि के कारण धन-दौलत को ही सर्वस्व मानकर उस पर अपना ही एकाधिपत्य जगाने की वृत्ति, विषयों के सेवन की तीव्र इच्छा, बिना श्रम किए उत्कृष्ट सुख-भोग की आकांक्षा, दूसरों के श्रम के फल को हड़प लेने की वृत्ति, आराम-तलबी, आवेश युक्त शृंगार वृत्ति और देहाभिमान से युक्त भावना पैदा होती है। रागादि हेय भावों में उपादेयता की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

भगवान् ने रुचि के संशोधन के लिए निम्नलिखित भावों के अभ्यास का उल्लेख किया है—

(अ) रागादि की हेयता के लिये भावाभ्यास—'वही सत्य है, शंका से रहित है, जिसे राग-द्वेष से रहित आत्माओं ने जाना, देखा, अनुभव किया और कहा है।'[3]

(आ) आत्मशुद्धि के उपायों मे उपादेयता की बुद्धि बनाने के लिये भावाभ्यास 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन (आत्म-ग्रन्थियों को भेदन करने के उपाय रूप वीतराग उपदेश) ही सत्य है, अनुत्तर है, केवलिक है, प्रतिपूर्ण है, नैयायिक मार्ग है, संशुद्ध है....सर्व दुःखों का अन्त करने वाला है।[4] यही अर्थ है, परमार्थ है, शेष अनर्थ है।'[5]

(इ) परिग्रह-वृत्ति, वैषयिक रुचि और मृत्यु भय का संक्षय करने के लिये तीन मनोरथों के अभ्यास का विधान है। यथा—

---

१. उत्तरज्झयण २०/३६:३७।
२. भगवई १७/४/६०१।
३. भगवई १/३/३७।
४ आवस्सय, भगवई ६/३३/३८३।
५. भगवई २/५/१०७।

(१) (परिग्रह हेय—छोड़ने योग्य है) कव मैं थोड़े-वहुत परिग्रह का परित्याग करूंगा ?

(२) कव मैं दस प्रकार के मुण्डन (पांचों इन्द्रियों के विषयों का परित्याग, क्रोध आदि चार कषायों के वाह्य कारणों को त्यागना और शृंगार के सिरमौर केशों का निवारण) से मुण्डित होकर, घर त्याग कर अनगार वनूंगा ?

(३) कव मैं वाह्य-आभ्यन्तर तप के द्वारा काया और कषायों को कृश करके मरण के समय की अन्तिम क्रियाओं को करके, भात-पानी का प्रत्याख्यान करके और जीवन मरण की इच्छा से मुक्त होकर विचरण करूंगा ?[1]

दृढ़ आस्था, परिष्कृत प्रतीति और संशोधित रुचि ही शुद्ध लक्ष्य की ओर प्रेरित कर सकती है। यह पहले वन्ध हेतु मिथ्यात्व के उन्मूलन की वात हुई।

असत्कार्यों से विरति :

दूसरा वन्ध हेतु है—अविरति (आत्म मलिनता के कारणों से लगाव-सलग्नता) पहले वन्ध हेतु का अभाव हो जाने पर दूसरा वन्ध हेतु अपनी सवलता खो देता है। अव दूसरे वन्ध हेतु के त्याग के विषय में विचार करना है।

शिक्षा का एक कार्य है—मनुष्यों के सत्संकल्पों की शक्ति की वृद्धि करना, परन्तु आज की शिक्षा-पद्धति में ऐसी क्षमता नहीं है। आज की शिक्षा संकल्पवल को हीन करने और मनोवल को क्षीण करने में ही हिस्सा वंटा रही है। साधारण मनुष्यो का संकल्प वल दुर्वल होता है। दूसरी बात मनुष्य असत्कार्यो से विरत न होकर, उसके सम्मान और फल का भागी वनना चाहता है अतः वह द्विमुखी जीवन जीने लग जाता है, जिसे आज की भाषा में 'आदर्श के मुखौटे लगाना' कह सकते हैं। ऐसे द्विमुखी (वाहर कुछ और, तथा भीतर कुछ और) जीवन में संकल्प की दुर्वलता ही प्रमुख कारण है और दूसरा कारण है—यश मोह।

इस अविरति के कारण ही युद्ध की ज्वालायें धधक उठती हैं, गृह-कलह फट पड़ता है, एक दूसरे को ठगा जाता है, हिंसा का ताण्डव-नृत्य होता है, एक दूसरे की हत्या होती है, माया-जाल वुने जाते हैं, सरगम की धुन में घृणा से संकुचित हो जाते हैं, गंध में मस्ती छा जाती है, या नथुने फूल जाते हैं, रस में रसना डूव जाती है और कोमल, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि स्पर्शों की माया में मन डूव जाता है। इस अविरति को संकल्प वल से ही जीता जा सकता है।

संकल्प हीनता को नष्ट करने के लिए भगवान् ने विरति (हिंसादि के प्रत्याख्यान) का मार्ग सुझाया। विरति के दो रूप हैं—देशतः और सर्वतः। देशतः विरति में अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का विधान है और सर्वतः विरति में महाव्रतों का।[2] अणुव्रतों

---

१. ठाणं ३।

२. उववाइय ०३४।

से हिंसा, युद्ध, असत्य, ठगाई, चोरी आदि से सम्बन्धित जगत् की कई समस्याएं हल हो सकती हैं। अतः अपनी-अपनी शक्त्यनुसार, गुरु-चरण में, आत्म-साक्षी-पूर्वक विरति की प्रतिज्ञा स्वीकार करके, उसे दृढ़ता से पालन करने से ही दूसरे बन्ध हेतु को निर्मूल किया जा सकता है।

यह भगवान् का यथाशक्ति उद्यम का मार्ग है।

असावधानी का परित्याग :

तीसरा बन्ध हेतु प्रमाद है। वस्तुतः प्रमाद ही हिंसा है। आज की भौतिक सभ्यता की प्रमाद एक प्रमुख देन है। प्रमाद (असावधानी) से चारों ओर भय ही भय है। अप्रमादी ही निर्भय हो सकता है।[1] असावधानी के पांच कारण हैं—(१) नशा (२) ऐन्द्रियक लोलुपता (३) आवेश (४) निद्रा-तन्द्रा और (५) विकृत (आत्मा को विकार की ओर ले जाने वाला) वार्तालाप।[2] इन पांचों कारणों की आज विपुलता दिखाई देती है। भगवान् ने प्रमाद के परित्याग के लिये अप्रमत्तता की प्राप्ति के लिए इन पांचों कारणों के परित्याग पर बल दिया है। अप्रमत्त जीव ही त्रिरत्न की रक्षा कर सकता है।

कषाय-परित्याग :

कषाय (आवेश) चौथा बन्ध हेतु है। कषाय ही संसार है। कषाय से ही विषमता पैदा होती है और विषमता में जीव जी रहा है।

कषाय को भगवान् ने अध्यात्म हेतु[3] या अध्यात्मदोष[4] कहा है। ये अध्यात्मदोष चार हैं—क्रोध, मान, माया (छल-कपट) और लोभ। इन चारों से आत्म-मालिन्य की वृद्धि होती है।[5] ये दोष क्रमशः प्रीति, विनय, मैत्री और समस्त प्रशस्त भावों के विनाशक हैं।[6] आज हम सुनते हैं कि मानव क्षणिक आवेश में प्रिय से प्रियजन की हत्या कर डालता है, पूज्यजनों के प्रति उद्दण्ड व्यवहार करता है, यश आदि के लिये छल भरे अनेक मायाजाल रचता है और लोभ में वह क्या-क्या अनर्थ नहीं करता है? इन सबके मूल में आवेश ही है।

इनको क्षय कर देना ही मुक्ति है।[7] भगवान् ने कषायमुक्ति के विविध उपाय

---

१. आयारंग।
२. मज्जं विसय-कसाया, निद्दा विगहा पंचमी भणिया।
   एए पंच पमाया, जीवा पाडेंति संसारे॥
३. उत्तर० १४/१९।
४. सूयगड ६/२७।
५. दसवेयालिय ८/३७/३८।
६. दसवेयालिय ८/३७:३८।
७. कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव।

बताये हैं। सावद्य-योग (पापक्रिया) का त्याग करना इनके त्याग की सहायक क्रिया है।[१] कषाय प्रतिसलीनता इनके संक्षय का दूसरा उपाय है।[२] भगवान् ने इन्हें जीतने के लिये क्रमशः उपशम, मृदुता, ऋजुता और संतोष के अभ्यास रूप उपाय भी बताये हैं।[३]

यह भगवान् का 'समत्व-योग' है।

योग-संयम :

चौथा बन्ध हेतु है—योग। मन, वचन और काया की क्रिया को योग कहते हैं।[४] योग अनियन्त्रण जीव के लिये दुःखद है। यह योग ही आत्मा में कर्म के प्रवेश का प्रमुख द्वार है। आज योग-असंयम की वृद्धि के अनेक साधन हैं।

योग-संयम के भगवान् ने अनेक स्तर बताये हैं। करण और योग के संयोग से त्याग के अनेक विकल्प (भंग) बनते हैं।[५] योग-संयम के लिए प्रमुख रूप से सावद्य योग के त्यागपूर्वक समिति (शुभ क्रिया के अभ्यास) और गुप्तियों (अशुभ क्रिया तथा समस्त क्रिया के निरोध) का विधान किया है।[६]

इसके सिवाय पांच गतियों के चार-चार कारण[७] भावना-योग,[८] विशिष्ट ध्यान-विधान[९] षट्-आवश्यक क्रियाएं[१०] आदि बातें प्रत्येक युग में उपयोगी हैं।

पत्र लम्बा हो गया है। जानबूझकर, अधिकांश विचार वैयक्तिक स्तर पर ही किया गया है, विश्व-समस्याओं के स्तर पर नहीं। तुमने विश्व की समस्याओं के समाधान के स्तर पर, भगवान् महावीर के अपरिग्रह, अहिंसा, अनेकान्त सिद्धान्तों की चर्चा काफी सुन रखी होगी। मेरी दृष्टि में, प्रत्येक बात को विश्व के स्तर पर सोचने पर, व्यक्ति की साधनात्मक दृष्टि अदृश्य हो जाती है। वह सारे विश्व को, जीवों की वैयक्तिक पृथक् सत्ता को नजरअंदाज करके, अपनी कल्पना के रंग में रंगना चाहता है। यह अहंकार के सिवाय और कुछ नहीं है। विश्व की समस्याओं के समाधान से व्यक्ति पहले अपने आपको ही सुधार ले तो अच्छा है। अस्तु।

आशा है, इस पत्र से तुम्हारी जिज्ञासा सन्तुष्ट होगी। यदि तुम्हें अच्छा लगे तो इस पत्र का चिन्तन-मनन करना नहीं तो मुझे कहना न होगा, रद्दी की टोकरी तुम्हारे पास पड़ी ही होगी। तुम्हारा समाधान हो या न हो, पर मेरा चित्त इतने समय तक शुभ उपयोग में रहा, यह मेरे लिए परम लाभ ही हुआ।

सभी परिचितों को यथायोग्य

तुम्हारे अग्रज सुमति का आशीर्वाद। ••••

---

१. सामायिक-सूत्र।
२. उववाइय।
३. दसवेयालिय ८/३९।
४. तत्वार्थ ६/१।
५. भगवई ८/५/३२८।
६. उत्तर २४/२६।
७. उववाइय ३४।
८. तत्वार्थ ७/६ व ९/७।
९. उववाइय, ठाण ४।
१०. आवस्सय, अणुयोगदार चउसरण।

३८

मनोविज्ञान के परिवेक्ष्य में भगवान् महावीर का तत्वज्ञान

• श्री कन्हैयालाल लोढा

अतीन्द्रिय ज्ञान : अनन्त ज्ञान :

भगवान महावीर अनंतज्ञानी थे। उस अनंतज्ञान का सार भगवान् ने नौ तत्व के रूप में व्यक्त किया। जिस प्रकार लाल, पीला व नीला इन तीन रंगों से असंख्य रंग; सा, रे, ग, म प, धा, नि इन सात स्वरों से असंख्य रागनियों का उद्‌भव होता है तथा गणित के नौ अंकों से अनंत संख्याओं का बोध होता है, परन्तु न तो कोई व्यक्ति असंख्य रंगों को बनाने में सक्षम है और न कोई असंख्य रागनियों को गाकर सुना सकता है तथा न कोई अनंत संख्याएं लिख या बोल सकता है। जीवन में केवल जिन रंगों, रागों एवं संस्थाओं का उपयोग संभव है, उनका ही विवेचन, लेखन व कथन में किया जाता है। जब ऐसा साधारण ज्ञान भी एक सीमा में ही प्रकट किया जा सकता है तब फिर भगवान तो विलक्षण अनंतज्ञान के धारी थे। कारण कि उनका ज्ञान उपर्युक्त इन्द्रिय जन्य न होने से धारण ज्ञान न था परन्तु आत्मिक शक्ति जन्य अतीन्द्रिय विलक्षण था। जब उपर्युक्त रंग, राग व अंकों का साधारण ज्ञान भी अपने अल्प अंश में ही प्रस्तुत हो सकता है तो अतीन्द्रिय अनंत का पूर्ण प्रस्तुत कैसे शक्य था? अतः भगवान् महावीर ने अपने अनंत ज्ञान में से केवल उसी ज्ञान को प्रस्तुत किया जिसका सीधा सम्बन्ध जीवन से था, जो जीवन के लिए उपयोगी व कल्याणकारी था।

अनन्त ज्ञान का विस्तार और नव तत्त्व :

जिस प्रकार अनंत संख्याओं का आधार नौ अंक है उसी प्रकार समस्त ज्ञान का आधार भी नौ तत्त्व हैं। जैसे अनंत संख्याएं नौ अंकों का ही विस्तार मात्र है उसी प्रकार अनत ज्ञान नौ तत्त्वों का ही विस्तार मात्र है। नव तत्त्व ही सर्व ज्ञान का सार व आधार है। भगवान् ने नौ तत्त्व कहे हैं—यथा—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध और (९) मोक्ष।

जीव-अजीव :

जिस प्रकार गणित के कम्प्यूटर में दो अंकों से ही सब अंक बनते है। टेलिग्राम प्रणाली में गर, गट इन दो शब्दों से ही सब शब्द बनते है इसी प्रकार जीव और अजीव दो मूल तत्त्व हैं। इन दो तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध रूप ही से शेष सब तत्त्व बनते है।

भगवान् महावीर ने जीव-अजीव इन दो मूल तत्त्वों या द्रव्यों को अनंत गुणों व शक्तियों का पुंज कहा है। वर्तमान भौतिक विज्ञान ने अजीव तत्त्व रूप पुद्गल व परमाणु की असीम शक्ति को प्रत्यक्ष प्रस्तुत कर दिया है। रेडियो, टेलिविजन, टेलीफोन, विद्युत्, अणुशक्ति केन्द्र आदि पौद्गलिक (भौतिक) शक्ति की ही देन हैं। इस प्रकार विज्ञान ने अजीव (भौतिक) पदार्थ में असीम विलक्षण शक्तियों को प्रत्यक्ष प्रभावित कर दिया है।

भौतिक पदार्थों से जीव (चेतन) अधिक शक्ति सम्पन्न है। जीव की विलक्षण शक्ति का पता इससे सहज ही लग जाता है कि वह भौतिक पदार्थों की शक्ति को अपने अधीन कर अपनी इच्छानुसार उसका उपयोग करने में समर्थ है। परामनोविज्ञान की नवीन खोजों ने आत्मा की आंतरिक जिन विलक्षण शक्तियों का उद्घाटन किया है वे संसार को चमत्कृत कर देने वाली हैं। आधुनिक परामनोविज्ञान का कथन है कि हमारे अंतस्तल मे वह शक्ति विद्यमान है जिससे वह भूत और भविष्यत काल की घटनाओं को वर्तमान के समान ही देख सकता है। समुद्र की गहराई एवं ग्रह-नक्षत्रों से अपना संपर्क स्थापित कर सकता है। वहां संदेश भेज सकता है, वहां भेजा संदेश ग्रहण कर सकता है दूर की घटनाओं का अवलोकन कर सकता है। दूसरे व्यक्ति के मन में चलने वाले विचारों को विना उसके कहे जान सकता है।[1]

बंध तत्त्व :

जीव का अजीव से संयोग हो जाना बंध है। बंध के रूप का विवेचन बंध तत्त्व में किया गया है। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य का चेतन मन फोटो-कैमरा के मुख के समान है। यह अनेक प्रकार के संस्कारो को ग्रहण करता है और इससे उनका अचेतन मन में संचय होता है। अचेतन मन उस अंधकार मय कोठरी में स्थित फोटोग्राफिक प्लेट के समान है जिसमें वाहरी पदार्थ के चित्र संचित होते रहते हैं। इसे ही साधारण भाषा में 'संस्कार पड़ना' कहा जाता है। प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति के अनुरूप उसके अंतस्तल में चित्र अंकित होते रहते हैं, जिन्हें स्मृति से कभी भी देखा जा सकता है। इन चित्रों या संस्कारों का अंतरमन में संचय होता रहता है जो भविष्य में उपयुक्त समय आने व अनुकूल निमित्त मिलने पर उदय होकर प्राणी को अपना परिणाम भोगने के लिए विवश करते हैं। वर्तमान परामनोविज्ञान ने प्रयोगों के आधार पर यहां तक सिद्ध कर दिया है कि हमारी प्रत्येक परिस्थिति का निर्माण पूर्व संचित संस्कारो या कार्यों के परिणाम स्वरूप होता है।

उपर्युक्त संस्कार-संरचना को जैन-दर्शन की भाषा में 'कर्म' कहा जा सकता है। जैन-दर्शन में कर्म को पुद्गल, अचेतन, भौतिक पदार्थ माना है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इसे भौतिक तत्त्व के रूप में मानता है। आधुनिक मनोविज्ञान विचार व विचारों की तरंगों को रूप, रंग, आकृति आदि से मुक्त तो मानता ही है साथ ही इन तरंगों को प्रेषण व ग्रहण क्रियाओं को भी स्वीकार करता है। विचारो से संदेश प्रेषण व ग्रहण विधि को

---

१. मनोवैज्ञानिक चिंतन, पृ० १०

'टेलिपेथी' कहा जाता है। रूस और अमेरिका इन दोनों ही देशों ने हजारों मील दूर सागर में निमग्न पनडुब्बी में बैठे व्यक्ति को एवं उपग्रह में जाते व्यक्तियों को टेलिपैथी से विचारों का संदेश भेजने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

कषाय रूप राग-द्वेष मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों से कर्म परमाणुओं-कार्मण-वर्गणाओं का खिचाव होता है और वे कर्म परमाणु के पुंज आभा से बंध जाते हैं। इसे कार्मण शरीर कहते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में इसे अचेतन मन का गुह्यतम स्तर भी कहा जा सकता है। यही कार्मण शरीर सब वासनाओं व कामनाओं का मूल स्रोत है अर्थात् सब वासनाएं व कामनाएं बीज रूप में कारण शरीर में विद्यमान रहती हैं। प्राणी या मनुष्य के शरीर, आकार, प्रकार, व्यवहार व स्वभाव में जो कुछ भी भिन्नता व भलापन-बुरापन, सुंदरता-कुरूपता आदि पायी जाती है उन सबका कारण कार्मण शरीर में स्थित विभिन्न प्रकार के बीज ही हैं। तात्पर्य यह है कि प्राणी का तन, मन व प्रत्येक परिस्थिति उसके कर्मो क परिणाम है।

आठ करण :

जैन दर्शन में कर्मबंध, उदय व फल भोग की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है। साथ ही पूर्व बंधे हुए कर्मों के परिवर्तन के विविध रूप व उपाय भी प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हें 'करण' कहा जाता है। करण आठ हैं, यथा—(१) बंधन करण, (२) निधत्त करण, (३) निकाचना करण, (४) उद्वर्तना करण, (५) अपवर्तना करण, (६) संक्रमण करण, (७) उदीरणा करण और (८) उपशमना करण।

(१) बंधन करण—प्रवृत्ति और राग-द्वेष भाव के कारण कर्म बंधना या संस्कार निर्माण का बीज पड़ना बंधन करण है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में ग्रंथि-निर्माण कहा जा सकता है।

(२) निधत्त करण—जैसे पहले बीज साधारण शक्ति वाला निर्बल हो, बीदकर नष्ट होने योग्य हो, परन्तु दवा आदि के प्रयोग से उसे सुरक्षित व दृढ़ शक्ति वाला बना लिया जाय इसी प्रकार पहले सामान्य या नीरस भाव से बांधते समय कर्म ढीले बंधे हों परन्तु फिर उनमें रुचि ली जाय, गर्व किया जाय, अच्छा समझा जाय तो वे बंधे हुए कर्म दृढ़ हो जाते हैं। कर्म बंध की इस क्रिया को निधत्ति करण कहते हैं।

(३) निकाचना करण—जिस प्रकार खेत में बोया हुआ बीज किसी कारण से ऐसी स्थिति में हो जाय कि उसकी फलदान की शक्ति में कोई भी अंतर न आवे इसी प्रकार पूर्व बंधे हुए कर्म में इतना गृद्ध हो जाय कि उसको अन्य प्रकार के भाव आवे ही नहीं, वह दृढ़तम बन जाय फिर उसके फलदान शक्ति में न्यूनाधिकता व परिवर्तन न आवे कर्मबंध की इस क्रिया को निकाचना करण कहते हैं।

(४) उद्वर्तना करण—जिस प्रकार खेत में बोये हुए बीज में अनुकूल खाद व जल मिलाने से वह पुष्ट होता है। उसकी आयु व सरस फल देने की शक्ति बढ़ जाती है इस

प्रकार पूर्व बंधे हुए कर्म के अनुकूल निमित्त मिलने से वह पुष्ट होता है जिससे उसकी स्थिति व रस देने की शक्ति बढ़ जाती है। इसे उद्वर्तना करण कहते हैं। अशुभ कर्मों का उद्वर्तन करण बुरा है और शुभ कर्मों का हितकर है। शुभ कर्मों की उद्वर्तना के उपाय हैं संत्सग में रहना, स्वाध्याय करना आदि और अशुभ कर्मों की उद्वर्तना के कारण हैं—कुत्सित, अश्लील साहित्य पढ़ना, दुर्जनों की संगति करना आदि।

(५) अपवर्तना करण—जिस प्रकार खेत में बोये हुए बीज में प्रतिकूल खाद व वातावरण के कारण वह क्षीण होता है। जिससे उसकी आयु घट जाती है और फल कम रस वाले आते हैं इसी प्रकार पूर्व में बंधे हुए कर्मों के प्रतिकूल प्रवृत्ति व भावना करने से वे क्षीण हो जाते हैं जिससे उनकी स्थिति व रस देने की शक्ति घट जाती है। इसे अपवर्तना करण कहते हैं। अशुभ कर्मों का अपवर्तना करण हितकर है।

(६) संक्रमण करण—जिस प्रकार वनस्पति विशेषज्ञ निम्न श्रेणी के बीज को उसी जाति के उच्च श्रेणी में परिवर्तित कर देते हैं। खट्टे फल देने वाले बीजों या वृक्षों को मीठे फल देने वाले बीजों या वृक्षों में बदल देते हैं। यह क्रिया संक्रमण क्रिया कही जाती है और ऐसे बीजों को जन साधारण की भाषा में संकर बीज कहते हैं जैसे संकर मक्का, संकर गेहूं, संकर बाजरा। इसी प्रकार पूर्व में बंधी कर्म प्रकृतियों का जिस कारण से उसी जाति की दूसरी प्रकृतियों में परिवर्तन हो जाता है, उसे संक्रमण करण कहा है। वर्तमान मनोविज्ञान में इसे मार्गान्तरी करण क्रिया कहा है। यह मार्गान्तरी करण या रूपान्तरण दो प्रकार का है :—

(१) अशुभ का शुभ में और (२) शुभ का अशुभ में। शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति में रूपान्तरण अहित कर है और अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में अर्थात् कुत्सित भावना का उदात्त भावना में रूपान्तरण हितकर है। इसे आधुनिक मनोविज्ञान ने उदात्तीकरण कहा है व इस पर विशेष प्रकाश डाला है। राग या कुत्सित काम भावना का संक्रमण या उदात्तीकरण अनुराग या भक्ति भावना से, मन को श्रेष्ठ कलाकृतियों, चित्रों या महाकाव्य के निर्माण में लगा देने से किया जा सकता है। वर्तमान में उदात्ती करण प्रक्रिया का प्रयोग उद्दंड, अनुशासनहीन, तोड़-फोड़ करने वाले तथा अपराधी छात्रों व व्यक्तियों को आज्ञाकारी, अनुशासन प्रिय, रचनात्मक कार्य करने वाले, एवं सभ्य नागरिक बनाने के लिए किया जाता है।

कुत्सित प्रकृति को सत्प्रकृति या सद्प्रवृत्ति में संक्रमण करने का उपाय है—पहले व्यक्ति के हृदय में विद्यमान इन्द्रिय-मन के क्षणिक सुखभोग की कामना-वासना को स्थायी अतीन्द्रिय सुख प्राप्ति की भावना में बदला जाय अर्थात् स्थायी सुख के लिए क्षणिक सुखों के त्याग की प्रेरणा दी जाय। इससे इन्द्रिय व मन के संयम की योग्यता पैदा होती है; फिर दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का त्याग की भावना जागती है जो दया, दान, परोपकार, सेवा में प्रकट होती है और इनसे शान्ति व अलौकिक आनंद का अनुभव होता है; फिर वह उसका स्वभाव बन जाता है। अशुभ कर्म प्रकृतियों को शुभ कर्म प्रकृतियों में

संक्रमण करने के लिए, दान, परोपकार आदि पुण्य प्रकृतियों एवं विनय-वैय्याकृत्य (सेवाभाव) आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भगवान् महावीर ने व्यक्त किया कि कर्म प्रकृतियों का संक्रमण सजातीय कर्म प्रकृतियों में ही होता है, विजातीय कर्म प्रकृतियों में नहीं। इस तथ्य की पुष्टि वर्तमान मनोविज्ञान करता है। उसका मानना कि मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण केवल सजातीय मानसिक भावों में ही होता है, यथा काम-भावना का प्रेम व वात्सल्य भाव में, विध्वंसक प्रकृति का रचनात्मक प्रवृत्ति में ही रूपान्तरण संभव है।

जैन दर्शन में संक्रमण प्रक्रिया पर वृहत् साहित्य वर्तमान काल में उपलब्ध है। यदि उसका मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया जाय तो यह ज्ञान विश्व में वर्तमान में फैली हुई बुराइयों को भलाई में बदलने के लिए अत्युपयोगी हो सकता है।

(७) **उदीरणा करण**—जिस प्रकार कच्चे आम को आम के पत्ते व घास या अनाज में दाब दिया जाय तो वह समय से पूर्व ही पक जाता है, इसी प्रकार जो कर्म समय पाकर उदय मे आयेंगे और अपना फल देकर नष्ट होंगे उन्हें प्रयत्नपूर्वक पहले भी उदय मे लाकर नष्ट किया जा सकता है इसे ही उदीरणा करण कहते हैं। मनोविज्ञान में इस प्रक्रिया को रेचन या वमन कहा जाता है। फ्रायड ने इसके लिए मनोविश्लेषण पद्धति का प्रयोग किया है। जिससे अंतःकरण के अज्ञात क्षेत्र में छिपी मानसिक ग्रंथियाँ, वासनाएं कामनाएं चेतन मन के सतह पर प्रकट (उदय) होकर नष्ट हो जाती है। पागलपन या हिस्टरिया के रोग दूर करने में वर्तमान में इस प्रणाली को प्रमुख स्थान दिया जा रहा है।

(८) **उपशमनाकरण :** जिस प्रकार भूमि में स्थित पौधा बरसात के जल बरसने से भूमि पर पपड़ी आजाने से दब जाता है अथवा किसी पौधे को बरतन से ढकने या दबा देने से उसका बढ़ना उस समय के लिए रुक जाता है, इसी प्रकार कर्मों का ज्ञानबल से या संयम से दबा देने से उनका फल देना रुक जाता है, इसे उपशमनाकरण कहते है। इससे तात्कालिक शान्ति मिलती है जो आत्म शक्ति को प्रकट करने में सहायक होती है।

कर्म-बन्ध की प्रक्रिया :

भगवान् ने व्यक्त किया कि कर्म-बंध दो कारणों से होता है—योग और कषाय से। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति (क्रिया) को योग कहा है और रागद्वेष के भावों को कषाय कहा है। योग से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है। इसे समझने के लिए योग और कषाय में से प्रत्येक के दो रूप कर सकते है—(क) परिणाम या गुण और (ख) परिमाण या मात्रा।

योग के परिणाम से प्रकृति बंध एवं योग के परिमाण से प्रदेश बंध होता है। कषाय के परिणाम से अनुभाग या रसबंध एवं कषाय के परिमाण से स्थितिबंध होता है।

योग को कषाय के अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में लिया जा सकता है । कषाय को विद्युत लहर के रूप मे और योग को उसके अभिव्यक्ति के माध्यम वल्व, पंखा आदि के रूप मे समझा जा सकता है । जिस प्रकार विद्युत लहर विना माध्यम के अपना कार्य प्रकट करने में असमर्थ है उसी प्रकार कषाय विना योग के कर्म-वंध करने में अक्षम है। मन, वचन, काया की जिस प्रकार की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार के कर्म का प्रकृति वध होता है । अर्थात् क्रिया के अनुरूप ही फल मिलता है । जिस प्रकार पंखा, वल्व, हीटर आदि जैसा माध्यम होता है वैसी ही क्रिया करता है और उसी के अनुरूप वह हवा, प्रकाश, गर्मी आदि फल देता है ।

योग की मात्रा अर्थात् मन, वचन व काया की प्रवृत्तियों की न्यूनाधिकता से प्रदेश वंध होता है । जिस प्रकार वल्व, पंखा, हीटर आदि अपने आकार-प्रकार में जितने वड़े व सक्षम होते हैं उतना ही अधिक प्रकाश, हवा, गर्मी आदि देते हैं । इसी प्रकार योगों की प्रकृति या सक्रियता जितनी अधिक होती है प्रदेश वंध उतना ही अधिक होता है ।

कषाय की अनंतानुवंधी आदि जैसी क्वालिटी होती है वैसा ही अनुभाग वध होता है । जिस प्रकार विद्युत लहर ए सी, या डी सी जैसी होती है वैसा ही आकर्षण-विकर्षण रूप अपना परिणाम दिखाती है । इसी प्रकार कषाय, राग या द्वेष जिस श्रेणी का होता है वैसा ही उसका रसवंध होता है ।

कषाय की मात्रा या सक्रियता जितनी होती है उतना ही स्थिति वंध होता है । जिस प्रकार विद्युत लहर जितने पावर की होती है उतनी ही अधिक प्रभावकारी होती हैं अथवा वैटरी में विद्युत उत्पादन की जितनी अधिक मात्रा है वह उतने ही अधिक काल तक अपना कार्य दिखाती है । इसी प्रकार कषाय जितनी अधिक मात्रा में होता है कर्म का फल भी उतने लंवे समय तक मिलता है ।

तात्पर्य यह है कि योग जैसा होगा वैसा प्रकृति वंध होगा, योग जितना होगा उतना प्रदेश वंध होगा, कषाय जैसा होगा वैसा रस वंध होगा और कषाय जितना होगा उतना स्थिति वंध होगा ।

ऊपर कह आये है कि 'योग' कषाय की अभिव्यक्ति का माध्यम या साधन है । योग के अभाव में कषाय की अभिव्यक्ति सभव नही है अतः कर्म-वंध भी सम्भव नही है । यही कारण है कि सत्ता में स्थित कर्म 'कर्म-वंध' नही करते हैं । उदय में आए हुए कर्म ही नवीन कर्म-वंध करते हैं । योगों की सक्रियता ही कर्माण-वर्गणाओं को खींचती है और योगों का प्रकार कर्म-प्रकृति का निर्माण करता है तथा कषाय की तीव्रता-मंदता से कर्मों का आत्मा के साथ संश्लेषण होता है । कषाय जितना अधिक सक्रिय होता है उतनी ही दृढ़ता से कर्म आत्मा के चिपकते हैं और उतने ही अधिक काल मे वे छूटते हैं ।

कर्म के प्रकार :

भगवान् महावीर ने कर्म दो प्रकार के वताये है (क) घाती और (२) अघाती ।

जो कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों का घात करें, वे घाती कर्म कहे जाते है। ये चार प्रकार के हैं—(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) मोहनीय और (४) अंतराय। जिन कर्मों से शरीर, आयु, सुख-दुःख आदि मिले वे अघाती कर्म कहे जाते है। ये चार प्रकार के हैं। (१) वेदनीय (२) आयु (३) नाम और (४) गोत्र।

उपर्युक्त आठों कर्म व इनकी एकसौ अड़तालीस प्रकृतियां मनोविज्ञान के गूढ़ रहस्यों को प्रकट करती हैं।

कर्म-फल :

जिस प्रकार बीजवोया जाता है तो वह भूमि के भीतर कुछ समय तक वहां पड़ा रहता है, फिर फल देने के लिए अंकुरित होता है, पीछे वृक्ष बनकर फल देता है। इसी प्रकार कर्म भी बंधने के पश्चात् कार्माण शरीर में पड़ा रहता है। कुछ समय तक वहां निष्क्रिय पड़ा रह कर फिर अपना फल देने के लिए उदय होता है। कर्म बंध होने के पश्चात् जितने समय तक निष्क्रिय पड़ा रहता है उसे अवाधाकाल कहा जाता है। अवाधाकाल पूरा होने पर कर्म, जैसी वासना या कामना वीज के रूप में होती है वैसा ही फल मिलता है, ऐसी तन, मन, सुख-दुःख आदि स्थितियों का निर्माण करता है, अर्थात् कर्म के अनुरूप उसका फल या परिस्थिति का निर्माण होता है। और परिस्थिति के निमित्त से कर्म बंध होता है। इस प्रकार कर्म-बंध व फल का यह चक्र अनन्तकाल से चलता आ रहा है। कर्म के चक्र या ग्रंथि के भेदन का उपाय भगवान् महावीर ने संवर व निर्जरा तत्त्व रूप में बतलाया है।

जिस प्रकार शरीर के विकार को रोग के रूप में बाहर निकालकर नष्ट करने की क्रिया प्रकृति द्वारा स्वतः होती है इसी प्रकार कर्म आत्मा का विकार है और उसका फल भोग के रूप में प्रकट कर, नष्ट करने की क्रिया प्रकृति द्वारा स्वतः होती है।

अभिप्राय यह है कि प्राणी की जो कुछ स्थिति बनती है, वह उसके कर्मों का ही परिणाम है। अतः प्राणी अपनी अनिष्ट स्थिति से छुटकारा चाहता है तो उसे चाहिये कि वह अपने अनिष्ट कर्मबंध के कारणों को छोड़े और संचित कर्मों को तप से क्षय करे। श्री हेनरी नाइट पीलर अपनी "प्रेक्टिकल साइकोलाजी' पुस्तक में कहते है कि जिस दुनिया में हम रहते है, वह हमारे विचारों के अनुरूप होती है। जिस विचार को हम दीर्घ काल तक धारण करते है, वह वस्तु स्थिति में परिणित हो जाती है। यदि हम किसी परिस्थिति को वदलना चाहते है तो पहले हमें अपने विचारों को बदलना होगा।

पाप और पुण्य तत्त्व :

फल भोग की अपेक्षा से कर्म दो प्रकार के हैं—(१) अशुभ फल देनेवाले इनको 'पाप' कहा जाता है और (२) शुभ फलदेने वाले, इनको 'पुण्य' कहा जाता है। प्राकृतिक नियम है कि फल वैसा ही मिलता है जैसा वीज वोया जाता है। कर्म क्षेत्र में भी यह नियम लागू होता है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। बुरा करने वाले

को बुरा या दुःख फल मिलता है। इन्हें पाप कर्म कहा जाता है। यह सर्व विदित है कि जो जैसा किसी को देता है बदले में उसको वही वापिस मिलता है। जो गाली देता है उसको बदले में वही वापिस मिलती है। जो डंडा मारता है उसको बदले में मार ही मिलती है। अतः दुःख उसी को मिलेगा जो दूसरों को दुःख देगा। ऐसे बुरे या नहीं करने योग्य कर्मों का भगवान ने पाप तत्त्व के रूप में वर्णन किया है।

जो स्वयं को या दूसरों को दुःख देने वाले हैं, ऐसे पाप कार्य अठारह बताये गये हैः— (१) हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) झूठा कलंक (१४) चुगली (१५) निन्दा (१६) रति (भोग रुचि) (१७) कपटता से झूठ बोलना और (१८) मिथ्या दर्शन।

उपर्युक्त इन कर्मों से शान्ति भंग होती है, उद्विग्नता बनी रहती है, अन्तर्द्वन्द्व, क्षोभ, अशान्ति, भय, चिन्ता, शोक व दुःख बना रहता है। अतः जो दुःख से बचना चाहे, उन्हें इन पापों से बचना चाहिये। कोई पाप भी करे और चाहे कि उसे दुःख न मिले, यह उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कोई आग में हाथ भी रखे और चाहे कि उसका हाथ न जले। यह कभी भी सम्भव नहीं है।

जिस प्रकार दुःख बुरे कर्मों के फल स्वरूप मिलता है उसी प्रकार सुख अच्छे कर्मों के फल स्वरूप मिलता है। दूसरों को सुख पहुंचाने व भलाई करने से ही अपने को सुख व भलाई मिलती है। ऐसे भले कार्यों को पुण्य कहा जाता है। पुण्य के नो भेद कहे हैं—दूसरों को (१) भोजन देना (२) जल पिलाना (३) स्थान देना (४) शय्या प्रदान करना (५) वस्त्र से सहायता पहुंचाना (६) मन से भला सोचना (७) वचन से मधुर बोलना (८) काया से सेवा करना और (९) सबके साथ विनम्र व्यवहार करना आदर, सत्कार, नमस्कार करना आदि।

आश्रय व संवर तत्त्व :

जिन हेतुओं से कर्मों का बंध होता है उन्हें आश्रय कहते हैं और जिन हेतुओं से कर्मों का बंध होना रुकता है उसे संवर कहते हैं।

आश्रव के मुख्यतः पांच भेद कहे गये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) अशुभयोग। इनके निरोध रूप संवर के भी पांच भेद हैं—(१) सम्यक्त्व, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय या कषाय मंदता और (५) शुभ योग।

आश्रव में असंयत्र की और संवर में संयम की प्रधानता होती है। भगवान् महावीर ने धर्म का सार या अवांछनीय स्थितियों से मुक्ति पाने का उपाय संयम बताया है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना और इनके द्वारा पाप प्रवृत्ति

न करना ही संयम है। संयम आत्म विश्वास को बढ़ाता है। संयम से आत्मिक शक्ति व संपत्ति की वृद्धि होती है जो शांति और आनन्द का साधन वनती है।

वस्तुतः आश्रव के अर्थात् आन्तरिक (मन के अज्ञात स्तरीय संस्कारों) ग्रंथियों के निर्माण के दो प्रत्यक्ष कारण हैं—(१) योग—मन, वचन और काया की प्रवृत्तियां-क्रियाएं और (२) कषाय – राग-द्वेष-मोहादि भाव। इनका वर्णन 'बंध तत्त्व' में किया जा चुका है। इन दोनों कारणों की उत्पत्ति में भूमिका के रूप में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये तीन कारण हैं। जो वस्तु या तथ्य जैसा है, वैसा न मानना, अन्यथा मानना मिथ्यात्व है। इन्द्रिय वासनाओं की पूर्ति व मानसिक कामनाओं की पूर्ति से प्रतीत होने वाला सुख, जो वस्तुतः सुखाभास है, उसे सुख मानना सबसे गहरा मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व से कामना-पूर्ति में सहायक या निमित्त पदार्थों (भोग्य पदार्थों) में सम्मोहन पैदा होता है, यह अविरति है। इस सम्मोहन से तन्द्रा अवस्था में जीवन विताना प्रमाद है। मिथ्यात्व और अविरित (सम्मोहन) से ही विषय और कषाय की लहरें उठती हैं। अतः आश्रव या कर्म आत्मा से लगने के योग और कषाय 'साक्षात् कारण' हैं और मिथ्यात्व, अविरित व प्रमाद 'परम्परा कारण' हैं।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि सामान्यतः मन निष्क्रिय नहीं रह सकता अतः आश्रव के कारण रूप अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना तब ही संभव है जबकि अपने को शुभ प्रवृत्तियों में लगाया जाय। अतः कर्म बंध (मानसिक ग्रंथियों के निर्माण) को रोकने का उपाय है—शुभ प्रवृत्तियों में लगा जाय अर्थात् अपने को संयम पालने, शुभ भावनाओं के चिंतन में जोड़ा जाय। इसी को संवर कहा है।

निर्जरा तत्त्व :

भगवान् महावीर ने अंतस्तल पर स्थित ग्रंथियों-कर्मों के क्षय का उपाय 'निर्जरा' तत्त्व के रूप में बताया है। वह उपाय है—जिन प्रवृत्तियों में रुचि लेने से कर्मों का बंध हुआ है, उन प्रवृत्तियों का उन्मूलन करना। यह कर्मों का उन्मूलन या नाश विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग, उपवासादि से संभव है। अतः भगवान् ने इनका विशद वर्णन निर्जरा तत्त्व में किया है।

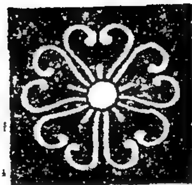
भगवान् महावीर के तत्वज्ञान की विशेषता :

आधुनिक मनोविज्ञान अभी मन के स्तरों की संरचना व उनकी कार्य-पद्धति, आन्तरिक स्तरों की विलक्षणता व कुछ चमत्कारों की ही खोज कर पाया है। यह खोज भी चमत्कृत कर देने वाली है। अभी इसका क्षेत्र, मार्गान्तरीकरण, विज्ञापन, सम्मोहन, निर्देशन, वशीकरण आदि जीवन के वाहरी अंगों तक ही सीमित है। जीवन के आन्तरिक स्तर पर अंकित होने वाले संस्कार ग्रंथियों के निर्माण के कारण, उनका निवारण, अंतःस्थित ग्रंथियों को विना प्रकट किए नष्ट करना जैसे उपाय अभी तक वह नहीं खोज पाया है जबकि भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञान में व्यवस्थित वैज्ञानिक शैली (कारण-कार्य के

सम्बन्ध के रूप में) व व्यावहारिक उपयोगिता के रूप में इन सबका विशद वर्णन विद्यमान हैं। यह वर्णन गणित शास्त्र के समान प्रत्यक्ष सत्य है।

आज विश्व में जर्मनी, रूस, अमेरिका आदि अनेक देशों में स्थित मनोविज्ञानशालाएं अनुसंधान के क्षेत्र मे रत हैं। उनके अनुसंधानों से जैन तत्त्व ज्ञान के अनेक सिद्धान्तों की विलक्षणता व रहस्यमयता प्रकट होती जा रही है और मनोविज्ञानवेत्ता जैन तत्त्वज्ञान के निकट आते जा रहे है। यदि भगवान् महावीर के पच्चीसवें निर्वाण शताब्दी पर जैन समाज उन मनोविज्ञानवेत्ताओं का ध्यान जैन तत्त्व ज्ञान के सिद्धान्तों की ओर केवल आकृष्ट भी कर दे तो भी बहुत बड़ी बात होगी, कारण कि फिर तो अनुसधान कर्ता मनोवैज्ञानिक स्वयं ही जैन तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों के मर्म का उद्घाटन कर देंगे और मानव-जीवन व समाज आदि से सम्बन्धित सब समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत कर देंगे। फलस्वरूप मानव मात्र के समक्ष अपने सर्वांगीण विकास, शांति, समता, निराकुलता व परमानंद का मार्ग खुल जायेगा।

••••



३९

महावीर ने कहा—
सुख यह है, सुख यहां है

• डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

सुख की खोज :

प्रत्येक दार्शनिक महापुरुष त्रैकालिक सत्य का ही उद्घाटन करना चाहता है। उसकी विशाल दृष्टि देश-काल की सीमा में आबद्ध नहीं होती। अतः उसकी वाणी में जो भी तथ्य मुखरित होते हैं, उनमें सभी देशों और कालों की समस्याओं के समाधान अन्तर्निहित होते हैं। कुछ समस्याएं ऐसी होती है, जिन्हें काल और देश की सीमाएं स्वीकार नहीं होती। आज सारा विश्व सुख की खोज में संलग्न है। यह शोध-खोज भूतकाल में भी कम नहीं हुई और न भविष्य में ही इसकी गति रुकने वाली है। अतः वास्तविक सुख की समस्या सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। आज के विश्व के सामने यह समस्या विकराल रूप मे उपस्थित है।

यहां विचारणीय विषय यह है कि क्या भगवान् महावीर के विचारों में इस समस्या का समुचित समाधान खोजा जा सकता है ? यही यहां संक्षेप में प्रस्तुत है।

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि सभी जीव सुख चाहते है और दुःख से डरते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि वास्तविक सुख हे क्या ? वस्तुतः सुख कहते किसे है ? सुख का वास्तविक स्वरूप समझे विना मात्र सुख चाहने का कोई अर्थ नही।

भोग-सामग्री और सुख :

प्रायः सामान्य जन भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानते है और उसकी प्राप्ति को ही सुख की प्राप्ति समझते है, अतः उनका प्रयत्न भी उसी ओर रहता है। उनकी दृष्टि में सुख कैसे प्राप्त किया जाय का अर्थ होता है—'भोग-सामग्री कैसे प्राप्त की जावे ?' उनके हृदय में 'सुख क्या है ?' इस तरह का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनका अंतर्मन यह माने बैठा है कि भोगमय जीवन ही सुखमय जीवन है। अतः जव-जव सुख-समृद्धि की चर्चा आती है तो यही कहा जाता है कि प्रेम से रहो, मेहनत करो, अधिक अन्न उपजाओ, औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति करो—इससे देश में समृद्धि आयेगी और सभी सुखी हो जायेंगे। आदर्शमय वातें कही जाती है कि एक दिन वह होगा जव प्रत्येक मानव के पास खाने के लिए पौष्टिक भोजन, पहिनने को ऋतुओं के अनुकूल उत्तम वस्त्र और रहने को वैज्ञानिक सुविधाओं से युक्त आधुनिक वंगला होगा, तव सभी सुखी हो जायेंगे।

हम इस पर बहस नहीं करना चाहते हैं कि यह सब कुछ होगा या नहीं पर हमारा प्रश्न तो यह है कि यह सब कुछ हो जाने पर भी क्या जीवन सुखी हो जायेगा ? यदि हां, तो जिनके पास यह सब कुछ है वे तो आज भी सुखी होंगे ? या जो देश इस समृद्धि की सीमा को छू रहे हैं वहां तो सभी सुखी और शान्त होंगे ? पर देखा यह जा रहा है कि सभी आकुल-व्याकुल और अशान्त हैं, भयाकुल और चिन्तातुर हैं, अतः 'सुख क्या है ?' इस विषय पर गम्भीरता से सोचा जाना चाहिए। वास्तविक सुख क्या है और वह कहां है ? इसका निर्णय किये विना इस दिशा में सच्चा पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता है और न ही सच्चा सुख प्राप्त किया जा सकता है।

कल्पनात्मक सुख :

कुछ मनीषी इससे आगे बढ़ते हैं और कहते है—भाई, वस्तु (भोग-सामग्री) में सुख नही है, सुख-दुःख तो कल्पना में है। वे अपनी बात सिद्ध करने को उदाहरण भी देते हैं कि एक आदमी का मकान दो मंजिल का है, पर उसके दाहिनी ओर पांच मंजिला मकान है तथा बायीं ओर एक झोंपड़ी है। जब वह दायीं ओर देखता है तो अपने को दुःखी अनुभव करता है और जब बायीं ओर देखता है तो सुखी, अतः सुख-दुःख, भोग-सामग्री में न होकर कल्पना में है। वे मनीषी सलाह देते है कि यदि सुखी होना है तो अपने से कम भोग-सामग्री वालों की ओर देखो, सुखी हो जाओगे। यदि तुम्हारी दृष्टि अपने से अधिक वैभव वालों की ओर रही तो सदा दुःख का अनुभव करोगे।

सुख तो कल्पना में है, सुख पाना हो तो झोंपड़ी की तरफ देखो, अपने से दीन-हीनों की तरफ देखो, यह कहना असंगत है, क्योंकि दुखियों को देखकर तो लौकिक सज्जन भी दयार्द्र हो जाते हैं। दुखियों को देखकर ऐसी कल्पना करके अपने को सुखी मानना कि मैं इनसे अच्छा हूं, उनके दुःख के प्रति अकरुण भाव तो है ही, साथ ही मान कषाय की पुष्टि में संतुष्टि की स्थिति है। इसे सुख कभी नही कहा जा सकता। सुख क्या झोंपड़ी में भरा है जो उसकी ओर देखने से आ जायेगा। जहां सुख है, जब तक उसकी ओर दृष्टि नहीं जायेगी, तब तक सच्चा सुख प्राप्त नहीं होगा।

सुखी होने का यह उपाय भी सही नहीं है क्योंकि यहां 'सुख-क्या है ?' इसे समझने का यत्न नहीं किया गया है वरन् भोगजनित सुख को ही सुख मानकर सोचा गया है। 'सुख कहां है ?' का उत्तर 'कल्पना में है' दिया गया है। 'सुख कल्पना में है' का अर्थ यदि यह लिया जाय कि सुख काल्पनिक है, वास्तविक नहीं—तो क्या यह माना जाय कि सुख की वास्तविक सत्ता है ही नहीं—पर यह बात संभवतः आपको भी स्वीकृत नहीं होगी। अतः स्पष्ट है कि भोग-प्राप्ति वाला सुख जिसे इन्द्रिय सुख कहते हैं—काल्पनिक है तथा वास्तविक सुख इससे भिन्न है। वह सच्चा सुख क्या है ? मूल प्रश्न तो यह है।

सुख और इच्छा-पूर्ति :

कुछ लोग कहते हैं कि तुम यह करो, वह करो तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी,

तुम्हें इच्छित वस्तु की प्राप्ति होगी और तुम सुखी हो जाओगे। ऐसा कहने वाले इच्छाओं की पूर्ति को ही सुख और इच्छाओं की पूर्ति न होने को ही दुःख मानते हैं।

सच्चा सुख इच्छाओं के अभाव में :

भगवान् महावीर ने अतीन्द्रिय आत्मानंद का अनुभव करने के बाद स्पष्ट रूप से कहा कि इच्छाओं की पूर्ति में सुख नहीं है, यह तो सिर का बोझ कन्धे पर रखकर सुख मानने जैसा है। दूसरे इनकी पूर्ति संभव भी नहीं है, कारण कि अनन्त जीवों की अनन्त इच्छायें हैं और भोग-सामग्री सीमित है। नित्य बदलती हुई नवीन इच्छाओं की पूर्ति कभी संभव नहीं। अतः तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी, इच्छायें पूर्ण होंगी और तुम सुखी हो जाओगे, ऐसी कल्पनायें मात्र मृगमरीचिका ही सिद्ध होती हैं। न तो कभी सम्पूर्ण इच्छायें पूर्ण होने वाली हैं और न ही यह जीवन इच्छाओं की पूर्ति से सुखी होने वाला है। यदि कोई कहे जितनी इच्छायें पूर्ण होंगी उतना तो सुख होगा ही, पूरा न सही, यह बात भी ठीक नही है क्योंकि सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं। यदि यह कहा जाय कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है अतः उसे सुख कहना चाहिए, यह कहना भी गलत है क्योंकि इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है।

सुख का स्वभाव निराकुलता :

भोग-सामग्री से प्राप्त होने वाला सुख वास्तविक सुख है ही नहीं, वह तो दुःख का ही तारतम्य रूप भेद है। आकुलतामय होने से वह दुःख ही है। सुख का स्वभाव तो निराकुलता है और इन्द्रियसुख में निराकुलता पाई नहीं जाती है। जो इन्द्रियों द्वारा भोगने में आता है वह विषय सुख है, वह वस्तुतः दुःख का ही एक भेद है। उसका तो मात्र नाम ही सुख है। अतीन्द्रिय आनन्द इन्द्रियातीत होने से उसे इन्द्रियों द्वारा नहीं भोगा जा सकता है। जैसे आत्मा अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय सुख आत्मामय होने से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

सुख आत्मा का गुण :

जो वस्तु जहां होती है, उसे वहां ही पाया जा सकता है। जो वस्तु जहां हो ही नहीं, जिसकी सत्ता की जहां सम्भावना ही न हो, उसे वहां कैसे पाया जा सकता है ? जैसे 'ज्ञान' आत्मा का एक गुण है, अतः ज्ञान की प्राप्ति चेतनात्मा में संभव है, जड़ में नहीं, उसी प्रकार 'सुख' भी आत्मा का एक गुण है, जड़ का नहीं। अतः सुख की प्राप्ति आत्मा में ही होगी, शरीरादि जड़ पदार्थों में नहीं। जिस प्रकार यह आत्मा स्वयं को जान कर अज्ञान (मिथ्या ज्ञान) रूप परिणमित हो रही है, उसी प्रकार यह जीव स्वयं सुख की आशा से पर पदार्थों की ओर ही प्रयत्नशील है व यही इसके दुःख का मूल कारण है। इसकी सुख की खोज की दिशा ही गलत है, अतः दशा भी गलत (दुःख रूप) होगी ही। सच्चा सुख पाने के लिये परोन्मुखी दृष्टि छोड़कर स्वयं को (आत्मा को) देखना होगा, स्वयं को जानना होगा, क्योंकि अपना सुख अपनी आत्मा में है। आत्माअनंत आनन्द का

कंद है, आनंदमय है। अतः सुख चाहने वालों को आत्मोन्मुखी होना चाहिये। परोन्मुखी दृष्टि वाले को सच्चा सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

आत्मानुभूति की सुखानुभूति :

वाक्जाल और विकल्पजाल से परे अतीन्द्रिय आनन्द का विश्लेपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि—सच्चा सुख तो आत्मा द्वारा अनुभव की वस्तु है, कहने की नहीं, दिखाने की भी नहीं। समस्त पर पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर अन्तर्मुख होकर अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में तन्मय होने पर ही वह प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि आत्मा सुखमय है, अतः आत्मानुभूति ही सुखानुभूति है। जिस प्रकार विना अनुभूति के आत्मा प्राप्त नहीं की जा सकती, उसी प्रकार विना आत्मानुभूति के सच्चा सुख भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

गहराई से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि आत्मा को सुख कहीं से प्राप्त नहीं करना है क्योंकि वह सुख से ही बनी है, सुखमय ही है, सुख ही है। जो स्वयं सुख-स्वरूप हो उसे क्या पाना ? सुख पाने की नहीं, भोगने की वस्तु है, अनुभव करने की चीज है। सुख के लिए तड़पना क्या ? सुख में तड़पन नहीं है, तड़पन में सुख का अभाव है, तड़पन स्वयं दुःख है, तड़पन का अभाव ही सुख है। इसी प्रकार सुख को क्या चाहना ? चाह स्वयं दुःखरूप है, चाह का अभाव ही सुख है।

'सुख क्या है ?' 'सुख कहां है ?' 'वह कैसे प्राप्त होगा ?' इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है, एक ही समाधान है, और वह है आत्मानुभूति। उस आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्वविचार है। पर ध्यान रहे वह आत्मानुभूति अपनी आरम्भिक भूमिका तत्व- विचार का भी अभाव करके उत्पन्न होती है।

••••



४०

मानसिक स्वास्थ्य के लिए महावीर ने यह कहा

• श्री यज्ञदत्त अक्षय

पहला सुख निरोगी काया :

संसार में सभी सुख चाहते हैं। और सभी जानते हैं कि 'पहला सुख निरोगी काया'। शरीर स्वास्थ्य के विना अन्य किसी भी प्रकार का सुख प्राप्त करना सम्भव नहीं। अस्वस्थ व्यक्ति को न अच्छा खाने का मजा मिलता है न अच्छा पहनने का। वह न संगीत का आनंद अनुभव कर सकता है न रूप, रस, गंध का। अस्वस्थ दशा में आनंदानुभव की शक्तियां एक प्रकार से कुंठित हो जाती हैं। इसलिए 'एक तंदुरुस्ती हजार नियामत है।' शरीर रोगी होने पर किसी काम या वात में मन नहीं लगता, मन उखड़ा-उखड़ा सा रहता है। इससे सिद्ध है कि शरीर की स्वस्थ या अस्वस्थ दशा का मन पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

मितभोगी को स्वस्थता, अति भोगी को रोग :

मन की सही-गलत दशाओं का इन्द्रियों पर, तन पर, सही-गलत प्रभाव पड़ता है। पहले मन मे कोई विचार आता है, शरीर और इन्द्रियां तद्नुकूल कार्य करती हैं, उसका अच्छा या बुरा प्रभाव मन पर पड़ता है। मन मिठाई खाने को ललचाता है, तव उसके कहे अनुसार व्यवस्था करता है, मिठाई खाई जाती है, जीभ को अच्छी लगती है। जीभ उस स्वाद को और चाहती है। मन या तो कहता है कि कोई हर्ज नहीं, और अधिक मिठाई खाली जाती है तो उस अति के फलस्वरूप शरीर में विकार एकत्र होते और रोग पनपते एवं उभड़ते हैं या मन कहता है कि वस इतना यथेष्ट है, अति नहीं। मितभोगी को स्वस्थता, अतिभोगी को रोग। इस संयम के फलस्वरूप स्वस्थता वनी रहती है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य परस्पर पूरक है। वल्कि यों कहना चाहिए कि मानसिक स्वास्थ्य शरीर स्वास्थ्य की कुन्जी है स्वस्थ मन तन को स्वास्थ्य की दिशा में अग्रसर करता रहता है और स्वस्थ तन मानसिक स्वास्थ्य को वढ़ाता रहता है।

सौमनस्य की आवश्यकता :

दक्षिण भारत के विद्वान प्राकृतिक चिकित्सक श्री कृ० लक्ष्मण शर्मा ने लिखा है—

अतः सुस्वास्थ्य सिद्ध्यर्थ सौमनस्यम् अपेक्षते।
मनसि प्रतिकूलेतु, सन्मार्गान् प्रच्युतिर्ध्रुवा।

अर्थात् अच्छे स्वास्थ्य की सिद्धि के लिये सौमनस्य की आवश्यकता है। मन के प्रतिकूल होने पर अच्छे मार्ग से विचलित हो जाना सुनिश्चित है।

इसमें 'सौमनस्य' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। 'सुमनता' अर्थात् अच्छे मन वाला होना। अच्छे मनवाला, 'सुमन' किस प्रकार हुआ जा सकता है ?

मानसिक स्वास्थ्य का धनी कौन ? :

एक विद्वान ने निरोग कौन रहता है यह बताते हुए कहा है—

नित्यं हिताहार विहार सेवी, समीक्ष्यकारी विषयेष्व सक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥४॥

अर्थात् 'नित्य हितकर आहार विहार का सेवन करने वाला, विवेकपूर्वक कार्य करने वाला, विषय भोगों में अलिप्त रहने वाला, दान, समभाव रखने वाला, सत्य ग्रहण में तत्पर, क्षमाशील और आर्ष पुरुषों की संगति करने वाला निरोग रहता है।' इसके अनुसार अधिकांश बातें मनसे, मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखने वाली हैं। जो समभाव रखने वाला, सत्य और क्षमा को धारण करने वाला, सत्संगति में रहने वाला, दूसरों के कष्टनिवारणार्थ दान देने वाला है, विवेक पूर्वक कार्य करता है वह मानसिक स्वास्थ्य का धनी है। वह विषय भोगों में संयम, खानपान, रहन-सहन में संयम, हितकरता-अहितकरता का विश्लेषण कर, ग्रहण तथा त्याग करने के धैर्य का प्रभाव मन पर डाल सकेगा।

'धर्मार्थ काममोक्षाणां आरोग्यंमूल साधनम्'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल साधन आरोग्य है। इसलिए मन और तन से स्वस्थ रहने के साधनों, प्रक्रियाओं का निर्देश धर्म के अन्तर्गत किया जाता रहा है।

मानसिक विकार :

'कालिकापुराण' में मानसिक भावों को निम्न प्रकार गिनाया गया है—

शोकः क्रोधश्च, लोभश्च कामो मोहः परासुता।
ईर्ष्या मानो विचिकित्सा कृपाऽसूया जुगुप्सता।
द्वादशैते बुद्धिनाश हेतवो मानसा मलाः॥

अर्थात् शोक, क्रोध, लोभ, काम, मोह, आलस्य, ईर्ष्या, अभिमान, संशयग्रस्तता, तरसखाना, असूया व परनिंदा ये बारह मानसिक विकार बुद्धि नाश के हेतु हैं।

इनके अतिरिक्त भी अधीरता, निराशावादी मनोवृत्ति, चिड़चिड़ापन, आलस्य, प्रमाद (लापरवाही), भोग लालसा की अतिशयता, चिंता, कृतनिश्चयों पर अमल न करना आदि और भी मानसिक विकार या मन के रोग हैं।

महावीर ने यह कहा :

भगवान् महावीर के उपदेशों में सर्वत्र मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्वों एवं मानसिक विकारों के त्याग का निर्देश किया गया है।

कोहं च माणं च तहे व मायं लोभं च उत्थं अज्झत्थ दोसा ।
एयाणिवन्ता अरहा महेसी न कुव्वइ पावं न कार वेई ।।

अर्थात् क्रोव, मान, माया और लोभ—ये चार अतरात्मा के भयंकर दोष हैं । इनका पूर्ण रूप से परित्याग करने वाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं और न दूसरों से करवाते है ।

इन भयंकर दोषों का परिणाम बताते हुए वे कहते हैं—

अहे वयन्ति कोहेण, माणेणं अहया गई ।
माया गहपडिग्घा ओ, लोहा ओ दुह ओ भयं ।।

अर्थात् क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधमगति को पहुंचता है, माया से सद्गति का नाश होता है, और लोभ से इहलोक तथा परलोक में महान् भय है ।

दुष्परिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीर पुरसेहिं ।
अहसंति सुवया साहू, जे तरन्ति अतरे वाणेयाव ।

अर्थात् काम भोग बड़ी मुश्किल से छूटते है अधीर पुरुष तो इन्हें सहसा छोड़ ही नहीं सकते । परन्तु जो महाव्रतों जैसे सुन्दर व्रतों के पालन करने वाले साधु पुरुष हैं वे ही दुस्तर भोग समुद्र को तैर कर पार होते हैं, जैसे—वणिक समुद्र को ।

स्वस्थता की प्रक्रिया :

विकृत मनों व्यापारों और कार्यो को ही पाप की संज्ञा दी गयी है । महावीर स्वामी मानसिक मूल्यों की हानिकारकता बताने के साथ-साथ मानसिक स्वास्थ्य के मार्ग के रूप में सुन्दर व्रतों को पालन करने का निर्देश देते है ।

महावीर स्वामी तो व्यक्ति और समाज के रोगों की सुचारू चिकित्सा करने वाले महापुरुष थे । उन्होंने छह मानसिक और छह शारीरिक तपों का निर्देश कर मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की ओर दिशा निर्देश किया है । उनके कथन आज की भाषा में, आज की शब्दावली में नहीं है, उनके समय की शब्दावली में हे । किन्तु तनिक गहराई से विचार करते ही उनकी आज के युग के अनुकूल उपयोगिता समझ में आ सकती है ।

अणसणमूणोपरिया, भिक्खापरिया, रसपरिच्चाओ ।
काम किलेसो संलीणयाय, वज्झो तवो होइ ।

अनशन, अनोदरी, भिक्षाचारी, रसपरित्याग, काम क्लेश और संलेखना ये बाह्य तप है ।

पापच्छित्तं विणयो, वेयाच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणंच विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ।।

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप हैं ।

आभ्यन्तर तप मानसिक स्वास्थ्य के अचूक उपाय हे । जो व्यक्ति अपनी त्रुटियां को स्वीकार कर स्वयं स्फूर्ति से दण्ड ग्रहण करता है पश्चाताप कर उन दोषों को न दोहराने

का निश्चय करता है उसके मन में मानसिक ग्रंथियां जटिलताएं, उलझने टिक ही नहीं सकती ।

एवं धम्मस्सविणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण किंत्ति सुये सिग्घं निस्सेसंचाभिगच्छइ ।।

इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अंतिम रस है । विनय के द्वारा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्रज्ञान तथा कीर्ति सम्पादन करता है । अंत में निश्रेयस भी इसी के द्वारा प्राप्त होता है ।

विक्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स ।
जस्सेये दुह ओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ।

'अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और विनीत को सम्पत्ति' ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है । स्पष्ट है कि मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता ।

भारत प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक 'आरोग्य' के सम्पादक श्री विट्ठलदास मोदी 'आरोग्य' के सितम्बर, ७४ ई० के अंक में लिखते हैं—'मदद एक ऐसी दवा है जो लेने और देने वाले दोनों को ही फायदा पहुंचाती है । यदि आप दूसरों की भलाई के काम में अपने को भूल जांय तो आपके रोग स्वयं जाने की ओर प्रवृत्त होते हैं । दूसरों की भलाई से संतोप प्राप्त होता है और वह हमारी कल्पना को स्वस्थ बनाता है और स्वस्थ कल्पना, कल्पना करने वाले को भी स्वस्थ ही देखती है । वैयावृत्यरूप तप का यही लाभ है ।

अज्ञान, अल्प ज्ञान, और अशुद्ध ज्ञान का अंत स्वाध्याय से होता है । इसीलिए स्वाध्याय मानसिक स्वास्थ्य के लिए अपूर्व औषध है । लोकमान्य तिलक ने इसीलिए कहा था कि 'मैं नरक में भी उत्तम पुस्तकों का स्वागत करूंगा' ।

इसी प्रकार ध्यान और व्युत्सर्ग भी चंचल और अस्थिर, मनोवृत्तियों को उपशमित करने में सहायक होते हैं ।

सम्यक् साधना आवश्यक :

प्रायः प्राप्त सद्ज्ञान का आलस्य और प्रमादवश भलीभांति परिपालन नहीं किये जाने के फलस्वरूप अनेक आधियों का जन्म होता है । भगवान् महावीर इसीलिए कहते है—

खिप्पं न सक्केह विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोयं समया महेसी आयाणु रक्खी चरमप्पमत्ते ।।

आत्म विवेक कुछ झटपट प्राप्त नहीं किया जाता—इसके लिए सम्यक् साधना की आवश्यकता है । महर्षिजनों को बहुत पहले से संयम पथ पर दृढ़ता के साथ खड़े होकर, कामभोगों का परित्याग कर, समता पूर्वक स्वार्थी संसार की वास्तविकता को समझकर, अपनी आत्मा की पापों से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादी रूप से विचारना चाहिए ।

अवले जह भार वाहए, मामगो विसयेऽव गाहिया।
पच्छा पच्छाणु तावए, समयं गोयम ! मा पमायए ।।

घुमावदार विषयमार्ग को छोड़कर तू सीधे और साफ मार्ग पर चल। विषय मार्ग पर चलने वाले निर्बल भारवाहक की तरह बाद में पछताने वाला न बन। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने स्थान-स्थान पर मन के विविध विकारों को दूर करने का उपदेश देते हुए मानसिक स्वास्थ्य का पथ प्रशस्त किया है। मानसिक रूप से स्वस्थ पुरुष शरीर से भी स्वस्थ रहेगा। साथ ही सामाजिक स्वास्थ्य के लिए भी, जिसके कि अभाव में आज समाजवाद व साम्यवाद के लुभाने वाले नारों की आड़ में जनता सभी प्रकार के क्लेशों से संत्रस्त है, महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। आज के युग के संदर्भ में महावीर स्वामी के उपदेशों का विवेक पूर्वक मनन कर परिपालन करने की दिशा में अग्रसर होना अत्यन्त आवश्यक है।

•••



४१

अवकाश के क्षणों के उपयोग की समस्या और महावीर

• श्री महावीर कोटिया

अवकाश के समय की समस्या :

आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मनुष्य को पर्याप्त अवकाश का समय दे दिया है, जिसका वह मनमाने ढंग से उपयोग करने में स्वतन्त्र है। उद्योग-धंधों का मशीनीकरण, आवागमन व संदेशवाहन के द्रुतगामी साधन और यहां तक कि छोटे मोटे घरेलू काम भी यथा बर्तनों की सफाई व धुलाई, मकानों की सफाई व फर्श की धुलाई, रसोई घर का काम-काज आदि के लिए भी अति विकसित पश्चिमीय देशों में स्वचालित मशीनें कार्यरत हैं, तब फिर क्यों नहीं मनुष्य अपने लिए पर्याप्त अवकाश के समय का उपभोग करे ? वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टि से विकसित देशों में जहां अवकाश के समय की यह समस्या अधिक उग्र है वहां अविकसित देशों में अभी इस समस्या का वह रूप नहीं है, और अगर कुछ है भी तो वह साधन सम्पन्न कुछ उच्च वर्ग के लोगों तक ही प्रमुखतः सीमित है।

अवकाश के समय का दो दृष्टियों से उपयोग किया जा सकता है। एक निर्माणात्मक रूप में अर्थात् व्यक्ति, समाज व राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में, दूसरा रूप इस अमूल्य समय के दुरुपयोग का है, जबकि व्यक्ति मद्यपान करने, जुआ खेलने तथा इसी प्रकार के अन्य निरर्थक कार्यों में, व्यसनों में, निठल्ले रहने में ही इसे व्यतीत करदे। पश्चिमी देशों में समय गुजारने के लिए अनेक प्रकार के नये-नये कार्यक्रम, नित नये संगठन रूप ग्रहण करते जा रहे हैं, जिनका उद्देश्य मनुष्य के अमूल्य समय को मौज-मजे के कार्यक्रम में बिताना मात्र। ऐसे कार्यक्रमों में हिप्पी-वादियों की भांग, गांजा, चरस, एल. एस. डी. की गोलियों आदि के सेवन के माध्यम से जीवन में सुख-शांति की खोज, बीटलों का मादक संगीत, प्राकृतिक सुरम्य स्थानों पर निर्वस्त्र विहार, सुरापान और उन्मुक्त भोग का आनन्द आदि के विकल्प प्रस्तुत किए जाकर मनुष्य के मन को भरमाया जाता है, उसे मादक सुख-स्वप्नों का अह-सास कराकर समय बिताने का मन्त्र दिया जाता है। पर प्रश्न यह है कि क्या यह खाली समय का सही उपयोग है ?

मनुष्य निठल्ला नहीं रह सकता :

इस प्रश्न के साथ ही इस समस्या का एक दूसरा पहलू यह भी है कि मनुष्य वस्तुतः निठल्ला रह भी नहीं सकता है। निठल्ले रहकर समय निकालना एक मानवीय समस्या है। मनुष्य कभी अधिक काम करने से नहीं मरा, अगर वह मरा है तो शक्ति अपव्यय व

चिंता के कारण । जहां हम खाली हुए नहीं कि तरह-तरह के विचार, भावनाएं, ऊल-जलूल कल्पनाएं हमारे मस्तिष्क को विकृत करने लगती हैं । अनहोनी चिंताएं निरर्थक विकल्प, संभाव्य घटनाओं से मन भरने लगता है, स्नावयिक उत्तेजना बढ़ जाती है, जीवन निस्सार और निष्फल लगने लगता है । उकताहट, व्याकुलता, निराशा और पराजय की भावना निठल्ले मनुष्य को आ दबोचती है । ये उसे कहीं का नहीं रहने देती, स्वास्थ्य चौपट, चिंताग्रस्त मुर्झाया चेहरा, बुझा मन, न उत्साह और न प्रफुल्लता । ऐसे व्यक्ति के लिए जीवन भार हो जाता है, जीना दुश्वार हो जाता है । मरते बनता नहीं, जीना आता नहीं ।

कार्य-निमग्नता सुखी जीवन की शर्त :

फिर किया क्या जाए ? आदमी को स्वस्थ भी रहना है, सुखी और प्रसन्न भी । हमेशा खीझ भरे, झुंझलानेवाले और उकताहट भरा कटु जीवन जीने वाले लोग ही रहें तो यह दुनिया रहने योग्य कहां रह जाएगी ? अतः एक ही साधन है और वही साध्य भी है, 'आदमी को व्यस्त रहना चाहिए ।' अंग्रेज कवि टेनिसन कहता है : 'मुझे कार्य में निमग्न रहना चाहिए, नहीं तो मैं नैराश्य में टूट जाऊंगा ।' यही बात स्नायुरोग चिकित्सक कहते हैं । उनका कहना है कि स्नायुरोगों का हेतु शिराओं का ह्रास होना नहीं, अपितु निस्सारता, निष्फलता, निराशा, चिन्ता और व्याकुलता आदि के मनोविकार हैं । चिंता, भय, घृणा, ईर्ष्या तथा स्पर्धा के ये मनोभाव इतने प्रबल होते हैं कि ये मस्तिष्क से अन्य सभी शांत एवं सुखद विचारों तथा मनोभावों को निकाल बाहर कर देते हैं । अतः मनुष्य का कर्तव्य (धर्म) है व्यस्त रहना, सुखी जीवन के लिए कार्य निमग्न रहना ।

परोपकारी की व्यस्तता अपनायें :

इस सन्दर्भ में संसार के महापुरुषों, धर्म-संस्थापकों, तीर्थकरों ने मनुष्य की सर्वाधिक सहायता की है । यह दूसरी बात है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के कारण अपने इन मुक्तिदाताओं की ही उपेक्षा करने लगे, उनकी पूजा-उपासना का दिखावा तो करता रहे परन्तु उनके वास्तविक उपदेशों को तिलांजलि दे दे । मनुष्य के इसी स्वार्थ ने बार-बार उसे दुःख में घसीटा है, चिंता में डुबोया है, निराशा ग्रस्त किया है । दुनिया में आनेवालों में से अधिसंख्यक जीवनभर रोते ही रहते हैं, रोते ही चले जाते हैं । सुखी जीवन के लिए आवश्यक है कि हम अपना दृष्टिकोण बदलें । निठल्ले रहने की अपेक्षा परोपकारी की व्यस्तता को अपनायें । इस व्यस्तता के लिए हमें अनिवार्य रूप से धार्मिक होना पड़ेगा, आध्यात्मवादी बनना पड़ेगा, अपने 'स्व' से निकलकर 'पर' की चिंता भी करनी होगी, स्वार्थ को छोड़ परमार्थ को पकड़ना होगा, संकुचितता और संकीर्णता को भुला कर विशाल हृदयता की गरिमा को समझना होगा । विश्व के सभी धर्मों ने परार्थ सेवा को ही अत्यधिक महत्व दिया है ।

जनसेवा की भावना :

तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदेशित धर्म का तो मूलाधार ही जन सेवा की भावना है । इस सन्दर्भ में मुझे भगवान् महावीर के जीवन का एक प्रसंग बार-बार याद आ जाता है । एक बार उनके प्रमुख शिष्य (गणधर) गौतम ने उनसे प्रश्न किया, भगवन ! दो

व्यक्ति हैं। एक रात दिन आपकी भक्ति में लगा रहता है, अतः जन-सेवा के लिए समय नहीं निकाल पाता। दूसरा सदा ही जन-सेवा में लगा रहता है, अतः आपकी भक्ति नहीं कर पाता। प्रभु इन दोनों में कौन धन्य है ? कौन अधिक पुण्य का भागी है ?

महावीर ने बिना एक क्षण के भी विलम्ब के उत्तर दिया—'वह, जो जन-सेवा में लगा रहता है, धन्य है, पुण्यवान है।'

गौतम ने कहा—'प्रभु ! यह कैसे ? क्या आपकी भक्ति.......।'

गौतम ! मेरी भक्ति, मेरा नाम रटने में या मेरी पूजा अर्चना करने में नहीं, मेरी वास्तविक भक्ति मेरी आज्ञा पालन में है। मेरी आज्ञा है प्राणी मात्र को सुख-सुविधा व शांति पहुंचाना, उनके कष्टों का परिहार करना।

समय का सदुपयोग :

इस प्रकार महावीर के दृष्टिकोण से सच्चा धार्मिक वह है जो प्राणी सेवा में लगा रहता है। प्राणी मात्र की सेवा जिसका धर्म है, उसको अवकाश कहां ? यह दुनिया सदा ही अनेक दीनों, दुःखियों, पीड़ितों, अपंगों, भयाक्रान्तों से भरी पड़ी है। जिसने पीड़ित मानवता की पुकार को सुनना सीख लिया, उसे जीवन में अवकाश कहां ? उसके चारों ओर अनवरत काम की ऐसी लम्बी शृंखला है, जिसे कभी पूरा होना नहीं और जिसको करने में सदा ही एक स्वर्गिक आनन्द है, दिव्य सन्तोष है, एक धुन है, एक लगन है जो जीना ही सार्थक कर जाती है।

महावीर ने धर्म का स्वरूप बताया है—अहिंसा, संयम और तप। अहिंसा और संयम भावनापरक अधिक हैं परन्तु तप में क्रिया प्रमुख है। तप अर्थात् परसेवा, स्वाध्याय, आत्मचिंतन। हम तप को ही पकड़लें तो हमारे 'खाली समय' की समस्या का निराकरण हो जाएगा।

पर-सेवा जिसका लक्ष्य हो, स्वाध्याय और आत्मचिंतन जिसका व्यसन बन गया हो, उसके पास खाली समय रहता ही कहां है ? व्यक्तियों को चाहिए कि वे व्यस्त रहने के इस जीवन दर्शन को समझें और इसे व्यवहार में उतारें। जीविकोपार्जन के धन्धे से बचे अपने अमूल्य क्षणों का उपयोग दूसरों के हितार्थ काम करने, सद्-साहित्य का स्वाध्याय करने, आत्मचिन्तन करने आदि में लगाएं। यदि हमारा अवकाश का समय किसी दुःखी के आंसू पोंछने में, किसी संतप्त हृदय को सान्तवना देने में, किसी बेसहारा को सहारा प्रदान करने में तथा अच्छे विचारों के अध्ययन मनन व चिन्तन तथा ध्यान साधना में लग सके तो इससे अच्छा समय का सदुपयोग और क्या होगा ?

●●●

अष्टम खण्ड

सांस्कृतिक संदर्भ

४२

आधुनिक परिस्थितियाँ एवं भगवान् महावीर का संदेश

• डॉ० महावीर सरन जैन

बौद्धिक कोलाहल का युग :

भगवान महावीर के युग पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि वह युग भी आज के युग की भांति अत्यंत बौद्धिक कोलाहल का युग था। हमारा आज का युग अध्यात्म, धर्म, मोक्ष आदि पारलौकिक चिन्तन के प्रति विरक्त ही नहीं, अनास्थावान भी है।

भगवान महावीर के युग में भी भौतिकवादी एवं संशयमूलक जीवन दर्शन के मतानुयायी चिंतकों ने समस्त धार्मिक मान्यताओं, चिर संचित आस्था एवं विश्वास के प्रति प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया था। पूरणकस्सप, मक्खलि गोशालक, अजितकेशकम्बलि, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त आदि के विचारों को पढ़ने पर हमको आभास होता है कि युग के जन-मानस को संशय, त्रास, अविश्वास, अनास्था, प्रश्नाकुलता आदि वृत्तियों ने किस सीमा तक आबद्ध कर लिया था। पूरण कस्सप एवं पकुध कच्चायन दोनों आचार्यों ने आत्मा की स्थिति तो स्वीकार की थी किन्तु 'अक्रियावादी' दर्शन का प्रतिपादन करने के कारण इन्होंने सामाजिक जीवन में पाप-पुण्य की सभी रेखायें मिटाकर अनाचार एवं हिंसा के बीजों का वपन किया। पूरण कस्सप प्रचारित कर रहे थे कि आत्मा कोई क्रिया नहीं करती, शरीर करता है और इस कारण किसी भी प्रकार की क्रिया करने से न पाप होता है न पुण्य। पकुध कच्चायन ने बताया कि (१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) सुख (६) दुःख एवं (७) जीवन—ये सात पदार्थ अकृत, अनिर्मित, अवध्य, कूटस्थ एवं अचल हैं। इस मान्यता के आधार पर वे यह स्थापना कर रहे थे कि जब ये अवध्य हैं तो कोई हंता नहीं हो सकता। "यदि तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी को काट भी दिया जावे तो भी वह किसी को प्राण से मारना नहीं कहा जा सकता।" अजितकेसकंबलि पुनर्जन्मवाद पर प्रहार कर आस्तिकवाद को झूठा ठहरा रहे थे तथा भौतिकवादी विचारधारा का निरूपण करने के लिए इस सिद्धान्त की स्थापना कर रहे थे कि "मूर्ख और पंडित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं।"

भगवान महावीर के समकालिक आचार्य मंखलि गोशालक की परम्परा को आजीवक या आजीविक कहा गया है। 'मंझिमनिकाय' में इनकी जीवन-दृष्टि को 'अहेतुकदिट्ठि'

अथवा 'अकिरियादिट्ठि' कहा गया है। इस प्रकार उनके मत में व्यक्ति की इच्छा-शक्ति का अपना कोई महत्त्व नहीं है। नियतिवादी होने के कारण गोशालक प्रचारित कर रहे थे कि "जीवन-मरण, सुख-दुख, हानि-लाभ, ये सब अनतिक्रमणीय हैं, इन्हें टाला नहीं जा सकता, वह होकर ही रहता है।" संजय वेलट्ठिपुत्त अनिश्चय एवं संशय के चारों ओर चक्कर काट रहे थे। इनके अनुसार परलोक, अयोनिज प्राणी, शुभाशुभ कर्मों के फल आदि के विषय में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

महावीर : मानवीय सौहार्द के आलोक :

इस प्रकार जिस समय दर्शन के क्षेत्र में चारों ओर घोर संशय, अनिश्चय, तर्क, वितर्क, प्रश्नाकुलता व्याप्त थी, आचारमूलक सिद्धान्तों की अवहेलना एवं उनका तिरस्कार, करने वाले चिन्तकों के स्वर सुनायी दे रहे थे, मानवीय सौहार्द एवं कर्मवाद के स्थान पर घोर भोगवादी, अक्रियावादी एवं उच्छेदवादी वृत्तियां पनप रही थीं, जीवन का कोई पथ स्पष्ट नहीं दिखायी दे रहा था, उस समय भगवान महावीर ने प्राणी मात्र के कल्याण के लिए, अपने ही प्रयत्नों द्वारा उच्चतम विकास कर सकने का आस्थापूर्ण मार्ग प्रशस्त कर; अनेकांतवाद, स्याद्वाद, अपरिग्रहवाद एवं अहिंसावाद आदि का सन्देश देकर नवीन आलोक प्रस्फुटित किया।

भौतिक विज्ञान की उन्नति :

आज भी भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति मानवीय चेतना को जिस स्तर पर ले गयी है वहां पर उसने हमारी समस्त मान्यताओं के सामने प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया है। प्राचीन मूल्यों के प्रति मन में विश्वास नहीं रहा है। महायुद्धों की आशंका, आणविक युद्धों की होड़ और यांत्रिक जड़ता ने हमें एक ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां सुन्दरता भी भयानक हो गयी है। डब्ल्यु. बी. ईट्स की पंक्तियां शायद इसी परिवर्तन को लक्ष्य करती हैं—

All changed, changed utterly
A terrible beauty is born.

वैज्ञानिक उन्नति की चरम सम्भावनाओं से चमत्कृत एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया से गुजरने एवं पलने वाला आज का आदमी इलियट के "वैस्टलेंड" के निवासी की भांति जड़वत् एवं यन्त्रवत् होने पर विवश होता जा रहा है।

रूढ़िगत धर्म के प्रति आज का मानव किंचित भी विश्वास को जुटा नहीं पा रहा है। समाज में परस्पर घृणा, अविश्वास, अनास्था एवं संत्रास के वातावरण के कारण आज अनेक मानवीय समस्याएं उत्पन्न होती जा रही हैं। भरी भीड़ में व्यक्ति अकेला होता जा रहा है, जुड़कर भी अपने को समाज से तोड़ने का उपक्रम करना इसी की निशानी है—

इसी बल
जहां जहां पहचान हुई, मैंने
वह ठांव छोड़ दी,
ममता ने तरिणी-तीर और मोड़ा—
वह डोर मैंने तोड़ दी।

—अज्ञेय

आर्थिक अनिश्चयात्मकता, अराजकता, आत्मग्लानि, व्यक्तिवादी आत्म विद्रोह, जीवन की लक्ष्यहीन समाप्ति आदि प्रवृत्तियों से आज का युग ग्रसित है। कोटि-कोटि जन जिन्हें युगों-युगों से समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया है वे आज भाग्यवाद एवं नियतिवाद के सहारे मौन होकर बैठ जाना नहीं चाहते प्रत्युत सम्पूर्ण व्यवस्था पर हथौड़ा चलाकर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहते है।

अस्तित्ववादी चिन्तन :

परम्परागत जीवन-मूल्यों को सायास तोड़ने की उद्देश्यगत समानता के होते हुए भी भगवान महावीर के पूर्ववर्ती एवं समसामयिक अक्रियावादी चिन्तन एवं आधुनिक अस्तित्ववादी चिन्तन में बहुत अन्तर है। अस्तित्ववादी चिन्तन ने मानव-व्यक्ति के संकल्प स्वातन्त्र्य; व्यक्तित्व निर्माण के लिए स्व प्रयत्नों एवं कर्मगत महत्त्व का प्रतिपादन, कर्मों के प्रति पूर्ण दायित्व की भावना तथा व्यक्तित्व की विलक्षणता, गरिमा एवं श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। यह चिन्तन "सारसत्ता" (Essence) और "अस्तित्व" (Existence) को अलग अर्थों में प्रयुक्त करता है। सारसत्ता प्रकृति का निश्चित आकारयुक्त प्रयोजनशील निष्क्रिय तत्त्व है और अस्तित्व चेतनासम्पन्न क्रियाशील अनिश्चित तत्त्व है जो सृष्टि में मानव मात्र में ही परिलक्षित होता है। अस्तित्व सम्पन्न मानव अपने ऐतिहासिक विकास के अनिर्दिष्ट, अज्ञेय मार्ग को मापता चलता है। सृष्टि की यह चेतन सत्ता अपने चिन्तन एवं निर्णय के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है—

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत

....

इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर—
क्या जाने
सचाई टूटे हुए पहिये का आश्रय ले।

—धर्मवीर भारती

इस प्रकार आज का जीवन-दर्शन खंडित, पीड़ित होते हुए भी अकर्मण्य एवं भाग्य-

वादी नहीं है। आज एक ओर जहां गति है वहीं दिशा नहीं है। आज की परिस्थितियों में इसी कारण भयावह खतरों से भरी हुई दुनिया में चमकीली आशायें भी हैं।

पुराने जमाने की चेतना में आदमी के भाग्य का विधाता "परमात्मा" माना जाता था। इस परमात्मा के प्रति श्रद्धा एवं अनन्यभाव के साथ "अत्यनुराग" एवं "समर्पण" से व्यक्ति छुटकारा पा लेता था। "भक्ति एक ऐसा अमोघ अस्त्र था जो समस्त विपदाओं से छुटकारा दिला देता था; "रामवाण औषधि" थी। आराध्य अलग-अलग हो सकते हैं किन्तु किसी आराध्य के प्रति "परानुरक्ति" "परम प्रेम", स्नेह पूर्वक किया गया सतत ध्यान से उसकी समस्त मनोकामनायें पूरी हो जाती थीं।

किन्तु आज का व्यक्ति स्वतन्त्र होने के लिए अभिशापित (Condemned to be free) है। आज व्यक्ति परावलम्बी होकर नहीं, स्वतन्त्र निर्णयों के क्रियान्वय के द्वारा विकास करना चाहता है। सार्त्र का अस्तित्ववाद ईश्वर का निषेध करता है और मानव को ही अपने भविष्य का निर्माता स्वीकार करता है। यह चिन्तन महात्मा बुद्ध के—

"अत्ता ही अत्तनो नाथों को ही नाथो परो सिया"

"आप ही अपना स्वामी है; दूसरा कौन स्वामी हो सकता है"—के अनुकूल है।

अस्तित्ववादी दर्शन यह मानता है कि मनुष्य का स्रष्टा ईश्वर नहीं है और इसीलिए मानव-स्वभाव, उसका विकास उसका भविष्य भी निश्चित एवं पूर्व मीमांसित नहीं है। मनुष्य वह है जो अपने आपको बनाता है।

जैन—दर्शन में भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २० : ३७

आत्मा ही दुःख एवं सुख का कर्त्ता या विकर्त्ता है। सुमार्ग पर चलने पर आत्मा मित्र एवं कुमार्ग पर चलने पर वही शत्रु होता है।

मानव को महत्त्व देते हुए भी सार्त्र सामाजिक दर्शन के धरातल पर अत्यंत अव्यावहारिक है क्योंकि वह यह मानता है कि चेतनाओं के पारस्परिक सम्बंधों की आधारभूमि सामंजस्य नहीं विरोध है तथा अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व वृत्त हमारे अस्तित्व वृत्तों की परिधियों के मध्य आकर संघर्ष, भय, घृणा आदि भावों के उद्भावक एवं प्रेरक बनते हैं। सार्त्र इसी कारण वास्तविक संसार को असंगत, अव्यवस्थित, अनवधारित और अज्ञेय मानता है। यही कारण है कि अपने को अपना स्वामी मानते हुए जहां गौतमबुद्ध स्वयं संयम के पथ से प्राणी को दुर्लभ स्वामी की प्राप्ति का निर्देश देते हैं वहां सार्त्र व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य संघर्ष एवं अविश्वास की भूमिका बनाता है।

मानवीय मूल्यों की स्थापना :

यदि हमें मानव के अस्तित्व को बनाये रखना है तो हमें मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी होगी, सामाजिक सौहार्द एवं बंधुत्व का वातावरण निर्मित करना होगा, दूसरों को समझने एवं पूर्वाग्रहों से रहित मनःस्थिति में अपने को समझाने के लिए तत्पर होना होगा, भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी, उन्मुक्त दृष्टि से जीवनोपयोगी दर्शन का निर्माण करना होगा। आज वही धर्म एवं दर्शन हमारी समस्याओं का समाधान कर सकता है जो उन्मुक्त दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा दे सके। शास्त्रों में यह बात कही गयी है—केवल इसी कारण आज का मानस एवं विशेष रूप से बौद्धिक समुदाय एवं युवक उसे मानने के लिए तैयार नहीं है। दर्शन में ऐसे व्यापक तत्व होने चाहियें जो तार्किक एवं बौद्धिक व्यक्ति को सन्तुष्ट कर सकें। आज का मानव केवल श्रद्धा, सन्तोष और अन्धी आस्तिकता के सहारे किसी बात को मानने के लिए तत्पर न होगा।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो प्राणी मात्र को प्रभावित कर सके एवं उसे अपने ही प्रयत्नों के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके। ऐसा दर्शन नहीं होना चाहिए जो आदमी-आदमी के बीच दीवारें खड़ी करके चले। धर्म को पारलौकिक एवं लौकिक दोनों स्तरों पर मानव की समस्याओं के समाधान के लिए तत्पर होना होगा। प्राचीन दर्शन ने केवल अध्यात्म साधना पर बल दिया था और इस लौकिक जगत की अवहेलना हुई थी। आज के वैज्ञानिक युग में बौद्धिकता का अतिरेक व्यक्ति के अन्तर्जगत की व्यापक सीमाओं को संकीर्ण करने एवं उसके बहिर्जगत की सीमाओं को प्रसारित करने में यत्नशील है। आज के धार्मिक एवं दार्शनिक मनीषियों को वह मार्ग खोजना है कि मानव अपनी बहिर्मुखता के साथ-साथ अन्तर्मुखता का भी विकास कर सके। पारलौकिक चिन्तन व्यक्ति के आत्म विकास में चाहे कितना ही सहायक हो किन्तु उससे सामाजिक सम्बन्धों की सम्बद्धता समरसता एवं समस्याओं के समाधान मे अधिक सहायता नहीं मिलती है। आज के भौतिकवादी युग में केवल वैराग्य से काम चलने वाला नही है। आज हमें मानव की भौतिकवादी दृष्टि को सीमित करना होगा, भौतिक स्वार्थपरक इच्छाओं को संयमित करना होगा, मन की कामनाओं में परमार्थ का रंग मिलाना होगा। आज मानव को न तो इस प्रकार का दर्शन शांति दे सकता है कि केवल ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है तथा न केवल भौतिक तत्वों की ही सत्ता को सत्य मानने वाला दृष्टिकोण जीवन के उन्नयन में सहायक हो सकता है।

एक बार खलील जिब्रान ने कहा था "तुम यौवन और इसका ज्ञान एक ही समय प्राप्त नही कर सकते, क्योंकि यौवन जीने में अत्यधिक व्यस्त है, इसे ज्ञानार्जन का अवकाश नही और ज्ञान अपने स्वरूप की खोज में इतना मग्न है कि इसे जीने का अवसर नही"। आज यौवन और ज्ञान; भौतिकता और आध्यात्मिकता के समत्व की आवश्यकता है। इसके लिए धर्म एवं दर्शन की वर्तमान सामाजिक संदर्भों के अनुरूप एवं भावी मानवीय चेतना के निर्यामक रूप मे व्याख्या करनी है। इस संदर्भ में आध्यात्मिक साधना के ऋषियों

एवं मुनियों की धार्मिक साधना एवं गृहस्थ सामाजिक व्यक्तियों की धार्मिक साधना के अलग-अलग स्तरों को परिभाषित करना आवश्यक है।

ऐसे धर्म-दर्शन की आवश्यकता :

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिकों की प्रतिपत्तिकाओं को खोजने का मार्ग एवं धार्मिक मनीषियों एवं दार्शनिक तत्त्व-चिन्तकों की खोज का मार्ग अलग-अलग हो सकता है किन्तु उनके सिद्धान्तों एवं मूलभूत प्रत्ययों में विरोध नहीं होना चाहिये।

आज के मनुष्य ने प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था को आदर्श माना है। हमारा धर्म भी प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति के अनुरूप होना चाहिए।

प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होते है। दर्शन के धरातल पर भी हमें व्यक्ति मात्र की समता का उद्घोष करना होगा। प्रजातंत्रात्मक जीवन पद्धति के स्वतन्त्रता एवं समानता दो बहुत बड़े मूल्य हैं।

आज युगीन विचारधाराओं पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो इस दृष्टि से उनकी सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं। साम्यवादी विचारधारा समाज पर इतना बल दे देती है कि मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता के बारे मे वह अत्यन्त निर्मम तथा कठोर हो जाती है। इसके अतिरिक्त वर्ग संघर्ष एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के कारण यह समाज को बांटती है, गतिशील पदार्थों की विरोधी शक्तियों के संघर्ष या द्वन्द्व को जीवन की भौतिकवादी व्यवस्था के मूल मे मानने के कारण सतत संघर्षत्व की भूमिका प्रदान करती है, मानव जाति को परस्पर अनुराग एवं एकत्व की आधारभूमि प्रदान नहीं करती।

इसके विपरीत व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य पर बल देने वाली विचारधारायें समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र मानती हैं और अपने अधिकारों के लिए समाज से सतत संघर्ष की प्रेरणा देती है तथा साधनविहीन असहाय भूखे पददलित लोगों के सम्बन्ध में इनके पास कोई कार्यक्रम नहीं है। फ्रायड व्यक्ति के चेतन, उपचेतन मन के स्तरों का विश्लेषण कर मानव की आदिम वृत्तियों के प्रकाशन में समाज की वर्जनाओं को अवरोधक मानता है तथा व्यक्ति के मूल्यों को सुरक्षित रखने के नाम पर व्यक्ति को समाज से बांधता नहीं, काटता है।

इस प्रकार युगीन विचारधाराओं से व्यक्ति और समाज के बीच, समाज की समस्त इकाइयों के बीच सामरस्य स्थापित नहीं हो सकता।

आज ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो समाज के सदस्यों में परस्पर सामाजिक सौहार्द एवं बंधुत्व का वातावरण निर्मित कर सके। यदि यह न हो सका तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था एवं शासन पद्धति से समाज में शान्ति स्थापित नहीं हो पायेगी।

इस दृष्टि से हमे यह विचार करना है कि भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व अनेकान्तवादी चिन्तन पर आधारित अपरिग्रहवाद एवं अहिंसावाद से संयुक्त जिस ज्योति को जगाया था, उसका आलोक हमारे आज के अन्धकार को दूर कर सकता है या नहीं ?

आधुनिक वैज्ञानिक एवं बौद्धिक युग में वही धर्म एवं दर्शन सर्व व्यापक हो सकता है जो मानव मात्र को स्वतन्त्रता एवं समता की आधारभूमि प्रदान कर सकेगा। इस दृष्टि से मैं यह कहना चाहूँगा कि भारत में विचार एवं दर्शन के धरातल पर जितनी व्यापकता, सर्वाङ्गीणता एवं मानवीयता की भावना रही है; समाज के धरातल पर वह नही रही है। दार्शनिक दृष्टि से यहां यह माना गया है कि जगत में जो कुछ स्थावर जंगम संसार है वह सब एक ही ईश्वर से व्याप्त है—

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्—

—ईशावस्योपनिषद्

प्राणी मात्र को मित्र के रूप में देखने का उद्घोष यहाँ हुआ—

मित्रस्य मा चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुपा समीक्षामहे।

—यजुर्वेद

पंडित एवं विद्वान की कसौटी यह मानी गयी कि उसे ससार के सभी प्राणियां को अपने समान मानना चाहिये—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः

समाज-दर्शन का विकास क्यों नहीं ?

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "आत्मवत् सर्वभूतेषु" सिद्धान्त को मानने पर भी यहां सामाजिक समता एवं शान्ति का विकास क्यों न हो सका ? मानव में परस्पर एक दूसरे को छोटा बड़ा मानने की प्रवृत्ति का विकास क्यों हुआ ? अद्वैत-दर्शन के समानान्तर समाज-दर्शन का विकास क्यों नहीं हो सका ?

उपनिपद्कार ने यह माना था कि जब ब्रह्म की इच्छा होती है तब सृष्टि का रचना होती है—

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरति सृष्टो विनिश्चता :

—मांडूक्योपनिषद्, आगम प्रकरण ८

ब्रह्म को मूलभौतिक प्रपंचों का कारण मानने के कारण मानव की सत्ता उसके सामने अत्यन्त लघु हो जाती है तथापि सृष्टि की सत्ता सत्य प्रतिपादित हो जाने एवं उसकी उत्पत्ति का एक ही कारण मानने पर कम से कम "मानव" की दृष्टि में "सर्वात्मदर्शन" की

की व्यवस्था परिचालित होती है; भक्ति सिद्धान्त में भी साधक अपनी साधना के बल पर मुक्ति का अधिकार प्राप्त नहीं कर पाता, उसके लिए भगवत्कृपा होना जरूरी है।

इन्हीं शासन व्यवस्था एवं धार्मिक व्यवस्था के कारण सामाजिक समता की भावना निर्मूल हो गयी और उसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक धरातल पर भी ऊंच-नीच की इकाइयों का विकास हुआ।

जैन-दर्शन : प्रजातंत्रात्मक मूल्यों का वाहक :

आज प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को राजनैतिक दृष्टि से समान संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। जैन-दर्शन शारीरिक एवं मानसिक विषमताओं का कारण कर्मों के भेद को मानता है। जीव शरीर से भिन्न एवं चैतन्य का कारण है। जब सर्व कर्मों का क्षय होता है तो प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शक्ति से स्वतः सम्पन्न हो जाता है।

इस दृष्टि से जैन-दर्शन समाज के प्रत्येक मानव के लिए समान अधिकार जुटाता है। सामाजिक समता एवं एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्त्व है। इस परम्परा में मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्णों, वादों, सम्प्रदायों आदि का लेबिल चिपकाकर मानव-मानव को बांटने वाले दर्शन के रूप में नहीं। मानव महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन-दर्शन में हुआ है वह अनुपम है। भगवान् महावीर ने जातिगत श्रेष्ठता को कभी आधार नहीं बनाया।

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो
न मुणी रण्ण वासेणं, कुसचीरेण न तावसो

—उत्त० २५ : ३१।

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो

—उत्त० २५ : ३२

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा

दूसरों की निन्दा, अपनी प्रशंसा, अपने असद् गुणों और दूसरों के सद्गुणों को ढाँकना तथा स्वयं के अस्तित्वहीन सदगुणों तथा दूसरों के असदगुणों को प्रकट करना नीच गोत्र की स्थिति के कारण बनते हैं—

'परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसदगुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य'

—तत्वार्थसूत्र

आचार्य समन्तभद्र ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा कि सम्यक् दर्शन सम्पन्न चांडाल मानव से ही नहीं प्रत्युत देव से भी बढ़कर है—

सम्यग्दर्शन सम्पन्न, मपि मातंग देहजम् ।
देवादेवं विदुर्भस्म, गूढां गारान्तरोजसम् ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, २८ ।

उन्होंने आत्मा की स्वतंत्रता की प्रजातंत्रात्मक उद्घोषणा की। उन्होंने कहा कि समस्त आत्मायें स्वतंत्र हैं, प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। उसके गुण और पर्याय भी स्वतंत्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुणों एवं पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस दृष्टि से सब आत्मायें स्वतंत्र हैं, भिन्न-भिन्न हैं, पर वे एक सी अवश्य हैं। इस कारण उन्होंने कहा कि सब आत्मायें समान हैं, पर एक नहीं।

स्वतंत्रता एवं समानता दोनों की इस प्रकार को परस्परावलम्बित व्याख्या अन्य किसी दर्शन मे दुर्लभ है।

उन्होंने यह भी कहा है कि यह जीव अपने ही कारण से संसारी बना है और अपने ही कारण से मुक्त होगा। 'नयचक्र' में इसी कारण कहा गया है कि व्यवहार से बंध और मोक्ष का हेतु अन्य पदार्थ को जानना चाहिए किन्तु निश्चय से यह जीव स्वयं बंध का हेतु है और यही जीव स्वयं मोक्ष का हेतु है—

बंधे च मोक्ख हेऊ अराणो, ववहारदो य णायव्वो ।
णिच्छयदो पुण जीवो भणिओ खलु सव्वदरसीहिं ।।

—नयचक्र २३५ ।

इस प्रकार जैन दर्शन में यह मार्ग बतलाया गया है जिससे व्यक्ति अपने बल पर उच्चतम विकास कर सकता है, प्रत्येक आत्मा अपने बल पर परमात्मा बन सकती है।

उपनिषदों में जिस 'तत्वमसि' सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है उसी का जैन दर्शन में नवीन अविष्कार एवं विकास है एवं प्राणी मात्र की पूर्ण स्वतंत्रता, समता एवं स्वावलम्बित स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है। 'संसार में अनन्त प्राणी हैं और उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। कर्मबन्ध के फलस्वरूप ये जीवात्मायें जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों एवं अवस्थाओं में परिलक्षित होती हैं किन्तु सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा उच्चतम विकास की समान शक्तियां निहित हैं।

'आचारांग' में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि बंधन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ में है—

बन्धप्प मोक्खो तुज्झज्झत्थेव

—आचारांग ५।२।१५०

जब सब प्राणी अपनी मुक्ति चाहते हैं तथा स्वयं के प्रयत्नों से ही उस मार्ग तक पहुँच सकते हैं तथा कोई किसी के मार्ग में बाधक नही तब फिर किसी से संघर्ष का प्रश्न ही

भावना विद्यमान रहती है। इसका कारण यह है कि परमात्मा से यह जगत पैदा होता है, उसमें ही ठहरता है तथा उसी में लय हो जाता है।

'जन्माद्यस्य यतः'

इस प्रतिपत्तिका में भले ही जीव की सत्ता जैन दर्शन के समान शाश्वत, चिरन्तन स्वयंभूत, अखण्ड, अभेद्य, विज्ञ, कर्त्ता एवं अविनाशी न मानी जाये फिर भी वह 'ग्रंथी' जीव सृष्टि के अन्य समस्त मानवों में समान रूप से एक ही सत्ता के दर्शन तो करता है और इसी कारण हम यह देखते हैं कि भारतीय इतिहास में स्मृति-युग के पूर्व समाज में वर्ग व्यवस्था तो थी किन्तु उन विभिन्न वर्गों का आधार उनका कर्म था, जन्म नहीं। 'श्रीमद्भागवत' तक इन विभिन्न वर्गों के प्रति सामाजिक दृष्टि से समानता की भावना ही निहित मिलती है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः

ब्राह्मण जाति के आधार नर नहीं प्रत्युत ब्रह्म को जानने के आधार पर ब्राह्मण माना जाता था—

'ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः'

जो ब्राह्मण होकर भी तदुपरान्त ब्राह्मण का सा आचरण त्याग देते थे वे उसी जीवन में शूद्र हो जाते थे—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्
सा जीवन्नेव शूद्रत्वभाशुगच्छति सान्वयः ।।

कर्मों के व्यत्यय वा विपर्यय से ही वर्ण बदलते थे—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियो जात एवं तु विद्याद् वैश्यं तथैव च ।।

—मनुस्मृति

शूद्रोऽपि शील सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रादप्यवरो भवेत् ।।

—महाभारत

जब शांकर वेदान्त में केवल ब्रह्म को सत्य माना गया तथा जगत् को स्वप्न एवं मायारचित गन्धर्व नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य घोषित किया गया, रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत की भांति ब्रह्म से सत्य भासता हुआ मान लिया गया तो इस विचार दर्शन के कारण आध्यात्मिक-दर्शन एवं सामाजिक-दर्शन का सम्बन्ध टूट गया क्योंकि आध्यात्मिक साधकों के लिए जगत् की सत्ता ही असत्य एवं मिथ्या हो गयी। इसके परिणामस्वरूप दर्शन के धरातल पर तो "अद्वैतवाद" की स्थापना होती रही

किन्तु समाज के धरातल पर 'समाज के हितैषियों' ने उसे साग्रह वर्णों, जातियों, उप-जातियों में बांट दिया। एक परब्रह्म द्वारा बनाये जाने पर भी 'जन्मना' ही आदमी और आदमी के बीच में तरह तरह की दीवारें खड़ी कर दी गयी। जाति-पांति, ऊँच-नीच की भेद-भावना में मध्ययुगीन राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था एवं मध्ययुगीन धार्मिक आडम्बरों का बहुत योग रहा है। इस युग में राजप्रसादों एवं देव मन्दिरों दोनों के वैभव का वर्णन एक दूसरे से अधिक मिलता है। किसी भी राजधानी में नगर के वैभवपूर्ण, कलात्मक एवं सौन्दर्य का प्रतिमान प्रसाद या तो राजा का होता था या देवता का। राजागण सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए 'शरीर' को अमर बना रहे थे, मुसलमान सेनायें दुर्गों के द्वारों को तोड़ रही थीं किन्तु राजा परमर्दि नग्न स्त्रियों का नाच देख रहा था, लक्ष्मणसेन मातंगी से खेल रहा था, हरिराज नर्तकियों एवं वेश्याओं में निमग्न था। देव मन्दिर भी सुरतिक्रियारत स्त्री-पुरुषों के चित्रों से सज्जित हो रहे थे। कोणार्क, पुरी एवं खजुराहों के मन्दिर इसके प्रमाण हैं। राजप्रासादों में दरबारदारी होते थे तो मन्दिरों में देवदासियां।

भक्ति का तेजी से विकास :

इस्लाम के आगमन के पश्चात् भक्ति का तेजी से विकास हुआ। इस भक्ति में भी सामन्तीकरण की प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं। राजागण की वृत्तियों की प्रतिच्छाया मधुरा भाव एवं परकीया प्रेमवाद में देखी जा सकती हैं।

इसके अतिरिक्त राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में राजा ही सर्वोच्च सर्व-शक्तिमान है। उसके दरबार में 'दरबारदारियों' की विनम्रता चरम सीमा पर होती है। उसकी कृपा पर ही राजाश्रय निर्भर करता है।

भक्ति का मूल ही है—आराध्य की सेवा, शरणागति एवं आराधन। 'भक्ति' में भक्त भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना चाहता है; बिना उसके अनुग्रह के कल्याण नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी कारण लिखा कि वही जान सकता है जिसे वे अपनी कृपा द्वारा ज्ञान देते हैं—

"सो जानइ जेहि देहु जनाई"

—रामचरितमानस, अयोध्या १२७/३

पुष्टिमार्ग तो आधारित ही 'पुष्टि' अर्थात् 'भगवान् के अनुग्रह' पर है।

'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे कूं सब कुछ दरसाई'

—सूरदास

इस प्रकार राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था एवं मध्ययुगीन भक्ति का स्वरूप समान आयामों को लेकर चला। राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में समाज में प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकार प्राप्त नहीं होते; वहां समाज में राजा के अनुग्रह एवं इच्छानुसार समाज

कहां उठता है ? 'सूत्रकृतांग' में इस सम्बन्ध में निर्भ्रान्ति रूप में प्रतिपादित किया गया है कि आत्मा अपने स्वयं के उपार्जित कर्मों से ही बंधता है तथा कृतकर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है।

प्राणी मात्र की पूर्ण स्वतंत्रता, समता एवं स्वावलम्बित स्थिति की विवेचना की जा चुकी है। अहिंसावाद पर आधारित क्षमा, मैत्री, स्वसंयम एवं पर-प्राणियों को आत्मतुल्य देखने के विचार से परस्पर सौहार्द एवं बन्धुत्व की भावना जैन दर्शन में व्याख्यायित है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माओं को एक सी माना गया है। जैन दर्शन में यह भी निरूपित किया गया है कि जो ज्ञानी आत्मा इस लोक में छोटे बड़े सभी प्राणियों को आत्म तुल्य देखते हैं षटद्रव्यात्मक इस महान् लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्तभाव से संयम में रत रहते हैं वे ही मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हैं।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दृष्टि पर आधारित होने के कारण किसी विशेष आग्रह से अपने को युक्त नहीं करता। सत्यानुसंधान एवं सहिष्णुता की पहली शर्त अनेकान्तवादी दृष्टि है। पक्षपात रहित व्यक्ति की बुद्धि विवेक का अनुगमन करती है। आग्रहीपुरुष तो अपनी प्रत्येक युक्ति को वहां ले जाता है जहां उसकी बुद्धि सन्निविष्ट रहती है—

आग्रही वत् निनीषति युक्ति
तत्र यत्र पतिरस्य निविष्टा
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र
तत्र पतिरेति निवेशम्

—हरिभद्र

प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था की आधार-भित्ति किसी विषय पर विविध दृष्टि से विचार करके सत्य पर पहुँचने के सिद्धान्त में निहित है। अनेकान्तवाद भी इस भूमि पर निर्मित है कि एक ही सीमित दृष्टि से देखने पर वस्तु का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण धर्म होते हैं। सामान्य दृष्टि से सभी का ज्ञान एकदम सम्भव नहीं है।

आज के युग में वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन एवं आध्यात्मिक दर्शन के सम्मिलन की अत्यधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से दर्शन के अद्वैत एवं विज्ञान के सापेक्षवाद की सम्मिलन भूमि जैन दर्शन का अनेकान्त हो सकती है।

महावीर और आइन्स्टीन :

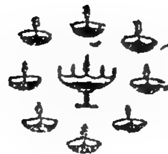
आज के महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन के सापेक्ष्यवाद एवं जैन दर्शन का अनेकान्तवादी वैचारिक धरातल काफी निकट है। आइन्स्टीन मानता है कि विविध सापेक्ष्य स्थितियों में एक ही वस्तु में विविध विरोधी गुण पाये जाते हैं। सत्य दो प्रकार के होते हैं—

(१) सापेक्ष्य सत्य (Relative Truth)
(२) नित्य सत्य (Absolute Truth)

आइन्स्टीन के मतानुसार हम केवल सापेक्ष्य सत्य को जानते हैं, नित्य सत्य का ज्ञान तो सर्व विश्व दृष्टा को ही हो सकता है।

जैन दर्शन भी इस दृष्टि से एकत्व या नानात्व दोनों को सत्य मानता है। अस्तित्व की दृष्टि से सब द्रव्य एक हैं अतः एकत्व भी सत्य है उपयोगिता की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं अतः नानात्व भी सत्य है। एकत्व की व्याख्या संग्रहनय अथवा निश्चयनय के आधार पर तथा नानात्व की व्याख्या व्यवहारनय के आधार पर की गयी है। वस्तु के गुण धर्म चाहे नय विषयक हों चाहे प्रमाण विषयक, किन्तु वे परस्पर सापेक्ष्य होते हैं।

इस प्रकार भगवान् महावोर ने जिस जीवन दर्शन को प्रतिपादित किया है वह आज के मानव की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की समस्याओं का अहिंसात्मक पद्धति से समाधान प्रस्तुत करता है। यह दर्शन आज के प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था एवं वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिन्तन के भी अनुरूप है। इस सम्बन्ध में सर्वपल्ली राधाकृष्णन का यह वाक्य कि "जैन दर्शन सर्वसाधारण को पुरोहित के समान धार्मिक अधिकार प्रदान करता है" अत्यन्त संगत एवं सार्थक है। "अहिंसा परमो धर्मः" को चिन्तन-केन्द्र मानने पर ही संसार से युद्ध एवं हिंसा का वातावरण समाप्त हो सकता है। आदमी के भीतर की अशान्ति, उद्वेग एवं मानसिक तनावों को यदि दूर करना है तथा अन्ततः मानव के अस्तित्व को बनाए रखना है तो भगवान महावीर की वाणी को युगीन समस्याओं एवं परिस्थितियों के संदर्भ में व्याख्यायित करना होगा। यह ऐसी वाणी है जो मानव मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करती है, सापेक्षवादी सामाजिक संरचनात्मक व्यवस्था का चिन्तन प्रस्तुत करती है; पूर्वाग्रह रहित उन्मुक्त दृष्टि से दूसरों को समझने एवं अपने को समझाने के लिये अनेकांतवादी जीवन दृष्टि प्रदान करती है, समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार एवं स्व प्रयत्न से विकास करने के समान साधन जुटाती है। महावीर के दर्शन क्रियान्वयन से परस्पर सहयोग, सापेक्षता, समता एवं स्वतंत्रता के आधार पर समाज संरचना सम्भव हो सकेगी; समाज को जिन अनेक वर्गों, वादों, वर्णों, जातियों एवं उपजातियों में साग्रह बांट दिया गया था, वे भेदक बंधन टूट सकेंगे। ●●●



४३

आधुनिक युग और भगवान् महावीर

• पं० दलसुख मालवणिया

विज्ञान और धर्म :

विज्ञान ने अपने प्रारम्भ में तो धार्मिक मान्यताओं का विरोध किया था और समझा जाने लगा था कि विज्ञान और धर्म का कभी मेल नहीं हो सकता। एक अंश में यह बात सत्य भी थी क्योंकि पश्चिम में ही इस विज्ञान का उदय हुआ और वहां धर्म का तात्पर्य था केवल ख्रिस्ती धर्म और उसकी मान्यताओं से। किन्तु जब पश्चिम के विद्वानों को भारतीय विविध धर्मों और उनकी परस्पर विरोधी मान्यताओं का परिचय होने लगा तो पहले यह स्थिति थी कि जो धार्मिक मान्यताएं ख्रिस्ती धर्म से अनुकूल थी उन्हें तो वे धर्म के क्षेत्र में सम्मिलित करने को राजी हो गये किन्तु जैन और बौद्ध जिनकी ईश्वर विषयक मान्यताए ख्रिस्ती और कुछ वैदिक धार्मिक सम्प्रदायों से भी विरुद्ध थीं, उन्हें धर्म कैसे कहा जाय—यह उनकी समझ में नहीं आया। किन्तु जैसे धर्म की विविधता और उनमें ध्येय की एकता जब उन्होंने देखी तो वे जैन और बौद्ध धर्म भी धर्म हो सकते है और धर्म हैं—ऐसा मानने लगे। अब किसी को सन्देह नहीं रहा है कि जगन्नियंता और जगत्कर्ता ईश्वर को न मान कर भी धार्मिक बना जा सकता है। और इसलिए विज्ञान और धर्म में दिखाई देने वाले विरोध की खाई कम हो गई है।

बाहरी भटकाव बनाम आन्तरजगत् की खोज :

विज्ञान ने अब तक विशेष ध्यान बाह्य जगत् के निरीक्षण—परीक्षण में दिया है किन्तु अब जब वह बाह्य जगत् की मूल शक्ति की शोध तक पहुँच गया है तब उसका विशेष ध्यान आन्तर जगत् की ओर गया है। विज्ञान ने सुख-सुविधा के अनेक साधन जुटा दिये, इतना ही नहीं, किन्तु विकास के भी चरम सीमा के साधन जुटा दिये हैं। परिस्थिति यह हुई है कि किसी एक अंगुली के गलत चलने पर अणुबम का विस्फोट होकर मनुष्य जगत् का क्षण भर में विनाश हो सकता है। वैज्ञानिकों ने इस मानव भक्षी तो क्या समग्र जीव भक्षी राक्षस को पैदा तो कर लिया अब उसे कैसे काबू में रखा जाय, यही समस्या पैदा हो गई है। चन्द्र और उससे भी परे मनुष्य पहुँच गया किन्तु अब उसे मालूम हुआ है कि वह बाहर ही भटक रहा है। उसने अपने भीतरी तत्व का तो निरीक्षण-परीक्षण किया ही नहीं। और जब तक वह इस आंतर-जगत् की खोज नहीं करता—मानव या जीव जगत् की जो समस्या है उसका हल उसे मिल नहीं सकता है। अतएव

वह अब आंतरजगत् की खोज में लगा है। दिमाग और मन की शोध भी वह कई वर्षो से कर रहा है किन्तु जो रहस्य खुल रहे हैं उनसे वह संतुष्ट नहीं है। इन दिमाग और मन दोनों से भी परे कोई तत्व है उसे ही खोजना सब वैज्ञानिकों ने ठान लिया है। वैज्ञानिक अपनी इस खोज में भी सफल होंगे ही और किसी न किसी दिन वे आंतरजगत् के रहस्य को भी सुलझा देंगे, ऐसा हमें विश्वास करना चाहिए। जब तक वे उसमें सफल नहीं होते तब तक हमें राह देखकर बैठे नहीं रहना है—मानव समाज की जो समस्याएं हैं उन्हें धर्म किस प्रकार सुलझा सकता है, इस पर विचार करना ही चाहिए। यहां तो आधुनिक युग की समस्या के हल के लिए भगवान् महावीर का क्या सन्देश है यह देखना है।

महावीर की देन : आत्मनिर्भरता की साधना :

धार्मिक जगत् को सबसे बड़ी कोई देन भगवान् महावीर ने दी है तो वह है आत्मनिर्भरता। आज का वैज्ञानिक ईश्वर से छुट्टी ले रहा है। "God is dead" का नारा बुलन्द हो रहा है किन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर का उपदेश ही नहीं किन्तु आचरण भी इसी नारे के आधार पर था। उन्होंने जब साधना शुरू की तब ही अपनी साधना के लिए अकेले निःसहाय होकर साधना करने की प्रतिज्ञा की। इन्द्र ने उनकी साधनाकाल में मदद करना चाहा किन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया और कहा कि अपनी शक्ति पर अटल विश्वास के बल पर ही साधना की जा सकती है। साधना भी क्या थी? कोई ईश्वर या वैसी बौद्ध शक्ति की भक्ति और प्रार्थना नहीं किन्तु अपनी आत्मा का निरीक्षण ही था। अपनी आत्मा में रहे हुए राग और द्वेष को दूर कर आत्मा को विशुद्ध करने की तमन्ना थी। इसी तमन्ना के कारण ये नाना प्रदेशों में अपने साधनाकाल में घूमते रहे, जिससे यह कोई शायद ही जान सके कि वह तो वैशाली का राजकुमार है—इसे सुख-सुविधा दी जानी चाहिए। दूर-सुदूर अनार्य देश में भी घूमे जहां उन्हें नाना प्रकार के कष्ट दिए गए। अपनी आत्मा में साम्यभाव कितना है इसके परीक्षण के लिए वे जानबूझकर अनार्य देश में गये थे और विशुद्ध सुवर्ण की तरह अग्नि से तप कर वे आत्मा को विशुद्ध कर पुनः अपने देश में लौटे। यही उनकी आत्मनिर्भरता की साधना थी। जो उनके उपदेशों में भी है।

उनका उपदेश जो 'आचारांग' में संगृहीत है, उसका प्रथम वाक्य है जीव यह नहीं जानता कि वह कहां से आया है और कहां जाने वाला है? जो यह जान लेता है कि यह जीव नाना योनियों में भटक रहा है वही आत्मवादी-हो सकता है, कर्मवादी हो सकता है, क्रियावादी हो सकता है, लोकवादी हो सकता है। पुनर्जन्म की निष्ठा कहो या आत्मा की शाश्वत स्थिति की निष्ठा, इस वाक्य में स्पष्ट होती ही है। साथ ही कर्म और लोक के विषय में उनकी निष्ठा भी स्पष्ट होती है। सारे संसार में जो कुछ हो रहा है वह जीव के कर्म और क्रिया के कारण ही हो रहा है। कोई ईश्वर संसार का निर्माण नहीं करता। जीव अपने कर्म से ही अपने संसार का निर्माण करता है—यह तथ्य जीव को आत्मनिभर बनाता है। कर्म करना जैसे जीव के अधीन है वैसे कर्म से मुक्त होना भी जीव के अधीन है किसी की कृपा के अधीन जीव की मुक्ति नहीं।

सर्वसाम्य का मूल : त्याग और संयम :

आज के व्यावहारिक जगत् में भी आत्मनिर्भरता का यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। अरबों ने तेल की नई नीति अपनाई तो सारा विश्व कांप उठा है और परेशान है। और आत्मनिर्भर कैसे बना जाय इसके लिए नाना उपाय सोचे जा रहे हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि आत्मनिर्भर बनना हो तो संयम अनिवार्य है। अपने उपयोग में आने वाली वस्तुओं का अनिवार्य होने पर ही उपयोग करना यह संयम नहीं तो और क्या है? इसी में से जीवन में संयम की आवश्यकता महसूस होकर व्यक्ति संयम की ओर अग्रसर होता है, राष्ट्र और समाज भी संयम की ओर अनिवार्य रूप से अग्रसर होता है। इसी संयम को यदि जीवन का ध्येय मान लिया जाय तब वह आगे जाकर जीवन की साधना का रूप ले लेता है और त्याग प्रधान जीवन की ओर अनिवार्य रूप से प्रयाण होता है। यही साधुता है, यही श्रमण है। भगवान् महावीर के इस मौलिक सन्देश की आज जितनी आवश्यकता है, कभी उतनी नहीं थी।

विश्व में जो लड़ाइयां होती हैं उसका मूल कारण मनुष्य में रही हुई परिग्रह वृत्ति ही है। यदि इस परिग्रह वृत्ति को दूर किया जाय तो लड़ाई का कारण नहीं रहे। भगवान् महावीर ने अपनी साधना का प्रारम्भ ही परिग्रह मुक्ति से किया है और साधना की पूर्णाहुति के बाद जो उपदेश दिया उसमें भी सबसे बड़े बन्धन रूप में परिग्रह के पाप को ही बताया है। मनुष्य हिंसा करता है या चोरी या झूठ बोलता है तो उसका कारण परिग्रह वृत्ति ही है। यदि परिग्रह की भावना नहीं तो वह क्यों हिंसा करेगा, क्यों झूठ या अन्य अनाचार का सेवन करेगा? जीवन में जितना संयम उतनी ही परिग्रह वृत्ति की कमी। परिग्रह से सर्वथा मुक्ति का नाम है राग और द्वेष से मुक्ति अर्थात् वीतरागता। जो वीतराग बना उसके लिए मेरा-तेरा रहता नहीं और जहां यह भाव नष्ट हुआ वहां सर्वसाम्य की भावना आती है। सर्वसाम्य की भावना के मूल में परिग्रह का त्याग अनिवार्य है। और इसी के लिए भगवान् ने अपने जीवन में साधना की और वीतराग होकर अन्य जीवों को मुक्त कराने के लिए प्रयत्न किया। उनके जीवन में साधना का प्रारम्भ सामायिक व्रत से होता है और पूर्णाहुति वीतराग भाव या सर्वसाम्य भाव से होती है।

यह सामायिक क्या है? 'आचारांग' में कहा है—सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, सभी को सुख प्रिय है, दुःख कोई नहीं चाहता अतएव किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। यही हुआ सामायिक व्रत या जीवों के प्रति समभाव धारण करने का व्रत। यह व्रत तब ही सिद्ध हो सकता है जब व्यक्ति या समाज या राष्ट्र निःस्वार्थ होकर जीना सीखे, सब सुख दुःख में समभागी बनना सीखें। यह तब ही हो सकता है जब विश्व में वात्सल्य भाव की जागृति हो। विश्व एक है अतएव कोई देश अत्यन्त सुखी है और अन्य अत्यन्त गरीब—यह व्यवस्था टिक नहीं सकती है। यह भाव रह-रह कर विश्व में फैल रहा है, अब मन चाहे तब कोई किसी पर आक्रमण नहीं कर सकता, करके भी उसका फल तो ले ही नहीं सकता। यह सब व्यवस्था आज क्रमशः विश्व संस्था के

द्वारा हो रही है। दुनिया ने स्वार्थी लड़ाइयां बहुत देखी हैं उनके निवारण के लिए एटम बम बनाये किन्तु आज उसी एटम बम से दुनिया त्रस्त है। सुख का उपाय एटम बम नहीं किन्तु बांट कर खाना—यही है। यही समभाव की विजय है। दुनिया माने या न माने इसी समभाव के रास्ते पर चलने के सिवा कोई चारा नहीं।

अहिंसा की पूर्णता विश्व-वात्सल्य में :

अहिंसा का सन्देश भगवान् महावीर ने दिया उसका तात्पर्य विश्व-वात्सल्य से है। यदि विश्व-वात्सल्य में अहिंसा भाव परिणत नहीं होता है तो वह अहिंसा की पूर्णता नहीं है। मनुष्य शत्रुओं को अपने बाहर खोजता है। वस्तुतः शत्रु की खोज अपने भीतर होनी चाहिए। भगवान् महावीर ने कहा है कि 'अरे जीव बाहर शत्रु क्यों खोजता है वह तो तेरे भीतर ही है।' राग और द्वेष ये ही बड़े शत्रु हैं—यदि इनका निराकरण किया तो कल कोई भी शत्रु दीखेगा नहीं। इस वीतराग भाव की भी सिद्धि तब ही हो सकती है जब मनुष्य अन्तर्मुखी हो। विज्ञान ने बाहर बहुत कुछ देख लिया किन्तु मनुष्य या राग-द्वेष की समस्या का वह हल नहीं कर सका। परिग्रह का सा भाव वह जुटा सकता है किन्तु उचित बंटवारा तो मनुष्य के स्वभाव पर आधारित है और यदि वही नहीं बदला तो परिग्रह का ढेर लग जाय तब भी वह सुखी नहीं हो सकता। सुखी तो वह तब ही होगा जब वह वस्तुतः अपने भीतरी राग-द्वेष का निराकरण करके विश्व वत्सल बनेगा। दुनिया में विज्ञान ने बहुत कुछ प्रगति कर ली। किन्तु भीतर नहीं देखा। परिणाम स्पष्ट है—अनेक विश्व युद्ध हुए इन सबके निवारण का उपाय अन्तर-जगत् की शोध है और उसका रास्ता भगवान् महावीर ने बताया है।

मनुष्य-स्वभाव की स्वतन्त्रता है तो विचार-भेद अनिवार्य है। विचार-भेद को लेकर मतभेद किया जा सकता है किन्तु मन भेद तो नहीं होना चाहिए। मतभेद होते हुए भी भावात्मक एकता का नारा आज बुलन्द किया जाता है क्योंकि दुनिया में कई राजनीतिक प्रणालियां चलती हैं। अतएव सब प्रणालियां अपने-अपने क्षेत्र में चलें, एक दूसरे का विरोध न करें इस प्रकार की भावात्मक एकता का स्वीकार, नाना प्रणाली की सहस्थिति शक्य है और अनिवार्य है ऐसी भावना राजनैतिकों में बढ़ रही है। किन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने विरोधी मतों के समन्वय का मार्ग वैचारिक अहिंसा अर्थात् अनेकान्तवाद उपस्थित किया था, वह आज हमें भावात्मक एकता कहो या सहस्थिति कहो—उस रूप में उपयोगी सिद्ध हो रहा है। अतएव इस समन्वय के सिद्धान्त को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यदि मानव समाज लागू करता है तो उसका कल्याण ही नहीं विश्व मैत्री भी सिद्ध की जा सकती है।

••••



वर्तमान में भगवान् महावीर के तत्त्व-चिन्तन की सार्थकता

• डॉ० नरेन्द्र भानावत

महावीर का विराट् व्यक्तित्व :

वर्द्धमान भगवान् महावीर विराट् व्यक्तित्व के धनी थे। वे क्रांति के रूप में उत्पन्न हुए थे। उनमें शक्ति-शील-सौन्दर्य का अद्भुत प्रकाश था। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। यद्यपि वे राजकुमार थे, समस्त राजसी ऐश्वर्य उनके चरणों में लौटते थे तथापि पीड़ित मानवता और दलित-शोषित जन-जीवन से उन्हें सहानुभूति थी। समाज में व्याप्त अर्थ-जनित विषमता और मन में उद्भूत काम-जन्य वासनाओं के दुर्दमनीय नाग को अहिंसा, संयम और तप के गारूड़ी संस्पर्श से कील कर वे समता, सद्भाव और स्नेह की धारा अजस्र रूप में प्रवाहित करना चाहते थे। इस महान् उत्तरदायित्व को, जीवन के इस लोक-संग्रही लक्ष्य को उन्होंने पूर्ण निष्ठा और सजगता के साथ सम्पादित किया।

वैज्ञानिक और सार्वकालिक चिन्तन :

महावीर का जीवन-दर्शन और उनका तत्त्व-चिन्तन इतना अधिक वैज्ञानिक और सार्वकालिक लगता है कि वह आज की हमारी जटिल समस्याओं के समाधान के लिए भी पर्याप्त है। आज की प्रमुख समस्या है सामाजिक-आर्थिक विषमता को दूर करने की। इसके लिए मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को हल के रूप में रखा। शोषक और शोषित के अनवरत पारस्परिक संघर्ष को अनिवार्य माना और जीवन की अन्तस् भाव चेतना को नकार कर केवल भौतिक जड़ता को ही सृष्टि का आधार माना। इसका जो दुष्परिणाम हुआ वह हमारे सामने है। हमें गति तो मिल गयी, पर दिशा नहीं, शक्ति तो मिल गयी, पर विवेक नहीं, सामाजिक वैषम्य तो सतही रूप से कम होता हुआ नजर आया, पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अनात्मीयता का फासला बढ़ता गया। वैज्ञानिक अविष्कारों ने राष्ट्रों की दूरी तो कम की पर मानसिक दूरी बढ़ा दी। व्यक्ति के जीवन में धार्मिकता-रहित नैतिकता और आचरण-रहित विचारशीलता पनपने लगी। वर्तमान युग का यही सबसे बड़ा अन्तर्विरोध और सांस्कृतिक संकट है। भ० महावीर की विचारधारा को ठीक तरह से हृदयंगम करने पर समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति भी सम्भव है और बढ़ते हुए इस सांस्कृतिक संकट से मुक्ति भी।

आवश्यकता से अधिक संग्रह : सामाजिक अपराध :

महावीर ने अपने राजसी जीवन में और उसके चारों ओर जो अनन्त वैभव रंगीनी देखी, उससे यह अनुभव किया कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है, सामाजिक अपराध है, आत्मा को छलना है। आनन्द का रास्ता है अपनी इच्छाओं को कम करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, क्योंकि हमारे पास जो अनावश्यक संग्रह है, उसकी उपयोगिता कहीं और है। कहीं ऐसा प्राणिवर्ग है जो उस सामग्री से वंचित है, जो उसके अभाव में संतप्त है, आकुल है, अतः हमें उस अनावश्यक सामग्री को संगृहीत कर रखना उचित नहीं। यह अपने प्रति ही नहीं, समाज के प्रति छलना है, धोखा है, अपराध है, इस विचार को अपरिग्रह-दर्शन कहा गया, जिसका मूल मन्तव्य है—किसी के प्रति ममत्व-भाव न रखना। वस्तु के प्रति भी नहीं, व्यक्ति के प्रति भी नहीं, स्वयं अपने प्रति भी नहीं।

ममत्व भाव न हो :

वस्तु के प्रति ममता न होने पर हम अनावश्यक सामग्री का तो संचय करेंगे ही नहीं, आवश्यक सामग्री को भी दूसरों के लिए विसर्जित करेंगे। आज के संकट काल में जो संग्रह-वृत्ति (होर्डिंग हेबिट्स) और तज्जनित व्यावसायिक लाभ-वृत्ति पनपी है, उससे मुक्त हम तब तक नहीं हो सकते जब तक कि अपरिग्रह-दर्शन के इस पहलू को हम आत्मसात् न कर लें।

व्यक्ति के प्रति भी ममता न हो, इसका दार्शनिक पहलू इतना ही है कि व्यक्ति अपने स्वप्नों तक ही न सोचे, परिवार के सदस्यों के हितों की ही रक्षा न करे, वरन् उसका दृष्टिकोण समस्त मानवता के हित की ओर अग्रसर हो। आज प्रशासन और अन्य क्षेत्रों में जो अनैतिकता व्यवहृत है उसके मूल में "अपनों के प्रति ममता" का भाव ही विशेष रूप से प्रेरक कारण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति पारिवारिक दायित्व से मुक्त हो जाय। इसका ध्वनित अर्थ केवल इतना ही है कि व्यक्ति 'स्व' के दायरे से निकलकर 'पर' तक पहुंचे। स्वार्थ की संकीर्ण सीमा को लांघ कर परार्थ के विस्तृत क्षेत्र में आये। सन्तों के जीवन की यही साधना है। महापुरुष इसी जीवन-पद्धति पर आगे बढ़ते हैं। क्या महावीर, क्या बुद्ध सभी इस व्यामोह से परे हटकर आत्मजयी बनें। जो जिस अनुपात में इस अनासक्त भाव को आत्मसात् कर सकता है वह उसी अनुपात में लोक-सम्मान का अधिकारी होता है। आज के तथाकथित नेताओं के व्यक्तित्व का विश्लेषण इस कसौटी पर किया जा सकता है। नेताओं के सम्बन्ध में आज जो दृष्टि बदली है और उस शब्द के अर्थ का जो अपकर्ष हुआ है उसके पीछे यही लोक-दृष्टि सक्रिय है।

"अपने प्रति भी ममता न हो"—यह अपरिग्रह-दर्शन का चरम लक्ष्य है। श्रमण-संस्कृति में इसीलिए शारीरिक कष्ट-सहन को एक ओर अधिक महत्व दिया है तो दूसरी ओर इस पार्थिव देह-विसर्जन (सल्लेखना) का विधान किया गया है। वैदिक संस्कृति में जो समाधि-अवस्था, या संतमत में जो सहजावस्था है, वह इसी कोटि की है। इस अवस्था

में व्यक्ति 'स्व' से आगे बढ़कर इतना अधिक सूक्ष्म हो जाता है कि वह कुछ भी नहीं रह जाता। योग-साधना की यही चरम परिणति है।

संक्षेप में महावीर की इस विचारधारा का अर्थ है कि हम अपने जीवन को इतना संयमित और तपोमय बनायें कि दूसरों का लेशमात्र भी शोषण न हो, साथ ही स्वयं में हम इतनी शक्ति, पुरुषार्थ और क्षमता भी अर्जित कर लें कि दूसरा हमारा शोषण न कर सके।

जीवन-व्रत-साधना :

प्रश्न है ऐसे जीवन को कैसे जीया जाए? जीवन में शील और शक्ति का यह संगम कैसे हो? इसके लिए महावीर ने "जीवन-व्रत-साधना" का प्रारूप प्रस्तुत किया। साधना-जीवन को दो वर्गों में बांटते हुए उन्होंने बारह व्रत बतलाये। प्रथम वर्ग, जो पूर्णतया इन व्रतों की साधना करता है, वह श्रमण है, मुनि है, संत है, और दूसरा वर्ग, जो अंशतः इन व्रतों को अपनाता है, वह श्रावक है, गृहस्थ है, संसारी है।

इन बारह व्रतों की तीन श्रेणियां हैं : पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत। अणुव्रतों में श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का त्याग करता है। व्यक्ति तथा समाज के जीवन-यापन के लिए वह आवश्यक सूक्ष्म हिंसा का त्याग नहीं करता। जबकि श्रमण इसका भी त्याग करता है, पर उसे भी यथाशक्ति सीमित करने का प्रयत्न करता है। इन व्रतों में समाजवादी समाज-रचना के सभी आवश्यक तत्त्व विद्यमान हैं।

प्रथम अणुव्रत में निरपराध प्राणी को मारना निषिद्ध है, किन्तु अपराधी को दण्ड देने की छूट है। दूसरे अणुव्रत में धन, सम्पत्ति, परिवार आदि के विषय में दूसरे को धोखा देने के लिए असत्य बोलना निषिद्ध है। तीसरे व्रत में व्यवहार शुद्धि पर बल दिया गया है। व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखाकर घटिया दे देना, दूध में पानी आदि मिला देना, झूठा नाप, तोल तथा राज-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करना निषिद्ध है। इस व्रत में चोरी करना तो वर्जित है ही किन्तु चोर को किसी प्रकार की सहायता देना या चुरायी हुई वस्तु को खरीदना भी वर्जित है। चौथा व्रत स्वदार-सन्तोष है जो एक ओर काम-भावना पर नियमन है तो दूसरी ओर पारिवारिक संगठन का अनिवार्य तत्त्व है। पांचवें अणुव्रत में श्रावक स्वेच्छापूर्वक धन-सम्पत्ति, नौकर-चाकर आदि की मर्यादा करता है।

तीन गुणव्रतों में प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया है। शोषण की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के क्षेत्र को मर्यादित एवं उत्तरोत्तर संकुचित करते जाना ही इन गुणव्रतों का उद्देश्य है। छठा व्रत इसी का विधान करता है। सातवें व्रत में योग्य वस्तुओं के उपभोग को सीमित करने का आदेश है। आठवें में अनर्थदण्ड अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों को रोकने का विधान है।

चार शिक्षाव्रतों में आत्मा के परिष्कार के लिए कुछ अनुष्ठानों का विधान है। नवां सामाजिक व्रत समता की आराधना पर, दसवां संयम पर, ग्यारहवां तपस्या पर और बारहवां सुपात्रदान पर बल देता है।

इन बारह व्रतों की साधना के अलावा श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादान भी वर्जित हैं, अर्थात् उसे ऐसे व्यापार नहीं करने चाहिए जिनमें हिंसा की मात्रा अधिक हो, या जो समाज-विरोधी तत्त्वों का पोषण करते हों। उदाहरणतः चोरों-डाकुओं या वेश्याओं को नियुक्त कर उन्हें अपनी आय का साधन नहीं बनाना चाहिये।

इस व्रत-विधान को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महावीर ने एक नवीन और आदर्श समाज-रचना का मार्ग प्रस्तुत किया, जिसका आधार तो आध्यात्मिक जीवन जीना है पर जो मार्क्स के समाजवादी लक्ष्य से भिन्न नहीं है।

ईश्वर का जनतंत्रीय स्वरूप :

ईश्वर के सम्बन्ध में जो जैन-विचारधारा है, वह भी आज की जनतंत्रात्मक और आत्मस्वातन्त्र्य की विचारधारा के अनुकूल है। महावीर के समय का समाज बहुदेवोपासना और व्यर्थ के कर्मकाण्ड से बंधा हुआ था। उसके जीवन और भाग्य को नियंत्रित करती थी कोई परोक्ष अलौकिक सत्ता। महावीर ने ईश्वर के इस संचालक-रूप का तीव्रता के साथ खण्डन कर इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसके जीवन को नियंत्रित करते हैं उसके द्वारा किये गये कार्य। इसे उन्होंने 'कर्म' कह कर पुकारा। वह स्वयं कृत कर्मों के द्वारा ही अच्छे या बुरे फल भोगता है। इस विचार ने नैराश्यपूर्ण असहाय जीवन में आशा, आस्था और पुरुषार्थ का आलोक बिखेरा और व्यक्ति स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हो कर कर्मण्य बना।

ईश्वर के सम्बन्ध में जो दूसरी मौलिक मान्यता जैन दर्शन की है, वह भी कम महत्व की नहीं। ईश्वर एक नहीं, अनेक हैं। प्रत्येक साधक अपनी आत्मा को जीत कर, चरम साधना के द्वारा ईश्वरत्व की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। मानव-जीवन की सर्वोच्च उत्थान-रेखा ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। इस विचार-धारा ने समाज में व्याप्त पाखण्ड, अन्ध श्रद्धा और कर्मकाण्ड को दूर कर स्वस्थ जीवन-साधना या आत्म-साधना का मार्ग प्रशस्त किया। आज की शब्दावली में कहा जा सकता है कि ईश्वर के एकाधिकार को समाप्त कर महावीर की विचारधारा ने उसे जनतंत्रीय पद्धति के अनुरूप विकेन्द्रित कर सबके लिए प्राप्य बना दिया—शर्त रही जीवन की सरलता, शुद्धता और मन की दृढ़ता। जिस प्रकार राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति आज प्रत्येक नागरिक के लिए सुगम है, उसी प्रकार ये आध्यात्मिक अधिकार भी उसे सहज प्राप्त हो गये हैं। शूद्रों का और पतित समझी जाने वाली नारी-जाति का समुद्धार करके भी महावीर ने समाज-देह को पुष्ट किया। आध्यात्मिक उत्थान की चरम सीमा को स्पर्श करने का मार्ग भी उन्होंने सबके लिए खोल दिया—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, चाहे वह शूद्र हो, या चाहे और कोई।

जनतन्त्र से आगे प्राणतन्त्र :

महावीर ने जनतन्त्र से भी बढ़कर प्राणतन्त्र की विचारधारा दी। जनतन्त्र में मानव-न्याय को ही महत्व दिया गया है। कल्याणकारी राज्य का विस्तार मानव के लिए है, समस्त प्राणियों के लिए नहीं। मानव-हित को ध्यान में रखकर जनतन्त्र में अन्य प्राणियों के वध की छूट है, पर महावीर के शासन में मानव और अन्य प्राणी में कोई अन्तर नहीं। सबकी आत्मा समान है। इसीलिए महावीर की अहिंसा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है, महावीर की करुणा अधिक तरल और व्यापक है। वह प्राणिमात्र के हित की संवाहिका है।

हमें विश्वास है, ज्यों-ज्यों विज्ञान प्रगति करता जायगा, त्यों-त्यों महावीर की विचारधारा अधिकाधिक युगानुकूल बनती जाएगी।

•••••



४५

बदलते संदर्भों में महावीर-वाणी की भूमिका

• डॉ. प्रेम सुमन जैन

भगवान् महावीर के युग और आज के परिवेश में पर्याप्त अन्तर हुआ है। उस समय जिस धार्मिक अनुशासन की आवश्यकता थी उसकी पूर्ति महावीर ने की। उनके धर्म को आज २५०० वर्ष होने को हैं जब सब कुछ परिवर्तित हुआ है। प्रत्येक युग नए परिवर्तनों के साथ उपस्थित होता है। कुछ परम्पराओं को पीछे छोड़ देता है। किन्तु कुछ ऐसा भी शेष रहता है, जो अतीत और वर्तमान को जोड़े रहता है। बौद्धिक मानस इसी जोड़ने वाली कड़ी को पकड़ने और परखने का प्रयत्न करता है अतः आज के बदलते हुए संदर्भों में प्राचीन आस्थाओं, मूल्यों एवं चिन्तन-धाराओं की सार्थकता की अन्वेषणा स्वाभाविक है। भगवान् महावीर का धर्म मूलतः बदलते हुए सन्दर्भों का ही धर्म है। वह आज तक किसी सामाजिक कटघरे, राजनैतिक परकोटे तथा वर्ग और भाषागत दायरों में नहीं बन्धा। यथार्थ के धरातल पर वह विकसित हुआ है। तथ्य को स्वीकारना उसकी नियति है, चाहे वे किसी भी युग के हों, किसी भी चेतना द्वारा उनका आत्म-साक्षात्कार किया गया हो।

व्यापक परिप्रेक्ष्य :

वर्तमान युग जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में बदला नहीं, व्यापक हुआ है। भगवान् ऋषभ देव ने श्रमण धर्म की उन मूलभूत शिक्षाओं को उजागर किया था जो तात्कालिक जीवन की आवश्यकताएं थी। महावीर ने अपने युग के अनुसार इस धर्म को और अधिक व्यापक किया। जीवन-मूल्यों के साथ-साथ जीव मूल्य की भी बात उन्होंने कही। आचरण की अहिंसा का विस्तार वैचारिक अहिंसा तक हुआ। व्यक्तिगत उपलब्धि, चाहे वह ज्ञान की हो या वैभव की, अपरिग्रह द्वारा सार्वजनिक की गई। शास्त्रकारों ने इसे महावीर का गृहत्याग, संसार से विरक्ति आदि कहा, किन्तु वास्तव में महावीर ने एक घर, परिवार एवं नगर से निकल कर सारे देश को अपना लिया था। उनकी उपलब्धि अब प्राणि मात्र के कल्याण के लिए समर्पित थी। इस प्रकार उन्होंने जैन-धर्म को देश और काल की सीमाओं से परे कर दिया था। इसी कारण जैन-धर्म विगत ढाई हजार वर्षों के बदलते सन्दर्भों में कहीं खो नहीं सका है। मानव-विकास एवं प्राणी मात्र के कल्याण में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

बदलते संदर्भ :

आज विश्व का जो स्वरूप है, सामान्यरूप में चिन्तकों को बदला हुआ नजर आता है। समाज के मानदण्डों में परिवर्तन, मूल्यों का ह्रास, अनास्थाओं की संस्कृति, कुण्ठाओं और संत्रासों का जीवन, अभाव और भ्रष्ट राजनीति, सम्प्रेषण का माध्यम, भाषाओं का प्रश्न, भौतिकवाद के प्रति लिप्सा-संघर्ष तथा प्राप्ति के प्रति व्यर्थता का बोध आदि वर्तमान युग के बदलते संदर्भ हैं। किन्तु महावीर युग के परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह सब परिवर्तन कुछ नया नहीं लगता। इन्हीं सब परिस्थितियों के दबाव ने ही उस समय जैन धर्म एवं बौद्ध-धर्म को व्यापकता प्रदान की थी। अन्तर केवल इतना है कि उस समय इन बदलते सन्दर्भों से समाज का एक विशिष्ट वर्ग ही प्रभावित था। सम्पन्नता और चिन्तन के धनी व्यक्तित्व ही शाश्वत मूल्यों की खोज में संलग्न थे। शेष भीड़ उनके पीछे चलती थी। किन्तु आज समाज की हरेक इकाई बदलते परिवेश का अनुभव कर रही है। आज व्यक्ति सामाजिक प्रक्रिया में भागीदार है। और वह परम्परागत आस्थाओं—मूल्यों से इतना निरप्रेक्ष्य है, हो रहा है, कि उन किन्हीं भी सार्वजनीन जीवन मूल्यों को अपनाने को तैयार हैं, जो उसे आज की विकृतियों से मुक्ति दिला सके। जैन धर्म चूंकि लोकधर्म है, व्यक्ति-विकास की उसमें प्रतिष्ठा है। अतः उसके सिद्धान्त आज के बदलते परिवेश में अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

अहिंसा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि :

महावीर के धर्म में अहिंसा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। आज तक उसकी विभिन्न व्याख्याएं और उपयोग हुए हैं। वर्तमान युग में हर व्यक्ति कहीं न कहीं क्रान्तिकारी है। क्योंकि वह आधुनिकता के दंश को तीव्रता से अनुभव कर रहा है, वह बदलना चाहता है प्रत्येक ऐसी व्यवस्था को, प्रतिष्ठा को, जो उसके दाय को उस तक नहीं पहुंचने देती। इसके लिए उसका माध्यम बनती है हिंसा, तोड़-फोड़, क्योंकि वह टुकड़ों में बंटा यही कर सकता है। लेकिन हिंसा से किए गए परिवर्तनों का स्थायित्व और प्रभाव इनसे छिपा नहीं है। समाज के प्रत्येक वर्ग पर हिंसा की काली छाया मंडरा रही है। अतः अब अहिंसा की ओर झुकाव अनिवार्य हो गया है। अभी नहीं तो कुछ और भुगतने के बाद हो जाएगा। आखिरकार व्यक्ति विकृति से अपने स्वभाव में कभी तो लौटेगा।

आज की समस्याओं के सन्दर्भ में 'जीवों को मारना', 'मांस न खाना', आदि परिभाषाओं वाली अहिंसा बहुत छोटी पड़ेगी। क्योंकि आज तो हिंसा ने अनेक रूप धारण कर लिए हैं। परायापन इतना बढ़ गया है कि शत्रु के दर्शन किए बिना ही हम हिंसा करते रहते हैं। अतः हमें फिर महावीर की अहिंसा के चिंतन में लौटना पड़ेगा। उनकी अहिंसा थी—'दूसरे' को तिरोहित करने की, मिटा देने की। कोई दुःखी है तो 'मैं' हूं और सुखी है तो 'मैं' हूं। अपनत्व का इतना विस्तार ही अहंकार और ईर्ष्या के अस्तित्व की जड़ें हिला सकता है, जो हिंसा के मूल कारण हैं। जैन धर्म में इसीलिए 'स्व' को जानने पर इतना बल दिया गया है। आत्मज्ञान का विस्तार होने पर अपनी ही हिंसा और अपना ही अहित कौन करना चाहेगा ?

मुझसे छोटा कोई न हो :

जैन धर्म की अहिंसा की भूमिका वर्तमान युग की अन्य समस्याओं का भी उपचार है। अपरिग्रह का सिद्धान्त इसी का विस्तार है। किन्तु अपरिग्रह को प्रायः गलत समझा गया है। अपरिग्रह का अर्थ गरीवी या साधनों का अभाव नहीं है। महावीर ने गरीवी को कभी स्वीकृति नही दी। वे प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता के पक्षधर थे। महावीर का अपरिग्रह दर्शन आज की समाजवादी चिंतना से काफी आगे है। इस युग के समाजवाद का अर्थ है मुझसे वड़ा कोई न हो। सव मेरे वरावर हो जायें। किसी भी सीमित साधनों और योग्यता वाले व्यक्ति अथवा देश को इस प्रकार की वरावरी लाना बड़ा मुश्किल है। महावीर के अपरिग्रही का चिन्तन है—मुझ से छोटा कोई न हो। अर्थात् मेरे पास जो कुछ भी है वह सवके लिए है। परिवार, समाज व देश के लिए है। यह सोचना व्यावहारिक हो सकता है। इससे समानता की अनुभूति की जा सकती है। केवल नारा वनकर अपरिग्रह नहीं रहेगा। वह व्यक्ति से प्रारम्भ होकर आगे वढ़ता है, जवकि समाजवाद व्यक्ति तक पहुँचता ही नहीं है। अपरिग्रह सम्पत्ति के उपभोग की सामान्य अनुभूति का नाम है, स्वामित्व का नहीं। अतः विश्व की भौतिकता उतनी भयावह नही है, उसका जिस ढंग से उपयोग हो रहा है, समस्याएं उससे उत्पन्न हुई है। अपरिग्रह की भावना एक ओर जहां आपस की छीना-झपटी, संचय-वृत्ति आदि को नियंत्रित कर सकती, है, दूसरी ओर भौतिकता से परे आध्यात्म को भी इससे वल मिलेगा।

वैचारिक उदारता :

विश्व में जितने झगड़े अर्थ और भौतिकवाद को लेकर नहीं है, उतने आपस की आपसी-विचारों की तनातनी के कारण है। हर व्यक्ति अपनी वात कहने की धुन में दूसरे की कुछ सुनना ही नहीं चाहता। पहले शास्त्रों की वातों को लेकर वाद-विवाद तथा आध्यात्मिक स्तर पर मतभेद होते थे। आज के व्यक्ति के पास इन वातों के लिए समय ही नही है। रिक्त हो गया है वह शास्त्रीय ज्ञान से। किन्तु फिर भी वैचारिक-मतभेद हैं। अव उनकी दिशा वदल गई है। अव सीमा-विवाद पर झगड़े है, नारों की शव्दावली पर तनातनी है, लोकतंत्र की परिभाषाओं पर गरमा-गरमी है। साहित्य के क्षेत्र में हर पढ़ने-लिखने वाला अपने मानदण्डों की स्थापनाओं में लगा हुआ है। भाषा के माध्यम को लेकर लोग खेमों में विभक्त है। ऐसी स्थिति में जैन धर्म या किसी भी धर्म की भूमिका क्या हो, कहना कठिन है। किन्तु जैन धर्म के इतिहास से एक वात अवश्य सीखी जा सकती है कि उसने कभी भाषा को धार्मिक वाना नहीं पहिनाया। जिस युग में जो भाषा संप्रेषण का माध्यम थी उसे उसने अपना लिया और इतिहास साक्षी है, जैन धर्म की इससे कोई हानि नहीं हुई है। अतः सम्प्रेषण के माध्यम की सहजता और सार्वजनीनता के लिए वर्तमान में किसी एक सामान्य भाषा को अपनाया जाना वहुत जरूरी है। मतभेद में सामञ्जस्य एवं शालीनता के लिए अनेकान्तवाद का विस्तार किया जा सकता है क्योंकि विना वैचारिक उदारता को अपनाये अहिंसा और अपरिग्रह आदि की सुरक्षा नहीं है।

जैन धर्म की आधुनिकता :

सूक्ष्मता से देखा जाय तो वर्तमान युग में महावीर द्वारा प्रणीत धर्म के अधिकांश सिद्धांतों की व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। ज्ञान-विज्ञान और समाज-विकास के क्षेत्र में जैन धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक विज्ञान ने जो हमे निष्कर्ष दिए हैं— उनसे जैन धर्म के तत्वज्ञान की अनेक बातें प्रमाणित होती जा रही हैं। वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में द्रव्य की 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तसत्' की परिभाषा स्वीकार हो चुकी है। जैन धर्म की यह प्रमुख विशेषता है कि उसने भेद विज्ञान द्वारा जड़-चेतन को सम्पूर्णता से जाना है। आज का विज्ञान भी निरन्तर सूक्ष्मता की ओर बढ़ता हुआ सम्पूर्ण को जानने की अभीप्सा रखता है।

वर्तमान युग में अत्यधिक आधुनिकता का जोर है। कुछ ही समय बाद वस्तुएं, रहन-सहन के तरीके, साधन, उनके सम्बन्ध में जानकारी पुरानी पड़ जाती है। उसे भुला दिया जाता है। नित नये के साथ मानव फिर जुड़ जाता है। फिर भी कुछ ऐसा है, जिसे हमेशा से स्वीकार कर चला जा रहा है। यह सब स्थिति और कुछ नहीं, जैन धर्म द्वारा स्वीकृत जगत् की वस्तु स्थिति का समर्थन है। वस्तुओं के स्वरूप बदलते रहते हैं, अतः अतीत की पर्यायों को छोड़ना, नयी पर्यायों के साथ जुड़ना यह आधुनिकता जैन धर्म के चिन्तन की ही फलश्रुति है। नित नयी क्रांतियां, प्रगतिशीलता, फैशन आदि वस्तु की 'उत्पादन' शक्ति की स्वाभाविक परिणति मात्र है। कला एवं साहित्य के क्षेत्र में अमूर्तता एवं प्रतीकों की ओर झुकाव, वस्तु की पर्यायों को भूल कर शाश्वत सत्य को पकड़ने का प्रयत्न है। यथार्थ वस्तु स्थिति में जीने का आग्रह 'यथार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' के अर्थ का ही विस्तार है।

स्वतंत्रता का मूल्य :

आज के बदलते संदर्भों में स्वतंत्रता का मूल्य तीव्रता से उभरा है। समाज की हर इकाई अपना स्वतंत्र अस्तित्व चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार एवं कर्तव्यों में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहता। जनतांत्रिक शासनों का विकास इसी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधार पर हुआ है। भगवान् महावीर ने स्वतंत्रता के इस सत्य को बहुत पहले घोषित कर दिया था। उनका धर्म न केवल व्यक्ति को अपितु प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को स्वतंत्र मानता है। इसलिए उसकी मान्यता है कि व्यक्ति स्वयं अपने स्वरूप में रहे और दूसरों को उनके स्वरूप में रहने दे। यही सच्चा लोकतंत्र है। एक दूसरे के स्वरूपो में जहां हस्तक्षेप हुआ, वही बलात्कार प्रारम्भ हो जाता हे, जिससे दुःख के सिवाय और कुछ नहीं मिलता।

वस्तु और चेतन की इसी स्वतंत्र सत्ता के कारण जैन धर्म किसी ऐसे नियन्ता को अस्वीकार करता है, जो व्यक्ति के सुख-दुःख का विधाता हो। उसकी दृष्टि में जड़-चेतन के स्वाभाविक नियम (गुण) सर्वोपरि हैं। वे स्वय अपना भविष्य निर्मित करेंगे। पुरुषार्थी बनेंगे। युवा शक्ति की स्वतंत्रता के लिए छटपटाहट इसी सत्य का प्रतिफलन है। इसीलिए

आज के विश्व में नियम स्वीकृत होते जा रहे हैं, नियन्ता तिरोहित होता जा रहा है। यही शुद्ध वैज्ञानिकता है।

दायरों से मुक्त-उन्मुक्त :

वस्तु एवं चेतन के स्वभाव को स्वतंत्र स्वीकारने के कारण जैन धर्म ने चेतन सत्ताओं के क्रम-भेद को स्वीकार नहीं किया। शुद्ध चैतन्य गुण समान होने से उसकी दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं। ऊंच-नीच, जाति, धर्म आदि के आधार पर व्यक्तियों का विभाजन महावीर को स्वीकार नहीं था। इसीलिए उन्होंने वर्गविहीन समाज की बात कही थी। प्रतिष्ठानों को अस्वीकृत कर वे स्वयं जन सामान्य में आकर मिल गये थे। यद्यपि उनकी इस बात को जैन धर्म को मानने वाले लोग अधिक दिनों तक नहीं निभा पाये। भारतीय समाज के ढांचे से प्रभावित हो जैन धर्म वर्गविशेष का होकर रह गया था, किन्तु आधुनिक युग के बदलते संदर्भ जैन धर्म को क्रमशः आत्मसात् करते जा रहे हैं। वह दायरों से मुक्त हो रहा है। जैन धर्म अब उनका नहीं रहेगा जो परम्परा से उसे ढो रहे हैं। वह उनका होगा, जो वर्तमान में उसे जी रहे हैं।

नारी स्वातंत्र्य :

वर्तमान युग में दो बातों का और जोर है—नारी स्वातंत्र्य और व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा। नारी स्वातंत्र्य के जितने प्रयत्न इस युग में हुए हैं संभवतः उससे भी अधिक पुरजोर शब्दों में नारी स्वातंत्र्य की बात महावीर ने अपने युग में कही थी। धर्म के क्षेत्र में नारी को आचार्य पद की प्रतिष्ठा देने वाले वे पहले चिंतक थे। जिस प्रकार पुरुष का चैतन्य अपने भविष्य का निर्माण करने की शक्ति रखता है, उसी प्रकार नारी की आत्मा भी। अतः आज समान अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई नारी अपनी चेतनता की स्वतन्त्रता को प्रामाणिक कर रही है।

व्यक्तित्व का विकास :

जैन धर्म में व्यक्तित्व का महत्व प्रारम्भ से ही स्वीकृत है। व्यक्ति जब तक अपना विकास नहीं करेगा वह समाज को कुछ नहीं दे सकता। महावीर स्वयं सत्य की पूर्णता तक पहले पहुंचे तब उन्होंने समाज को उद्बोधित किया। आज के व्यक्तिवाद में व्यक्ति भीड़ से कटकर चलना चाहता है। अपनी उपलब्धि में वह स्वयं को ही पर्याप्त मानता है। जैन धर्म की साधना, तपश्चरण की भी यही प्रक्रिया है। व्यक्तित्व के विकास के बाद सामाजिक उत्तरदायित्वों को निबाहना।

सामाजिकता का बोध :

जैन धर्म सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विवेचन है। गहराई से देखें तो उनमें से प्रारम्भिक चार अंग व्यक्ति विकास के लिए हैं और अंतिम चार अंग सामाजिक दायित्वों से जुड़े हैं। जो व्यक्ति निर्भयी (निशंकित), पूर्णसन्तुष्ट (निःकांक्षित), देहगत वासनाओं से

परे (निर्विचिकित्सक) एवं विवेक से जागृत (अमूढ़दृष्टि) होगा वही स्वयं के गुणों का विकास कर सकेगा (उपबृंहण), पथभ्रष्टों को रास्ता बता सकेगा (स्थिरीकरण), सहधर्मियों के प्रति सौजन्य-वात्सल्य रख सकेगा तथा जो कुछ उसने अर्जित किया है, जो शाश्वत और कल्याणकारी है, उसका वह जगत् में प्रचार कर सकेगा। इस प्रकार जैन धर्म अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही उन तथ्यों और मूल्यों का प्रतिष्ठापक रहा है, जो प्रत्येक युग के बदलते सन्दर्भों में सार्थक हों तथा जिनकी उपयोगिता व्यक्ति और समाज दोनों के उत्थान के लिए हो। विश्व की वर्तमान समस्याओं के समाधान हेतु भगवान् महावीर की वाणी की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है, बशर्ते उसे सही अर्थों में समझा जाय, स्वीकारा जाय।

••••



४६

भगवान् महावीर की प्रासंगिकता

• डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

धर्म बनाम मूल्य :

'धर्म' शब्द संकुचित अर्थ में लिया जाए तो वह 'मजहब' या संकीर्ण सम्प्रदाय बन जाता है किन्तु यदि धर्म का अर्थ 'मूल्य' है, मानव मूल्य, तब धर्म व्यापक हो जाता है। तीर्थंकर महावीर के जीवन और उपदेशों में मुझे कहीं कोई संकीर्णता नहीं दिखाई पड़ती। वे एक मानव मूल्य व्यवस्था की स्थापना करते हैं। धर्म शब्द के स्थान पर 'मूल्य' कर दीजिए तो महावीर की शिक्षाएं प्रासंगिक लगने लगती हैं। जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियां नहीं बढ़तीं, जब तक इन्द्रियां अशक्त नहीं होतीं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।[१] इस वाक्य में 'धर्म' के स्थान पर मूल्य कर दीजिए तो वह आधुनिक व्यक्ति के लिए ग्रहणीय हो जाएगा।

महावीर के उपदेशों में इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, अभय और चेतना के उदात्तीकरण पर बल दिया गया है। प्रश्न यह है कि महावीर जीव दया पर इतना बल क्यों देते हैं? क्यों वह कठोर संयम और निग्रह की प्रशंसा करते हैं? संन्यास और वैराग्य को रेखांकित क्यों करते हैं?

मेरी समझ से कोई महात्मा या महापुरुष अपने धर्म या मूल्य की स्थापना, सामाजिक सन्दर्भ को देख कर ही करता है। महावीर जिस समाज के अंग थे, वह समाज हिंसा, अपहरण, भोग विलास, स्वेच्छाचार, प्रलोभन और अत्याचार पर आधारित था। इतिहास और समाजशास्त्र साक्षी देता है कि तात्कालिक समाज, वर्गविभक्त समाज था। अनेक जातियों और उपजातियों में बंटा समाज, अहिंसा पर आधारित नहीं था, हिंसा पर आधारित था। यह हिंसा वह पुरोहित करता था जो सामान्य जन की आस्था और विश्वास का उपयोग कर अपनी जीविका चलाता था और व्यवहार में अपने द्वारा उपदेशित धर्म के विरुद्ध आचरण करता था। यह हिंसा, वह क्षत्रिय करता था जो अक्षत्रियों पर शस्त्र बल से अपने वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करता था और कर, बेगार आदि द्वारा सामान्य जनता का शोषण करता था, यह हिंसा वह व्यापारी करता था जो अपने साहस और पूंजी के बल पर साधारण लोगों का आर्थिक शोषण करता था।

---

१. दशवैकालिक, ८।३६

सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा :

महावीर इस श्रेणी विभक्त, ऊँच-नीच, छुआ-छूत और दमन के ऊपर आधारित सामाजिक व्यवस्था के विरोधी थे। वे मानव मात्र की ओर से बोलते हैं, किसी एक वर्ग की ओर से नहीं—जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।[1] अहिंसा का यह सामाजिक, सार्वजनिक मूल्य किसे अस्वीकार्य हो सकता है? गौर से देखें तो हिंसा के लिए उत्तरदायी वर्गों को ही यहां सम्बोधित किया गया है क्योंकि दूसरों को शासित करने वाले लोग उच्च वर्ग के ही होते है। तत्वदर्शी समग्र प्राणिजनों को अपनी आत्मा के समान, देखता है।[2] जीवन अनित्य है, क्षण भंगुर है, फिर क्यों हिंसा में आसक्त होते हो।[3]

यह नहीं कि साधारण या शासित जन हिंसा नहीं करते परन्तु उनके सामने आदर्श या प्रारूप (माडल) उच्च वर्ग के भद्रजनों का होता है, यथा राजा तथा प्रजा। अतएव उत्तरदायित्व उन पर ही है जो समाज के प्रमुख व्यक्ति होते हैं। महावीर के उपदेशों की चोट, इसी 'भद्र समाज' पर है, उन अकिंचनों पर नहीं जो विवशता, अज्ञान या आदत से हिंसा करते हैं।

मूल्यों की सापेक्षता :

दूसरी बात जो महावीर के तत्वज्ञान को प्रासंगिक बनाती है, वह है मूल्यों की सापेक्षता यानी धर्म का देश, काल और पात्र को ध्यान में रखकर प्रयोग। सम्प्रदाय के रूप में महावीर मत को देखने वाले इस तथ्य की उपेक्षा कर धर्म की निरपेक्षता का प्रचार करते हैं।

धर्म का मूल आधार, मनुष्य का कल्याण है। यदि किसी धर्म या मूल्य से, मानव का अकल्याण होता है तो वह त्याज्य है। सत्य धर्म है परन्तु यदि वह संयम या अनुशासन का विरोधी है तो उसकी कोई सार्थकता नहीं। सत्य भी यदि संयम का घातक हो तो नहीं बोलना चाहिए।[4] ऐसा सत्य भी न बोलना चाहिए जिससे किसी प्रकार के पाप का आगमन होता हो।[5] और यह सत्य किस प्रकार उपलब्ध होता है? अपनी आत्मा द्वारा, यानी सत्य इस गवेषणा पर निर्भर है कि सत्यशोधक, अपने को उसका निकष बनाता है या नहीं। जिस बात या कर्म से अपने को कष्ट या अकल्याण होता हो, वह दूसरों के लिए धर्म कैसे हो सकता है? अतएव महावीर मूल्य की निरपेक्षता के विरोधी थे। वे मानवता-

---

१. आचारांग
२. सूत्रकृतांग
३. उत्तराध्ययन
४. प्रश्न व्याकरण २।२
५. दशवैकालिक, ७।११

वादी चिंतक थे और धर्म या मूल्य का निकष, मनुष्य को ही मानते थे।[1] ऐसा धर्म जिसमें मनुष्य की स्थिति, काल, दिक् और जीवन के वास्तविक प्रसंगों पर विचार न हो, जो सिर्फ किसी अमूर्त विचार या धारणा के लिए लोगों को कष्टकर हो, वह धर्म नहीं हो सकता क्योंकि धर्म के सत्य, अहिंसा आदि मूल्यों की कसौटी मनुष्य है। मनुष्य ही मूल्यों या धर्मों का अन्वेषक और प्रयोक्ता है। अतएव मनुष्य से बड़ा कोई नहीं है। मूल्य का विचार मनुष्य को केन्द्र में रख कर ही हो सकता है।

मूल्यों की सापेक्षता का सत्य अन्यत्र भी मिलता है। महाभारत में कृष्ण ने मूल्यों की सापेक्षता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था लेकिन सम्प्रदायवादियों ने उसे भुला दिया। यदि मूल्य और मनुष्य के हित में टकराहट हो तो मनुष्य का पक्ष लो, निरपेक्ष या अमूर्त मूल्य या धर्म का नहीं।

'महाभारत' में मूल्य द्वंद्व के लिए एक कथा आती है। वह इस प्रकार है :—

युद्ध में युधिष्ठिर घायल होकर शिविर में लौटते हैं। दुःख और ग्लानि में वे अर्जुन के गांडीव की निन्दा करते हैं। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि गांडीव के निंदक का वे वध कर देंगे अतः वे इस पूर्वप्रतिज्ञा से बद्ध होकर युधिष्ठिर पर झपटते हैं। कृष्ण उन्हें रोकते हैं। उधर युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा थी कि अर्जुन से अपमानित होने पर वे प्राण छोड़ देंगे। अतः वे घायल अवस्था में ही प्राण त्याग के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। विकट स्थिति है। इस स्थिति में धर्म क्या है?

कृष्ण धर्म का संबंध हित से स्थापित करते हैं। जिस कर्म, वचन या भावना से मनुष्यों का अहित हो वह अधर्म है। अर्जुन और युधिष्ठिर, दोनों जो कर्म करने जा रहे हैं, वह निरपेक्ष धर्म है, इसलिए त्याज्य है। निरपेक्ष धर्म लक्ष्य या प्रेरणावाक्य के रूप में रहे तो ठीक है किन्तु उस पर आचरण करते समय अनेक स्थितियों पर विचार आवश्यक है।

धर्म और मानवहित का सम्बन्ध महावीर भी स्थापित करते हैं। गांधीजी, निरपेक्षतावादी माने जाते हैं पर वस्तुतः वे भी सापेक्षतावादी थे, इसलिए अत्याचार की स्थिति में गांधीजी ने शक्ति प्रयोग को भी वैध माना था। कश्मीर पर लुटेरों के आक्रमण के समय, भारतीय सेना को प्रतिरक्षा के लिए भेजा था। महावीर सत्य और हित का सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित करते हैं—

सदा हितकारी सत्य बोलना चाहिए[2] हिंसा पैदा करने वाला झूठ मत बोलो।[3]

---

१. महावीर का तत्व-चिन्तन मात्र मनुष्य हित तक नहीं, प्राणीमात्र के कल्याण तक व्याप्त था। —सम्पादक

२. उत्तराध्ययन, १९।२६

३. दशवैकालिक, ६।१२

इसी प्रकार महावीर लोभ को चोरी मानते हैं। अहिंसा और सत्य से भी अधिक, महावीर असंग्रह पर बल देते हैं क्योंकि संग्रह के लिए असत्य बोलना पड़ता है। हिंसा करनी पड़ती है।

'मूल्यों की सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर ही, गृहस्थों और वैरागियों के आचार-विचारों को अलग-अलग किया गया है। गृहस्थ, मुनि की तरह नहीं रहता। यदि रहता है तो वह परिवार या प्रजापालन रूप धर्म को भली प्रकार नहीं निभा पाता।

ऐतिहासिक योगदान :

मानवता को महावीर का ऐतिहासिक योग यह है कि ब्राह्मणवादी समाज में, धर्म या मूल्य का अनुसरण, लोभपरक या दम्भोन्मुख था। उसमें आडम्बर, घमंड और प्रदर्शन का भाव था। अकारण, यज्ञ-हिंसा होती थी। अकारण, श्रमिक वर्ग को नीच माना जाता था। भेदभाव बहुत था। स्त्रियों और शूद्रों की दुर्दशा चरम सीमा पर थी। 'ब्राह्मणों' ने, अपनी जमात को एक सुविधाप्राप्त वर्ग के रूप में संगठित कर लिया था। धर्म की व्याख्या का एक मात्र अधिकार केवल ब्राह्मणों को था। वे धर्म ग्रन्थों—वेद-पुराणों, की मनमानी व्याख्या इस प्रकार करते थे कि यथास्थिति बनी रहे, वे सब लाभ उन्हें मिलते रहें जो उन्हें रूढ़िवादी समाज में मिलते आ रहे थे। इस पौरोहित्य ने मूल्यमीमांसा को इतना लचीला बना दिया कि सब कुछ जायज था।

इस हिंसक, संग्रहशील, प्रदर्शनप्रिय और अंधविश्वास ग्रस्त, समाज को आमूल बदलने के लिए महात्माओं ने संघर्ष किया। उन्होंने उच्चवर्गीय भोग विलास के विरुद्ध वातावरण बनाया। नैतिक नियमों को कठोर बनाया और घोषित किया कि मनुष्य मात्र का हित ही धर्म है। ब्राह्मण धर्म जगत् को ब्रह्ममय मान कर भी, व्यवहार में सामान्य लोगों के प्रति दंभपूर्ण रवैय्या अपनाता था। रक्त की शुद्धता की भ्रामकधारणा के कारण ब्राह्मण धर्मशास्त्रियों ने रक्त की शुद्धता, पवित्रता और जन्मजात श्रेष्ठता की नींव पर एक ऐसे समाज की रचना की थी जिसमें सामाजिक और मानव न्याय के लिए कोई जगह नहीं थी। करोड़ों शोषितों को जन्मजात हीनभावना में रहना पड़ता था। अपने आर्य-अहंकार में आकंठ निमग्न, सवर्ण वर्ग के लोग, सामान्य जनों को नीच और पशुवत् मानते थे और उस प्रकार की मानसिकता के नैरन्तर्य के कारण, आज भी गांवों में सवर्ण जातियों के लोग करोड़ों श्रमजीवियों के प्रति अंदर ही अंदर घृणा करते हैं।

महावीर ने इस मानव विरोधी व्यवस्था को देखा था। वे सवर्ण थे मगर अपने मानवता प्रेम के कारण उन्होंने अपने को वर्ग मुक्त किया। संन्यास लिया यानी उस समाज को ही छोड़ दिया जिसे वे बाहर जाकर, आउट साइडर होकर ही सुधार सकते थे। गौतम बुद्ध और महावीर तथा अन्य ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरोधी विचारक (योगी, आगमानुयायी, व्रात्य, सिद्ध आदि) दरअसल, उस सामाजिक संरचना के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे जो मनुष्य को मनुष्य का दास बनाने के लिए विवश करती है। जो असमानता, न्याय-

हीनता और शोषण पर आधारित है। इस देश में, पुरोहितों, सत्ताधीशों,क्षत्रियों और सेठों के अपमानजनक रवैय्ये के खिलाफ महात्माओं, सन्तों, साधकों, संन्यासियों और पवित्रात्माओं ने निरन्तर युद्ध किया है। यह युद्ध सफल नहीं हुआ। विद्रोहियों ने नवीन मूल्य व्यवस्था बनाई। बुद्ध और महावीर ने सारे पुराने अंधविश्वासों, आत्मा परमात्मा के प्रत्ययों को नकार दिया। उन्होंने 'सत्य' की समानान्तर और नवीन व्याख्याएं प्रस्तुत की। किन्तु जिन बुनियादी मानव मूल्यों के लिए वे लड़े, जिस भेदभाव रहित समाज व्यवस्था के लिए वे जिए उसे भुला दिया गया। एक व्यापक जीवन दृष्टि और मूल्य मीमांसा एक सम्प्रदाय बनती गई। देश में, विद्रोही और उत्कृष्ट सामाजिक चेतना के क्रान्तिकारी विचारक अपने अनुयायियों द्वारा पूज्य होकर रह गए। यह कितना आश्चर्यजनक लगता है कि स्थापित अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध प्रचण्ड योगियों और निर्लिप्त सिद्धों के बावजूद, प्रत्येक सुधारक के नाम पर सिर्फ सम्प्रदाय रह गए। दम्भियों ने महापुरुषों के साथ विश्वासघात किया। यह महावीर शिक्षा के अनुसार कठोर वचन है किन्तु महावीर मूल्यों की सापेक्षता मानते थे। आज यह कहना बहुत आवश्यक हो गया है कि व्यवस्था विरोधी चिंतको और साधकों को, उनके आसपास एकत्र किए गए भ्रमों और अंधविश्वासों से निकाला जाए और भ्रमों के भीतर छिपी ऐतिहासिक और सामाजिक चेतना परक सच्चाइयों को अन्वेषित किया जाए।

महावीर को उनके नाम और मूर्ति के आसपास अंधविश्वास या प्रलोभन से चिपटे लोगों से मुक्त करना होगा और उनकी शब्दावली के व्यापक संकेतों और मर्मो को टटोलना पड़ेगा, तभी महावीर आधुनिक मानव संवेदना और मुक्तचिन्तन एवम् सामाजिक मुक्ति के दीर्घ संग्राम में एक अप्रतिम व्यक्तित्व के रूप में दिखाई पड़ेंगे। उनके बिम्ब को तो लोग पूजते हैं पर उनकी 'आत्मा' या चेतना की विशदताओं और गहराइयों को नहीं समझते। वे महावीर को 'अपना' मानते हैं जबकि महावीर, बुद्ध, कपिल, कणाद, नागार्जुन, सरहपा, कबीर—ये सब प्रत्येक प्रकार की संकीर्णताओं का अतिक्रमण कर जाते हैं। वे महान् थे, उन्हें कुछ लोग घेर कर नही रख सकते।

सामाजिक चेतना का तत्त्व :

कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है।[1] यह वाक्य भारतीय सन्दर्भ में क्रांतिकारी है। इस वाक्य को मान्यता मिल जाए तो समाज व्यवस्था ही बदल जाए किंतु जन्मजात श्रेष्ठता के अंधविश्वास के कारण केवल इसी देश में वैषम्य की सृष्टि नहीं होती बल्कि विदेशों में भी कमोवेश 'अलगाव' के अनेक रूप हैं। 'वर्ण' या रंग का भेदभाव तो प्रसिद्ध ही है। पूंजी या संग्रह की शक्ति के आधार पर पाश्चात्य समाजों में लोगों के बीच बड़ी-बड़ी खाइयां हैं। शिक्षा से ये जातीय अहंकार बढ़ते हैं, घटते नहीं। इन अहंकारों में चोट पहुँचाने की जितनी शक्ति होती है उतनी अभावों में भी नहीं होती। अभाव को आदमी बरदाश्त

---

१. उत्तराध्ययन, २५।३३

कर लेता है लेकिन सामाजिक अपमान वह कभी बरदाश्त नहीं करता। विवशता में वह सहता है लेकिन सहने की प्रक्रिया में घनीभूत होता हुआ असंतोष अपने चरम बिन्दु पर फूटता है। यही क्रांति है। क्रांति का उद्देश्य अहिंसक नागरिकों के समाज की रचना करना है। महावीर जिन मानवीय उच्चताओं की बातें कहते हैं, वे यदि समाज से ओझल हो जायें तो वह एक दिन नहीं चल सकता। महावीर के समान दृढ़ चरित्र के लोग ही व्यवस्थाएं बदलते हैं, बनाते हैं। 'महावीर' ही उस चरम बिन्दु को ला सकते हैं अथवा हृदय-परिवर्तन कर सकते हैं।

महावीर की अहिंसा की निरपेक्ष व्याख्या करके लोग उनकी सामाजिक चेतना की उपेक्षा करते हैं। उन्हें लगता है, महावीर दिक्कालातीत अनुभवों के अन्वेषक थे, सामाजिक प्रश्न उनके लिए गौण था लेकिन महावीर की विचारधारा में भी वह सामाजिक चेतना है, जो पीड़ितों को अभय देती है और आदर्शों और मूल्यों को वस्तुओं और अहंकारों से उच्चतर स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। महावीर का विचार और कर्म एक है। वे सत्य के सम्बन्ध में दिक्कालातीत परम सत्यों के विषय में, जिज्ञासाओं का अपने अनेकान्तवाद से उत्तर देते हैं, लेकिन विद्रोही चिंतकों का बल, सामाजिक पक्ष पर अधिक रहा है क्योंकि विद्रोही चेतना का प्रतिफलन समाज में झलकना चाहिए अन्यथा विद्रोह कल्पित यानी मूल्यहीन है।

अन्तर 'प्रकार' का नहीं 'पहुंच' का :

स्वरूप दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं। यह एक दार्शनिक मंतव्य है किन्तु यह नैतिक या सामाजिक कथन भी है। यह बोध 'व्यापक' और 'सार्वजनीन' है। वह आत्मा की अनेकता, विविधता मानता है क्योंकि वह प्रत्यक्षतः देखता है कि आत्माएं समान होकर भी एक स्तर की नहीं हैं, वे विविधस्तरीय हैं। अतएव उनमें 'प्रकार' का अंतर नहीं, 'पहुँच' का अंतर है। 'पहुंच' के लिए अपने प्रति कठोरता आवश्यक है, इसीलिए बुद्ध और महावीर के मत में कठोरता और कसाव अधिक है। उसके बिना 'संघ' नहीं बन सकता और 'संघ' के बिना, सामाजिक चिंतकों और साधकों द्वारा शासक वर्ग पर नैतिक दबाव नही डाला जा सकता। यदि शासक वचन दे कि वह अकारण या मतान्ध होकर हत्या नहीं करेगा तो उसके साथ पट सकती है। 'शांति' का अर्थ नहीं कि शांति एक निरपेक्ष प्रत्यय है या यह कि शांति 'तत्ववाद' की वस्तु है, वास्तविक जीवन की नहीं। शांति का यह अर्थ नहीं कि हिंसकों या अमानवों का साथ दिया जाए। शांति के प्रत्यय में अशांति के कारणों के उन्मूलन का अर्थ भी छिपा हुआ है और इस शांति के बिना योगी जनता में यह कहता रहेगा कि शासक अधर्मी है, मूल्यहीन है। उपदेश को पुरअसर बना रखने का एक ही उपाय था कि महावीर या बुद्ध अनुशासित या साधक जीवन जीते। व्यक्तिगत साधना में सफल या सिद्ध व्यक्ति ही, लोक को प्रभावित कर सकता है, साधारण व्यक्ति नहीं। महात्मा इसी स्थिति और उपलब्धि का नाम है। महावीर 'महात्मा' थे इसमें तो किसी को भी संदेह नहीं है, प्रश्न तो प्रासंगिकता का है।

'अनुभववादी' सिद्धों और कठोर आत्मदमन के समर्थक बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं में अंतर यही है कि बौद्ध और जैन विद्रोह, आत्मदमन की कठोर साधना को

मानता है। जबकि कौल-कापालिक-शाक्त और वाममार्गी सिद्धों में, विद्रोह उच्छृंखल प्रकार का है। दोनों में सामाजिक मूल्य समान हैं किन्तु 'पहुंच' के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। दोनों, मानव एकता के समर्थक हैं किन्तु बुद्ध और महावीर जहां परमध्यानी हैं वहां तांत्रिक परम्परा के योगी पदार्थ मात्र को शिव मानकर उसका भोग करते हैं और आत्मदमन के मार्ग से प्राप्त होने वाली 'सिद्धि' (मानवीय उत्कृष्टता) भोग के मार्ग से प्राप्त करके दिखाते हैं। बौद्ध, जैन सिद्धों तथा हिन्दू शाक्तों-शैवों ने युद्ध को भी एक अनुभव के रूप में लिया और शताब्दियों तक योगियों-साधकों की श्रेणी परपीड़कों से टकराती रही और सर्वदा आम जनता का अनिवार्य अंश बन कर रही। वृत्तिनिरोधक (महावीर, बुद्ध आदि) योगियों और वृत्तिभोगी योगियों में यह साधनात्मक अंतर होने पर भी अपने सामाजिक अभिप्रायों में वे मिलकर 'भारतीय विद्रोह' को निरन्तरता देते है। वे सवर्णों की मान-मर्यादा, मूल्य, विश्वास, रीति-रिवाज, आपसी व्यवहार—यह सब छोड़ने के लिए कहते है। संघ बल से अखाड़ों के तेवरों से स्थापित व्यवस्था से भिन्न तौर-तरीकों की स्थापना के कार्य में सभी ने योगदान किया। मार्गों और रीतियों की भिन्नता, जड़ता की सीमा तक पहुंचने पर भी, सामाजिक संकटों में योगियों ने, व्यवस्था समर्थक ब्राह्मणों की तुलना में अधिक काम किया। वे विरोध की अग्नि को प्रज्वलित करते रहते थे।

खेद यह है कि 'संघ' जिसका रूप कुल मिलाकर जनोन्मुख था, क्रमशः सम्प्रदाय और जाति में परिवर्तित हो गया। कालान्तर में बौद्ध और जैन समाज सवर्णों में शामिल कर लिए गए और वे व्यापक हिन्दू समाज के अंग बन गए। सवर्ण व्यवस्था ने अपने लचीलेपन से विद्रोह को असफल कर दिया। तुलसीदास ने जनविमुख और आडम्बरी शूद्रविद्रोह का मजाक उड़ाया 'दम्भिन निजमत कलपिकरी प्रगट कीन्ह बहुपंथ'। यदि व्रात्यों, मुनियों और योगियों का ऐतिहासिक आंदोलन सफल हो जाता तो तुलसीदास यह बात हरगिज नहीं कह सकते थे। तुलसीदास ने दलित लोगों के विद्रोह का अंतर्विरोध देख लिया था। साम्प्रदायिक दम्भ ने महात्माओं को कैद कर लिया और लाभ सिर्फ यह हुआ कि महात्मा के नाम पर जातियों को तरक्की दे दी गई। कोरियों को कबीरदास कह दिया, चमार को रैदास।

महावीर की असम्पृक्तता :

स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक भारत में विचारों के साथ 'संस्कारी' समाज साथ नहीं चल पाता। भारतीय संविधान अपने इरादों में एक सभ्य और मानवीय समाज की संरचना का पक्षधर है। वह अपने सामाजिक लक्ष्यों में, फ्रांस की राज्य क्रान्ति के नारों को अपनाता है पर समाज के ढांचे में, कोई विशेष अंतर नहीं आया। हजार वर्षों से संत्रस्त स्थितियों में अपनी पहचान और अस्मिता बचाए रखने के लिए यहां का समाज पृथक्ताओं की परम्परा के साथ नत्थी रहा है क्योंकि पृथक्ताओं को ही वह धर्म मानने लगता है। पर धर्म और दूसरों से भिन्नता का गडमगड्ड गणित, महावीर के विचारों, व्यवहारों में नहीं है। महावीर कहीं भी सम्पृक्त नहीं थे। समाधि में तो दिक्कालातीत स्थिति रहती है। अतः उसे छोड़कर वे कहीं 'साम्प्रदायिक व्यक्ति' नहीं लगते। वे उच्चतर कोटि की चित्तस्थिति में रहकर भव-

मुक्ति और परम कल्याण की बातें सोचते थे। महावीर पृथक्ताओं, अलगावों, मनुष्य के प्रति अनास्थाओं और फिरकेबाजी को कहीं कोई महत्त्व नहीं देते। वे अपने मूल्यों और मान्यताओं के अनुरूप जीवन जीने के लिए कष्ट उठाते हैं और इस कष्ट प्रक्रिया में ही उन्हें यह बोध होता है कि मानव संभावनाओं के चरम विकास की तलाश 'चुने हुए' मार्ग से ही हो सकती है।

महावीर के ऊपर लिखे गए धार्मिक साहित्य में वे मानसिक स्थितियाँ अंकित नहीं हो सकी जिनसे गुजर कर महावीर अपनी चेतना के द्वंद्वों में संगति खोज सके थे। मुक्ति की कल्पना को उन्होंने जी कर दिखाया था। महावीर की मनोवृत्तियों की निविड़ता की खोज, या उनकी पुनर्रचना हो तो महावीर के अंतःकरण का द्वंद्वमय जगत् भी सामने आ सकता है, जिसमें आस-पास के विभिन्न जीवन-स्तर, मूल्यों की मनमानी और दर्पों को देख कर साधारण जीवन से वैराग्य जगा, जिसमें यह भाव आया कि इन लोगों का अंधा जीवन मैं कैसे जी सकता हूँ? उन्होंने प्रचलित जीवन पद्धति में छिपी अनीतियों को देखा और अनित्यता के दार्शनिक कष्ट के साथ, इस मानवीय कष्ट को भी सहा। वे इस घेरे को तोड़ कर, अपने स्तर से, मानवीय दुर्बलताओं और अन्यायों के विरुद्ध एक योगी के रूप में लड़े और उसका प्रभाव पड़ा, एक परम्परा बनी। इस परम्परा को उसकी रूढ़ियों से मुक्त करना होगा।

महावीर की विचारधारा परम्परागत 'ब्राह्मणचिन्तन' से भिन्न है। वह आज के 'मुक्त बौद्धिक' की चित्तवृत्ति के अधिक निकट है। उनका अनेकान्तवाद सत्य के प्रति मत-भिन्नता के जनतांत्रिक सिद्धांत की शक्ति देता है। अनुशासन, अराजकता के विरुद्ध लड़ने का एक अस्त्र है। अराजकता समकालीन इतिहास में बढ़ती ही जा रही है। इसे क्रांति के समर्थन में ले आने के लिए महावीर से यह पाठ सीखा जा सकता है कि आपस में सहिष्णुता अनन्त सीमा तक होनी चाहिए।

वैज्ञानिक, औद्योगिक और मानवीय समाज में ही वे मूल्य और मान्यताएं चरितार्थ हो सकती हैं जिनके लिए महावीर ने घर द्वार छोड़ा था। 'अनिकेत' हुए थे, अजनबी बने थे। इन मानवीय मूल्यों और मान्यताओं के लिए महावीर का जीवन और कृतित्व अनुशीलन योग्य है। लेकिन महावीर की मुख्य प्रासंगिकता, उनकी सामाजिक और मानवीय चेतना के सन्दर्भ में है। उन्होंने सवर्ण समाज की जगह 'संघ समाज' की नींव डाली, उस विचार को अनेक में रोपा। उनके 'चोले' बदल दिए और इस प्रकार हजारों लाखों का रूपान्तरण हो गया।

••••

४७

क्या आज के संदर्भ में भी महावीर सार्थक हैं

श्री भंवरमल सिंघी

दर्शन की सार्थकता :

सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक ओसवाल्ड स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक 'डिक्लाइन ऑफ द वेस्ट' में लिखा है कि जो दर्शन या विचार हमारे समकालीन जीवन के प्रश्नों का समाधान नहीं करता, वह आज के लिए कौड़ी काम का नहीं है। स्पेंगलर का यह कथन वास्तव में बड़े महत्त्व का है। जो विचार आज काम का नहीं है, उसकी बात करना, उसका महत्त्व बखानना कोई अर्थ नहीं रखता, मैं स्वयं इस बात का कायल हूं। महावीर के विचारों और उपदेशों को भी मैं इसी मान्यता की कसौटी पर कस कर देखना और समझना चाहता हूं। मैंने जैन धर्म के अन्तर्गत जन्म लिया तथा धर्म के नाम पर उसी से मेरा सबसे पहले परिचय हुआ और उसके संस्कार भी मुझे मिले। इसीलिये मैं उसे मान कर चलता रहूं और सही और गलत का भेद समझने के लिए आवश्यक विवेक-विश्लेषण से काम नहीं लूं, यह धार्मिकता नहीं, धर्मान्धता ही होगी। ऐसा न मैं करता हूं न करना चाहता हूं और न ऐसा करना मुझे उचित ही लगता है।

महावीरत्व की आवश्यकता :

महावीर के सम्बन्ध में उक्त दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि यदि देश और काल की परिवर्तनशील परिस्थितियों के अन्तराल को छोड़कर महावीर के द्वारा प्रतिपादित मूल जीवन-दृष्टि को देखें और समझें तो अवश्य ही मुझे लगता है कि उनकी दृष्टि आज भी सार्थक है, उनका बतलाया हुआ जीवन-मार्ग आज भी समाधान का मार्ग है, विकास और उन्नति का मार्ग है, व्यक्ति के लिए और समाज एवं मानवजाति के लिए भी। महावीर जिस युग में हुये, जिन परिस्थितियों में उनको कार्य करना पड़ा, तथा जिन समस्याओं के विरुद्ध उनकी संघर्ष-साधना की गई, उसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है। उन्होंने हिंसा का जो रूप देखा था और उसके विरुद्ध उन्होंने जिस रूप में अहिंसा की साधना की थी, वह आज नहीं है। किन्तु हिंसा तो वैसे ही बल्कि ज्यादा व्यापक और घनी होकर आज चारों तरफ फैली हुई है और व्यक्ति हर स्तर पर जीवन की अनेक-अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है। इस हालत में कहना न होगा कि जहां हिंसा है, कष्ट है, वहां महावीरत्व की आवश्यकता है ही।

इच्छा ही दासत्व की जननी :

महावीर की मूल वात यही थी कि अगर मनुष्य अपनी इच्छाओं का दास होकर रहता है, अर्थात् इच्छाओं का दमन नहीं कर सकता, उन पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता है, तो वह हर तरह से दास ही वना रहता है, दासत्व की शृंखलायें उसे वांधे रहती हैं, चाहे दासत्व राज्य का हो, समाज का हो, धर्म का हो, या और किसी भी तरह का हो। एषणा अर्थात् इच्छा ही दासत्व की जननी है। इच्छाओं का दास वना हुआ व्यक्ति खुद हमेशा वधा रहता है और उसकी प्रकृति दूसरों को भी हमेशा वांधने या वांधे रहने की ही होती है। इच्छा से इच्छा, कर्म से कर्म और लोभ से लोभ—इसी के गोरख-धन्धों में वह फंसा रहता है, कैद हुआ रहता है। फिर संतोष कहां, शांति कैसी ? जो व्यक्ति अपनी इच्छाओं की कैद में है, वह सव की कैद में है। इसीलिए महावीर ने पांच महाव्रत वतलाये—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पांचों महाव्रत मूलतः अपने-आप पर विजय प्राप्त करने के तरीके हैं। और जीवन का सत्य क्या है, इसे जानने के लिए उन्होंने कोई गढ़ा-गढ़ाया, वंधा-वंधाया मार्ग नहीं वतलाया। वस इतना ही कहा कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान द्वारा मनुष्य सत्य को प्राप्त करे और उसे अंगीकार कर सम्यक् चारित्र द्वारा जीवन में उतारे तो फिर मुक्ति का, निर्वाण का और जीवन का सर्वस्व उसके अपने हाथों में है। कितनी सीधी और सरल वात है, पर मनुष्य है कि इच्छाओं की उपलव्धि में ही उसे सव कुछ जान पड़ता है।

अहिंसा का विधायक रूप :

महात्मा गांधी ने महावीर के इस जीवन सिद्धान्त पर चलकर ही समाज और देश के स्तर पर एक वड़ा संघर्ष किया, अन्याय के विरुद्ध, असत्य के विरुद्ध और एक वड़ा इतिहास हमारे युग में उन्होंने वना दिया। महावीर के मार्ग को गांधी ने अपने नये प्रयोगों द्वारा अत्यन्त सम-सामयिक वना दिया। जो लोग यह समझते और कहा करते थे कि अहिंसा तो एक निषेधात्मक वृत्ति है, कायरता की प्रवृत्ति है, उन्होंने गांधी के असहयोग और सत्याग्रह में अहिंसा का विधायक रूप देखा, उसका तेज देखा। अहिंसक व्यक्ति को अधिक वीरता की आवश्यकता होती है, अधिक कष्ट सहन के लिए उसे तैयार होना पड़ता है।

लेना ही लेना :

आज हमारे देश के सामने और एक प्रकार से सारी मनुष्य जाति के सामने भी जो अनेक-अनेक समस्यायें उपस्थित हैं और जिनसे मनुष्य अत्यन्त पीड़ित और प्रताड़ित है, वे सव इसी वात में से पैदा हुई हैं कि आदमी इच्छाओं की पूर्ति के प्रलोभन में डूवा हुआ है, उसे अपने से वाहर कुछ दीखता ही नहीं। जो कुछ उसे दीखता है, वह उसे लुभाता है और सव कुछ को वह आत्मसात्, आत्म-नियंत्रित कर लेना चाहता है। आज जीवन के हर क्षेत्र में यही व्यक्ति- परक प्रवृत्ति वढ़ती जा रही है। आदमी लेना ही लेना चाहता है, उसी की खोज में लगा हुआ है, देना उसे मानो आता ही नहीं है। देने का साहस ही उसमें नहीं है क्योंकि उसके लिये उसकी इच्छा नहीं है। आज हमारे सामने देश के उन हजारों व्यक्तियों के स्खलन

के ही उदाहरण हैं जिन्होंने जितने दिन दिया अर्थात् त्याग किया, बलिदान किया, निःस्वार्थ और निःसंग भाव से समाज और मानवता की सेवा की उतने दिन बहुत कुछ पाया। परन्तु वे ही व्यक्ति जब उपलब्धि के शिखर पर पहुँचे तो टूट गये, बिखर गये। इच्छाओं के दमन में और प्राप्तियों के चक्रव्यूह में ही घुसते चले गये। इसीलिये जब स्वराज्य मिला तो गांधीजी ने हर पद और प्रतिष्ठा से अपने को अलग रखा। वे अलग रहे तो ऊंचे रहे, अच्छे रहे, पवित्र रहे। बाकी लोग जो उसके नजदीक चले गये, उसमें पैठ गये वे निरन्तर नीचे और नीचे ही गिरते चले गये।

आलोक की तलाश :

यह हालत ही आज चारों ओर हाहाकार मचाये हुये है। एक क्रन्दन और चीत्कार हो रही है। आदमी अपना पथ भूल गया है। अन्धकार में चलता हुआ वह आलोक की तलाश कर रहा है। पर, आलोक तो अन्धकार को काटकर ही आ सकता है। अंधेरी इच्छाओं से अंधेरा कटता नहीं, बढ़ता ही है। आज यही सबसे बड़ी विभीपिका है। रास्ता दीखता नहीं हो सो बात नहीं है। परन्तु रास्ते पर तो चलने से होता है। चलना ही तो कठिन है। बोलने में, कहने में, भक्ति और पूजा करने में क्या पड़ा है ? मूल–बातों को छोड़कर आनुषंगिक बातों में हम कितने ही दूर तक जायें, गहरे जायें, हम कुछ पा नहीं सकते।

जोड़ना बनाम छोड़ना :

आज व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, समाज और समाज के बीच, वर्ग और वर्ग के बीच, देश और देश के बीच जो झगड़े हो रहे हैं, उन सब के मूल में परिग्रह के सिवाय क्या है ? यह परिग्रह नाना रूपों में व्याप्त है। वही हमारे चिंतन को पंगु और नपुंसक बनाये हुये है। चिंतन दिशा देता है, फल नहीं। फल तो चरित्र से, क्रिया से ही आता है। जो जितनी इच्छा रखता है और परिग्रह इकट्ठा करता है, वह उतना ही अधिक खुद परेशान होता है, दूसरों को परेशान करता है। जो जोड़ने में जीता है, वह जीता नहीं जलता है; जो छोड़ने में जीता है, वह जीवन से छलता है।

धर्म को जियें :

धर्म को हमने पूजा के उच्च शिखरों पर बिठला कर जीवन से अलग कर दिया। हम उसकी शब्द-रटना करते हैं, पूजा और अर्चना करते हैं परन्तु जीवन में उसे नहीं उतारते, नहीं उतारना चाहते। महावीर ने जो कुछ देखा, जाना, समझा, उसे हजार-हजार कठिनाइयों के बावजूद जिया। जो कुछ बाधायें आईं, कष्ट सामने आये उन सब को झेला। तभी तो वे महावीर बने, इसी तरह बुद्ध और ईसा भी बने। उन्होंने अपने पर विजय प्राप्त कर जिनत्व हासिल किया, सत्य पर दृष्टि रखकर उन्होंने जीवन की विद्रोहात्मक और संघर्षमयी साधना की। इस मार्ग की सार्थकता आज भी बनी हुई है बल्कि यही मार्ग सार्थक है। इसको अपनाये बिना, इस पर चले बिना हम समस्याओं को कदापि हल नहीं कर सकते हैं। प्रजातन्त्र है तो समाजवाद है तो, साम्यवाद है तो, या और कोई वाद

है तो त्याग और निर्लोभिता तो चरित्र से ही आती है। बंधनों को काटने के लिये बंधनों से मुक्त होना जरूरी है। निश्चित रूप से महावीर का पथ जीवन का वास्तविक व्यावहारिक पथ है।

चलने का साहस :

इस पथ का दर्शन आज बहुत नहीं होता। दुर्भाग्य से महावीर के वंशज और अनुगामी कहने और कहलाने वाले जैनों में तो सबसे कम। जैनियों में आज अहिंसा है तो कायरों की, अपरिग्रह है तो बातों का और निर्भीकता और विद्रोह तो है ही नहीं। महावीर के इन अनुयायियों के जीवन को देखकर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि इस पथ पर चलकर कुछ भी हो सकता है ? जिस पथ पर हम चल रहे हैं वह पथ तो पथ नहीं है, विपथ है। महावीर का पथ, निर्वाण का पथ तो सामने है ही। जो उस पर चलने का साहस करेगा, उस पर चलेगा वही व्यक्ति, वही जाति, वही देश, अपना कल्याण करेगा और समस्याओं को सदा के लिये हल करने में सफलता पायेगा।

महावीर अपनी इस दृष्टि और विचार के कारण वस्तुतः विश्व के विचार-क्रम के एक आवश्यक और विशेष अंग हैं। इस विचार और मूल्य के रूप में महावीर का सिद्धान्त आज भी सम्पूर्ण सार्थकता रखता है। आत्म-नियन्त्रण और आत्म-त्याग के द्वारा ही संसार का सही अर्थों में कल्याण हो सकता है और समस्याओं से मुक्ति मिल सकती है।

•••



४८

युवा पीढ़ी महावीर से क्या प्रेरणा ले ?

. श्री चंदनमल 'चांद'

महावीर ! चार अक्षर—एक शब्द । लाखों व्यक्तियों का नाम महावीर हो सकता है—हर गांव में दो चार महावीर मिल सकते हैं, किन्तु चार अक्षरों वाले इस 'महावीर' नाम के साथ अढ़ाई हजार वर्षो पूर्व का वह चित्र उभरता है जिसमें राज-पाट, सुख-ऐश्वर्य, भोग-विलास को त्याग कर तीस वर्ष का राजकुमार मुनि बनता है। महावीर के नाम से ही उनके जीवन की वे सारी स्थितियां, घटनाएं एवं प्रेरक प्रसंग चलचित्र की तरह नयनों के सामने उतरने लगते हैं। जिनमें उनकी वीरता, क्षमा, धैर्य, दृढ़ मनोबल, त्याग एवं कैवल्य आदि के अनेकानेक प्रसंग भरे पड़े हैं। महावीर ! राजमहल के सुख-वैभव छोड़कर वनों में मौन, ध्यान, आसन करने वाले महावीर अपने युग के प्रखरतम क्रान्तिकारी थे। उन्होंने आचार एवं विचार दोनों ही पक्षों में महान् क्रान्ति स्वयं के जीवन प्रयोगों द्वारा प्रारम्भ की।

युवापीढ़ी के लिए आदर्श :

वर्तमान युग की युवा पीढ़ी के लिए महावीर आदर्श हैं। अढ़ाई हजार वर्षो के बाद भी महावीर ने अपने जीवन एवं दर्शन के द्वारा जो मार्ग प्रशस्त किया वह आज उस युग से भी सम्भवतः ज्यादा उपयोगी एवं आवश्यक है। महावीर के जीवन एवं दर्शन का यदि आधुनिक युवापीढ़ी सम्यक् अध्ययन कर उसे आचरण में उतारे तो ध्वंस की अपेक्षा निर्माण के मार्ग पर लग सकती है। युवापीढ़ी समाज, राष्ट्र और विश्व की रीढ़ होती है जिसके सबल कंधों पर पुरानी पीढ़ी देश का दायित्व सौंपकर अपने अनुभवों से मार्ग-दर्शन करती है। युवा पीढ़ी समाज और राष्ट्र की आशा हैं—विश्वास है। वर्तमान युग के संदर्भ में युवा पीढ़ी का अध्ययन करें तो हमें स्पष्ट पता चलता है कि हमारा युवा वर्ग पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान है। उसमें बौद्धिक विकास के साथ-साथ तर्क, विज्ञान एवं अन्य योग्यताएं भी पुरानी पीढ़ी से अधिक हैं। युवावर्ग के मन में कुछ करने की तड़फ है, उत्साह है और उसके लिए पूर्ण निष्ठा एवं लगन भी है। हां, उसकी इन भावनाओं को जब सही परिप्रेक्ष्य में न समझ कर उनके साथ असहयोग एवं अनुदार व्यवहार किया जाता है तो युवावर्ग की शक्ति का विध्वंसक विस्फोट, तोड़-फोड़, हड़ताल आदि के रूप में दीखता है।

महावीर स्वयं युवा थे। जब उन्होंने गृहत्याग कर संन्यास ले लिया। महावीर का संन्यास जीवन से पलायन नहीं था क्योंकि उनका जीवन सुखी, समृद्ध एवं वैभवपूर्ण था।

महावीर का संन्यास जीवन के उच्चतम मूल्य की प्राप्ति के लिए था। वैभव को छोड़कर संघर्ष स्वीकारना, भोगों को ठुकराकर त्याग एवं समर्पण के द्वारा जीवन के उच्चतम मूल्य प्राप्ति के लिए युवा पीढ़ी महावीर से प्रेरणा ले सकती है। अर्थ एवं वैभव की चकाचौंध में पड़कर जीवन को इसी क्षेत्र में होम देने वाले युवक महावीर से प्रेरणा लें तो उन्हें लगेगा कि त्याग करने में प्राप्ति से भी ज्यादा आनन्द आता है। महावीर का जीवन समता, क्षमा, धैर्य एवं हृदय की विशालता का उदाहरण है। चण्डकौशिक सर्प दंशन करता है, ग्वाला कानों में कीलें ठोकता है, गौशालक तेजो लेश्या का प्रहार करता है किन्तु महावीर के हृदय में क्रोध नहीं—घृणा और नफरत नहीं। वहां तो करुणा का अजस्र स्रोत लहराता रहता है। युवापीढ़ी महावीर की इस समता, तितिक्षा एवं क्षमा को अपनाकर देखे तो जीवन की अनेक विसंगतियां, बहुत सारे झगडे और कलह सहज ही समाप्त हो जायेंगे।

महावीर ने प्रेम का मंत्र दिया—करुणा की वाणी दी। युवापीढ़ी अपने वासना-मूलक सम्बन्धों से ऊपर उठकर रंगीन चश्मे से झांकना छोड़कर महावीर के प्रेम का आस्वाद ले। उस प्रेम में राग और द्वेष दोनों ही नहीं है। सबके प्रति एक ही भाव—एक रसता—अन्तरंगता। ऐसी मानसिक स्थिति बन जाने पर भला किसी का कोई शत्रु रह सकता है? 'मित्ति में सव्वभुएनु' का तत्त्व शब्दों से नहीं आचरण से प्रकट हो जायगा। युवा पीढ़ी महावीर के जीवन की तपस्या, साधना आदि से प्रेरणा ले और उसका अनुसरण करे तो निस्संदेह नक्शा कुछ और ही नजर आये।

क्रांति की नई अर्थवत्ता :

महावीर की क्रांति केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। वस्तुतः क्रांति की कोई सीमा नहीं होती। महावीर ने विचार और आचार दोनों ही पक्षों में क्रांति की। क्रांति का अर्थ तोड़फोड़, हिंसा आदि नही होता। यह अर्थ तो भ्रांति के कारण होता है। क्रांति का मतलब है परिवर्तन। रूढ़िगत परम्पराओं, प्रथाओं और धारणाओं मे देह, काल, क्षेत्र के अनुसार परिवर्तन ही क्रांति कहलाता है। युवा पीढ़ी आज क्रांति की बात करती है किन्तु इसके पूर्व उसे महावीर की क्रांतिकारी भावनाओं, विचारों एवं कार्यो को समझ लेना श्रेयस्कर होगा। महावीर की क्रांति केवल शाब्दिक अथवा चिन्तन के एकांगी पक्ष की नही थी बल्कि उन्होंने अपने विचारों को आचार में पहले उतारा और फिर दुनिया के समक्ष विचार रखे।

महावीर ने धार्मिक क्षेत्र में यज्ञ, बलिदान, ब्राह्मणवाद एवं पाखण्डों पर प्रहार कर आत्मा की सर्वोच्च सत्ता का दिग्दर्शन करा कर अभिनव क्रांति की। व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं आत्मशक्ति के जागरण का संदेश महावीर ने ही दिया। इसके पूर्व भगवान् से मनुष्य अपेक्षा करता था, किन्तु महावीर ने आत्मा की अनन्त शक्ति को पहचानने का मार्ग बताते हुए इन्सान को ही भगवान् बताया। कितनी बड़ी क्रांतिकारी बात कही है महावीर ने। मनुष्य की सुषुप्त चेतना, मानसिक गुलामी एवं आत्महीनता की भावना को महावीर ने अपने चिन्तन से दूर किया, युवापीढ़ी महावीर के इस चिन्तन से प्रेरणा ले सकती है।

सामाजिक क्षेत्र में महावीर ने जातपांत, छुआछूत, अमीर-गरीब के भेद को मिटाकर क्रान्ति की। उन्होंने वर्ण व्यवस्था पर आधारित वैदिक संस्कृति को नहीं स्वीकारा। जाति से उच्च और नीच नहीं बल्कि व्यक्ति अपने कर्म और आचरण से ही हीन अथवा महान् बन सकता है। युवापीढ़ी आज भी महावीर के इन विचारों से प्रेरणा लेकर देश की जातीयता, छुआछूत आदि व्याधियां मिटा सकती है।

महावीर ने नारी जाति को पुरुषों के समान अधिकार दिया—उन्हें पुरुषों से भिन्न नहीं माना। नारी स्वातंत्र्य की बात करने वाली युवापीढ़ी महावीर से प्रेरणा ले सकती है कि उन्होंने अपने शासन में साध्वियों को दीक्षा दी एवं साधना के मार्ग में समानता का मार्ग प्रशस्त किया। साम्यवादी, समाजवादी, वाममार्गी, दक्षिण पंथी आदि अनेक राजनैतिक संगठन आर्थिक असमानता को नष्ट करने के लिए अपने दलगत विचार रखते हैं। मार्क्स और लेनिन के सिद्धांतों को उद्धृत कर उसके अनुसार साम्यवाद या समाजवाद लाने का चिन्तन किया जा रहा है। युवापीढ़ी यदि महावीर के दर्शन को थोड़ा-सा भी पढ़े तो उन्हें लगेगा कि मार्क्स का सिद्धांत महावीर के चिन्तन के समक्ष अधूरा है। जहां मार्क्स सम्पत्ति को बांटने को कहता है वहां महावीर परिग्रह को ही पाप मानकर संग्रह से दूर रहने पर बल देते हैं। महावीर के दर्शन में तो स्वामित्व ही नहीं है। जहां स्वामित्व ही नहीं है वहां कौन किसको देगा और कौन किससे लेगा ? सब अपने आप मालिक होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में जिस क्रांतिकारी चिन्तन का सूत्रपात महावीर ने किया है यदि उसे हम समझकर अपना सकें तो विश्व की अनेक समस्याएं हल हो सकती हैं।

आक्रोश का नया आलोक :

युवा पीढ़ी महावीर के जीवन और दर्शन से बहुत कुछ प्रेरणा ले सकती है। महावीर का दर्शन त्रैकालिक सत्य है। वह कभी पुराना नहीं पड़ता, कभी महत्वहीन नहीं हो सकता। हजारों वर्षों के बाद आज विश्व जिस सर्वनाश की चोटी पर खड़ा है उससे बचाने के लिए महावीर का उपदेश ही एक मात्र मार्ग है। युवापीढ़ी अपने आक्रोश को व्यक्त करने के पूर्व उसे समझे। जिन कारणों से उसका विद्रोह है उन कारणों का विश्लेषण करे और महावीर के जीवन एवं दर्शन से उन समस्याओं का समाधान ढूंढे। यदि युवापीढ़ी इस दिशा में थोड़ा भी प्रयास करेगी तो उसका मानसिक असंतोष संतोष में बदल जायेगा—उसका विद्रोह निर्माण की ओर अग्रसर होगा। हमें आशा करनी चाहिए कि हमारी युवा पीढ़ी एक बार केवल महावीर के जीवन-दर्शन और साहित्य को पढ़ ही लेगी। साहित्य एवं सिद्धान्त को जानना पहली शर्त है। उसके बाद उस पर चिन्तन, मनन एवं विचार होना ही चाहिए। युवापीढ़ी बुद्धिमान है, तर्क सम्पन्न है और समझ कर उसके पीछे खपने में समर्थ है/इसलिए उसके जीवन में महावीर आलोकस्तम्भ सिद्ध होंगे—प्रेरक होंगे।

● ● ● ●

४६

लोक सांस्कृतिक चेतना और भगवान् महावीर

• श्री श्रीचंद जैन

लोक संस्कृति के प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर :

भगवान् महावीर का समस्त जीवन लोक संस्कृति के संरक्षण में बीता और उन्होंने अपनी जीवन-साधना के माध्यम से लोक संस्कृति के बिरवे को ऐसा सिंचित किया कि वह सुदृढ़ बन गया तथा किसी भी प्रकार का आघात इसे प्रभावित नहीं कर सका। भगवान् महावीर ने लोक भाषा को अपनाया। लोक जीवन को प्रशस्त एवं सचेतन बनाया।

भारतीय लोक संस्कृति त्याग और संयम की संस्कृति है। जीवन की सच्ची सुन्दरता और सुषमा संयताचरण में है, बाहरी सुसज्जा और वासना पूर्ति में नहीं। जिन भोगोप-भोगों में लिप्त हो मानव अपने आप तक को भूल जाता है वह जरा आंखें खोलकर देखे कि वे उसके जीवन के अमर तत्त्व को किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन में त्याग को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी शान्त और उद्‌बुद्ध होगा। भारतीय मानस में त्याग के लिए सदा से ऊंचा स्थान रहा है। यही तो कारण है कि त्याग-परायण संतों का यहां सदा आदर रहा है। यह व्यक्ति का आदर नहीं है, यह तो त्याग का समादर है। सन्तों के जीवन से आप त्याग की प्रेरणा लीजिए, जीवन को संयम की ओर उन्मुख कीजिए। इसी में जीवन की सच्ची सफलता है। माना कि प्रत्येक व्यक्ति त्याग को जीवन में सम्पूर्णतः उतार सके यह संभव नहीं पर जितना हो सके अपनी ओर से उसे अपने आपको ज्यादा त्यागी और संयमोन्मुख बनाना चाहिए। त्याग से घबराइए मत, उसे नाग मत समझिए। वह तो जीवन शुद्धि मूलक संजीवनी बूटी है। उस ओर बढ़िए, सात्विकता से पूर्ण नया जीवन, नया ओज, नयी कान्ति और नयी शक्ति पाइए।[1]

लोक संस्कृति में प्राणिमात्र के कल्याण की भावना विद्यमान है। फलतः इसकी कोमल भाव-भूमि में पुष्पित धर्म सबके लिए ग्राह्य है। जाति विशेष का तो यहां प्रश्न उठता ही नहीं है। आचार्यों ने बार-बार कहा है—धर्म को जाति या कौम में मत बांटिये। जातियां सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर अवस्थित हैं। धर्म जीवन परिमार्जन या आत्म

१ आचार्य तुलसी : प्रवचन डायरी, १९५६, पृ० ४९

शोधन की युक्ति है। वहां हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं है। धर्म वह शाश्वत तत्त्व है, जिसका अनुगमन करने का प्राणी मात्र को अधिकार है। साम्प्रदायिक संकीर्णता की उसमें गुंजाइश नहीं। जहां भेद दृष्टि को प्रमुखता दी जाती है वहां साम्प्रदायिक झगड़े और संघर्ष पैदा होते हैं। चूंकि विभिन्न सम्प्रदायों में भेद के बजाय अभेद-समानता के तत्त्व अधिक हैं अतः उनको मुख्यता देते हुए धर्म के जीवन-शुद्धि मूलक आदर्शों पर चलना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। ऐसा होने से आपसी संघर्ष, विद्वेष और झगड़े खड़े ही नहीं होंगे।[1]

लोक संस्कृति के परम प्रचारक एवं परिपोषक भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जन्म से कोई ऊंचा और नीचा नहीं होता। ऊंचापन और नीचापन तो अपने-अपने कर्मों पर है। जो सत्कर्म करता है, अपने को पापों से बुराइयों से बचाये रखता है वह वास्तव में ऊंचा है। जो हिंसा, असत्य, आदि असत् कर्मों में लिप्त रहता है, ऊंचे कुल में पैदा होने पर भी उसमें ऊंचापन कहां?।

भारतीय लोक-संस्कृति का यह उद्घोष है कि आत्मा ही स्वयं का उद्धारक है और वही कर्म-मल से स्वच्छ होकर परमात्मा बन जाता है। जैन धर्म का यह कर्मवादी सिद्धान्त लोक-संस्कृति में पूर्णरूपेण व्यवहृत है। पुरुषार्थ यहां पूर्ण आस्था से गृहीत है। परिणाम-स्वरूप मानव का उत्थान-पतन उसके कर्त्तव्यों के पालन अथवा विस्मृत करने पर आधारित है। तभी तो भगवान् ने कहा है—आत्मा ही सुख दुःख का कर्त्ता-विकर्त्ता है। वह अपना मित्र है, यदि वह सत्प्रयुक्त है। वह अपना शत्रु है यदि वह दुष्प्रयुक्त है। वह स्वयं अपना तारक है, अपना उद्धारक है। दूसरा कोई नहीं।

व्यवहार की भाषा में गुरु आदि पूज्य जनों के प्रति जो कहा जाता है कि आप हमें तारने वाले हैं, हमारा उद्धार करने वाले हैं, वह हृदय की भक्ति और विनय का परिचायक है। वस्तुतः तारना, जीवन को ऊंचा उठाना, गिराना, विकारों में पड़ना यह तो मानव की अपनी जिम्मेदारी है। जैसा वह करेगा, पायेगा। गुरु मार्ग-दर्शक है। वह सच्ची उन्नति का मार्ग बताता है। व्यक्ति यदि उस मार्ग पर आत्मबल और उत्साह के साथ आगे बढ़ता है तो अपने जीवन विकास के लक्ष्य में सफलता पाता है।

निश्चयतः जो संस्कृति मानव के मानवत्व को समझे तथा उसके परिष्कार के लिये सतत प्रयत्नशील रहे वह समीचीन संस्कृति है। भारतीय संस्कृति इसी भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। भगवान् महावीर की वाणी का प्रत्येक अक्षर इसी लोक संस्कृति की आत्मा का परिचायक है। सब सुखी रहें, सब सम्पन्न बनें, सब अपने उत्कर्ष में संलग्न रहें और सब एक दूसरे को अपना भाई मानें। ये मंत्र इसी संस्कृति के शाश्वत स्वर हैं। भगवान् महावीर ने सांस्कृतिक चेतना को जागृत रखने के लिए अपरिग्रह के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा। सत्य को संस्कृति का आधार स्तम्भ मानकर उन्होंने सचाई की स्वयं खोज की और अपने भक्तों एवं साधकों

---

१. प्रवचन डायरी, १९५६, पृ० ४६।

को सत्य के अन्वेषण में लगाया है। क्या यह प्रयास लोक संस्कृति के उत्थान में परम सहायक नहीं कहा जा सकता है ?

भगवान् महावीर ने बताया–सत्य की खोज करो, उसका विश्लेषण करो, जीवन को तदनुकूल ढांचे में ढालो। दूसरों को कष्ट मत दो, शोषण मत करो। कितना अच्छा हो, इन आदर्शों पर आज का मानव चलने लगे। यदि ऐसा हुआ तो जीवन को जर्जरित बनाने वाली समस्याएं स्वतः निर्मूल हो जाएंगी।

विश्वमैत्री का विचार भारतीय संस्कृति में उसी प्रकार समाया हुआ है जिस प्रकार दूध में घी सन्निहित है। इस पावन मैत्री को साकार बनाने के लिए हिंसा तथा परिग्रह दोनों का परित्याग आवश्यक है। हिंसा विद्वेष को बढ़ाती है। जन-जन की भावना को कलुषित करती है और जन-मानस में विरोध की आग को प्रज्ज्वलित करती रहती है। इसी प्रकार परिग्रह नारकीय यातना को जन्म देता है तथा मानव को दानवत्व की अग्नि में जलने के लिए बाध्य करता है। अतः हिंसा और परिग्रह की दुष्प्रवृत्ति को दूर करने से ही विश्व मैत्री प्रतिफलित होगी। इसका प्रतिफलन ही लोक संस्कृति को जीवित रख सकेगा।

भगवान् महावीर ने कहा–हिंसा और परिग्रह ये दोनों सत्य की उपलब्धि में बाधाएं हैं। इन्हें नहीं त्यागने वाला धार्मिक नहीं बन सकता। दुःख के बाहरी उपचार से दुःख के मूल का विनाश नहीं होता।

जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है कि यह भारतीय संस्कृति की विशाल सरिता अनेक प्रवाहों से वेगवती बनी है। इसमें आर्य एवं अनार्य तत्त्वों के साथ जैन विचारों का भी पूर्ण समन्वय हुआ है। संस्कृति एक प्रवाह है, वह चलता रहे तब तक ठीक है। गति रुकने का अर्थ है उसकी मृत्यु। फिर दुर्गन्ध के अतिरिक्त और कुछ मिलने का नहीं है। प्रवाह में अनेक तत्त्व घुले-मिले रहते हैं। एक रस हो बढ़ते चले जाते हैं। भारतीय सस्कृति की यही आत्मकथा है। वह अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई है। कितने ही धर्म और दर्शन–प्रसंगों से अनुप्राणित भारत का सांस्कृतिक जीवन अपने आप में अखण्ड बना हुआ है। किसकी क्या देन है इसका निर्वाचन आज सुलभ नहीं, फिर भी सूक्ष्म द्रष्टा कुछ एक तथ्यों को न पकड़ सकें ऐसी बात नहीं है। संयममूलक जैन विचारधारा का भारतीय जीवन पर स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ा है। व्यावहारिक जीवन वैदिक विचारधारा से प्रवाहित है तो अन्तरंग जीवन जैन विचारों से। शताब्दियों पूर्व रचे गए एक श्लोक से इसकी पुष्टि होती है—

"वैदिको व्यवहर्तव्यः कर्त्तव्यः पुनरार्हतः"

जैन विचारों का उत्स ज्ञान और क्रिया का संगम है। जानने और करने में किसी एक की उपेक्षा या अपेक्षा नहीं। ज्ञान का क्षेत्र खुला है। कर्म का सूत्र यह नहीं कि सब कुछ करो बल्कि यह है कि जो कुछ करो विवेक से करो। साधना के प्रति प्रेम है तो पूर्ण संयम करो। गृहस्थी में रहना है तो सीमा करो। इच्छा के दास मत बनो, आवश्यक-

ताओं के पीछे मत पड़ो। आवश्यकताओं को कम करो, वृत्तियों को सीमित करो। एक शब्द में आवश्यकता-पूर्ति के लिए सब कुछ मत करो। भारतीय जीवन पर यह जैन विचारों की अमिट छाप है। हिंसा के बिना जीवन नहीं चलता, फिर भी यथा-संभव हिंसा से बचना जीवन के दैनिक व्यवहार, खान-पान से लेकर बड़े से बड़े कार्य तथा हिंसा-अहिंसा का विवेक रखना भारतीय संस्कृति का एक पहलू है, जो जैन प्रणाली का आभारी है।[1]

भगवान् महावीर की जीवन-साधना में लोक सांस्कृतिक तत्त्व :

लोक-संस्कृति के अभिन्न अंग हैं—गर्भ, जन्म, विवाहादि से सम्बद्ध संस्कार एवं उत्सव, शकुनापशकुन, शाप-स्वप्न, स्वप्न-विचार, उपसर्ग अतिशय, प्रातिहार्य, आदि। भगवान् महावीर यों तो लोक संस्कृति के प्रमुख आधार हैं ही साथ ही साथ उनके पावन जीवन की पूर्ण गाथा संस्कृति के विविध भागों का एक मनोरम कल्पवृक्ष है। पं० सुमेरुचंद्र दिवाकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'तीर्थंकर' में तीर्थंकरों के गर्भ जन्म आदि के संस्कार समन्वित उत्सवों की विशद चर्चा की है। इस सन्दर्भ में आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज द्वारा प्रणीत 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' प्रथम भाग (तीर्थंकर खण्ड) विशेष रूप से पठनीय है। 'विहार और नौकारोहण' शीर्षक के अन्तर्गत बताया गया है कि श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले। बीच में गंगा नदी बह रही थी। अतः गंगा पार करने के लिए प्रभु को नौका में बैठना पड़ा। नौका ने ज्यों ही प्रयाण किया त्योंही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये। उनको सुनकर नौका पर सवार खेमिल निमित्तज्ञ ने कहा—बड़ा संकट आने वाला है। पर इस महापुरुष के प्रबल पुण्य से हम सब बच जायेंगे। (पृ० ३७४) 'महावीर पुराण' में अनेक शकुनापशकुन चर्चित हैं।

भगवान् महावीर की जननी त्रिशला के स्वप्नों की जैन शास्त्रों में विशेष चर्चा है। इसी प्रकार साधना काल में प्रभु (भगवान् महावीर) के दश स्वप्न विशेष रूप से बताये गए हैं। भगवान् ने निम्नस्थ स्वप्न देखे थे—[2]

(१) एक ताड़-पिशाच को अपने हाथों पछाड़ते देखा।
(२) श्वेत पुंस्कोकिल उन की सेवा में उपस्थित है।
(३) विचित्र वर्ण वाला पुंस्कोकिल सामने देखा।
(४) दैदीप्यमान दो रत्न मालाएं देखी।
(५) एक श्वेत गौवर्ग सम्मुख खड़ा देखा।
(६) विकसित पद्म-सरोवर देखा।
(७) अपनी भुजाओं से महासमुद्र को तैरते हुए अपने आपको देखा।
(८) विश्व को प्रकाशित करते हुए सहस्र किरण-सूर्य को देखा।
(९) वैडूर्य-वर्ण सी अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते देखा।
(१०) अपने आप को मेरू पर आरोहण करते देखा।

---

१ प्रवचन डायरी, १९५६, पृ० १४५
२ जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३६८

ये स्वप्न प्रभु के महान् उत्कर्ष के परिचायक थे। भयावह उपसर्गों से तो भगवान् का साधना-काल घिरा हुआ रहा लेकिन मेरु के समान स्थिर प्रभु इन से (उपसर्गों से) कभी भयातुर न हुए। अतिशय पुण्योत्कर्ष की अमिट कहानी है। तीर्थंकर भक्ति में भगवान् के चौंतीस अतिशय[1] कहे गए हैं। उनके लिए 'चउतीस-अतिशय-विसेस संजुताणं' पद का प्रयोग आया है।

प्रातिहार्य महापुण्यशाली व्यक्तित्व के अमर शृंगार हैं जो लोक संस्कृति को वैभव-मय बनाते हैं। ये आठ माने गए हैं।[2] तीर्थंकर भगवान् समवशरण में अष्ट प्रातिहार्य से समलंकृत रहते हैं। इन प्रातिहार्यों की अपूर्व छटा का जैन ग्रन्थों में भव्य वर्णन है।

परम तपस्वी एवं महा प्रभु भगवान् महावीर की उपमाएं जिस रूप में प्रस्तुत की गई हैं तथा उनमें प्रयुक्त उपमान लोक जीवन से ही गृहीत हैं जो लोक संस्कृति की नैसर्गिक सुषमा के प्रतीक कहे जा सकते हैं। भगवान् महावीर की विशिष्टता शास्त्र में निम्न उपमाओं से बताई गई हैं—[3]

(१) कांस्य-पात्र की तरह निर्लेप।
(२) शंख की तरह निरंजन, राग रहित।
(३) जीव की तरह अप्रतिहत गति।
(४) गगन की तरह आलंबन रहित।
(५) वायु की तरह अप्रतिबद्ध।
(६) शरद ऋतु के स्वच्छ जल की तरह निर्मल।
(७) कमल पत्र के समान भोग में निर्लेप।
(८) कच्छप के समान जितेन्द्रिय।
(९) गेंडे की तरह राग-द्वेष से रहित एकाकी।
(१०) पक्षी की तरह अनियमित विहारी।
(११) भारण्ड की तरह अप्रमत्त।
(१२) उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर।
(१३) वृषभ के समान पराक्रमी।
(१४) सिंह की तरह दुर्द्धर्ष।
(१५) सुमेरु की तरह परीषहों के बीच अचल।
(१६) सागर की तरह गंभीर।
(१७) चन्द्रवत् सौम्य।

---

१ समवायांग सूत्र।

२ (१) पुष्प वर्षा (२) दुंदभिनाद (३) चमर (४) छत्र (५) दिव्य ध्वनि (६) अशोक तरु (७) सिंहासन (८) भामण्डल

३ आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज : जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ३९७।

(१८) सूर्यवत् तेजस्वी ।

(१९) स्वर्ग की तरह कान्तिमान ।

(२०) पृथ्वी के समान सहिष्णु ।

(२१) अग्नि की तरह जाज्वल्यमान तेजस्वी ।

संत-वाणी और लोक संस्कृति :

सन्तों द्वारा प्रयुक्त उदाहरण-शैली पूर्ण रूपेण लोक संस्कृति पर आधारित है । सन्त-काव्य में लोक-संस्कृति शीर्षक निवन्ध में ठीक ही कहा गया है कि इन महान युग-चेताओं (सन्तों) की वाणी लोक-जीवन के तत्त्वों से प्रभावित है तथा जन-भावना का पूर्ण प्रतिविम्व इसमें आच्छादित है । लोक-सांस्कृतिक चेतना इन सन्तों के विचार विनमय से ही प्रभावशाली एवं प्रेरणास्रोत बनी है ।

सन्तों की अप्रस्तुत योजना लोक-तत्त्वों या लोक-संस्कृति के अत्यन्त निकट है । उनकी प्रतीक-योजना जन-जीवन से ग्रहण की गई है । चरखा, सूप, झीनी चदरिया, साड़ी, कुम्हार, रंगरेज, रहटा, व्याघ्र, मधुकर, कोठरी, चोर, पनिहारिन, वदरिया, ढोलनहार, ध्वजा, मछली, पंछी, हाथी, मतंग दीपक, चंदन, कछुआ, बनिया, वैद्य, हाथी, दीपक, हंस, कहार, पूत, महतारी, सूरमा, तथा कुआ आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो लोक जीवन, और लोक भाषा से ग्रहण किए गए हैं परन्तु फिर भी ये प्रतीकों के रूप में वेजोड़ सावित होते हैं । इनके द्वारा जो शब्द चित्र या भाव व्यक्त किये गए हैं वे बड़े ही प्रभावशाली और मनोरंजक है । सन्त कवि रूपकों के विधान में वड़े कुशल और चतुर थे । इनके रूपक और अन्योक्तियों की रचना लोक तत्त्वों या लोक संस्कृति के आधार पर हुई है । ध्यान देने योग्य वात यह है कि इनकी अप्रस्तुत योजना जितनी जन-जीवन के निकट है उतनी ही यथार्थ और प्रभावशाली है ।[1]

इस कथन के आलोक में भगवान् महावीर की वाणी में प्रयुक्त अप्रस्तुत योजना, रूपक, अन्योक्तियों और लोक संस्कृति के अविनश्वर स्वरों से मुखरित हैं । यहां कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्थ ।
दीवप्पणट्ठे व अणंत मोहे, नैयाउयं दट्ठुभदट्ठुमेव ।।उत्तराध्ययन ४.५।।

अर्थात् प्रमादी पुरुष धन द्वारा न इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है न परलोक में । फिर भी धन के असीम मोह से जैसे दीपक के वुझ जाने पर मनुष्य मार्ग को ठीक-ठीक नहीं देख सकता उसी प्रकार प्रमादी पुरुप न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखता ।

१ सन्त काव्य में लोक संस्कृति (समाज, अक्टूवर, ५८) पृ० ४५५

छंद निरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्ते, तम्हामुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ।।

उत्तराध्ययन ४.८

अर्थात् जैसा सधा हुआ कवच धारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार मुनि दीर्घ काल तक अप्रमत्त रूप से संयम का पालन करता हुआ शीघ्र ही मोक्ष पाता है ।

भगवान् महावीर अपने श्रमणों को वारवार यही उपदेश देते थे कि हे आयुष्मान श्रमणों ! इन्द्रिय-निग्रह करो । सोते, उठते, वैठते सदा जागरूक रहो और एक क्षण भर भी प्रमाद न करो, न जाने कव कौन सा प्रलोभन आकर तुम्हें लक्ष्यच्युत करदे । अतएव जैसे अपने आप को आपत्ति से वचाने के लिए, कछुआ अपने अंग प्रत्यंगों को अपनी खोपड़ी में छिपा लेता है, उसी प्रकार अपने मन पर कावू रक्खो और अपनी चंचल मनोवृत्तियों को इधर-उधर जाने से रोको ।

भगवान् ने समय-समय पर जो उपदेश अपने साधकों को दिए हैं उन्हें सुगम वनाने के हेतु किसान, जुलाहा, पनिहारिन, वैश्य, गाय, वृपभ, वृक्ष, झोंपड़ी थाली, कटोरा, पनघट, ग्राम, वैल, माटी, हल आदि के उदाहरण दृष्टान्त के रूप में प्रयुक्त किये है । वस्तुतः जैन धर्म एक लोक-धर्म है जिसमें लोक की आत्मा स्थापित है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् महावीर को लोक संस्कृति का संरक्षक कहना सर्वथा सत्य है । यह घ्यान रखने की वात है कि जैन भिक्षु विना किसी भेद भाव के उच्च कुलों के साथ ग्वालों, नाई, वढ़ई, जुलाहे आदि के कुलों से भी भिक्षा ग्रहण करते हैं । इससे जैन श्रमणों की जनसाधारण तक पहुंचने की अनुपम साध और भावना का परिचय मिलता है । इन भिक्षुओं ने निस्संदेह महान् त्याग किया था । लोक-कल्याण के लिए अपने आप को उत्सर्ग कर देने का इतना उच्च आदर्श वहुत दुर्लभ है ।

••••



५०

भाषाओं का प्रश्न : महावीर का दृष्टिकोण

• श्री माईदयाल

भाषाओं का प्रश्न :

भाषाओं का प्रश्न इतना जटिल और पेचीदा पहले कभी नहीं था, जितना वह आज के युग में है। प्राचीन, मध्यकाल व आधुनिक काल की उन्नीसवीं शताब्दी की तो बात ही दूसरी है, पिछले पचास-साठ वर्षों में ही संसार के बड़े छोटे देशों में तो राज-व्यवस्था, शासन प्रणाली, अर्थ-व्यवस्था, समाज व्यवस्था, विज्ञान, शिल्प विज्ञान (टेक्नोलाजी) और सैनिक विज्ञान (मिलिट्री साइन्स) आदि में महान् परिवर्तन हुए हैं। आज यातायात और संचार साधनों से संसार के देश इतने समीप आ गए हैं कि दुनिया बहुत छोटी-सी बन गई है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र इतना विशाल हो गया है कि यदि किसी बड़े या महत्त्वपूर्ण देश में कोई घटना होती है, तो उस का आस-पास के देशों पर विशेषतया, व सब देशों पर साधारणतया प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। और अब तो अणुशक्ति, राकेटों व अन्तरिक्ष यात्रा आदि के कारण जमाने की चिन्तनधारा ही बदल गयी है। भविष्य में इसका क्या परिणाम होगा, यह बताना कठिन है।

इन सब परिवर्तनों के कारण मानव जाति की विचारधारा, रहन-सहन व सभ्यता आदि में तो क्रान्ति सी आ गयी है। भाषाएं भी उसके प्रभाव से बच नहीं सकी हैं। भाषा शास्त्रियों का मत है कि भाषा एक स्थितिपालक (Conservative) विषय है, उसमें परिवर्तन बड़े धीरे-धीरे होता है। पर उस प्रभाव से वह देर तक नहीं बच सकती। आज संसार की सभी विकसित व विकासशील भाषाओं पर उसका प्रभाव पड़ रहा है।

भाषा अर्जित सम्पत्ति है :

प्रत्येक व्यक्ति अपनी मां, परिवार या अपनी संगति में आने वाले व्यक्तियों से अन्य परम्परागत सम्पत्तियों के समान भाषा को भी प्राप्त करता है। हर एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को अपनी भाषा से मोह होता है। भाषा एक अर्जित सम्पत्ति भी है। अर्जन से परम्परागत भाषा का परिमार्जन और मातृभाषा का क्षेत्र-विस्तार होता है। वह दूसरी बोलियों और भाषाओं के शब्द ग्रहण करती है। भाषा एक सामाजिक वस्तु है, व्यक्तिगत नहीं। वह किसी एक व्यक्ति या कुछ लोगों के द्वारा नहीं बनायी जाती। विद्वान्, व्यापारी, किसान, मजदूर, नर-नारी और भिन्न-भिन्न व्यवसायों को करने वाले आदि उसे बढ़ाते रहते

हैं। विभिन्न उद्योगों व आविष्कारों, शिल्प विज्ञान, और टेक्नोलाजी से वह निरन्तर बढ़ रही है। भाषा सदा ही विकासोन्मुख तथा अर्जनशील रहती है। विकास का नाम ही परिवर्तन है। परिवर्तन कभी वृद्धि के रूप में होता है, तो कभी ह्रास के रूप में। भाषा अपने नए-नए रूप, अर्थ तथा नई ध्वनियों आदि को स्थान देती है, साथ ही इनमें से पहले कुछ रूपों आदि को छोड़ती भी जाती है। भाषा की प्रकृति ही आगे बढ़ने की है। उसका कोई अंतिम रूप नहीं होता। वैदिक संस्कृत, उत्तर संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के रूप में वह लगातार आगे ही आगे बढ़ती जा रही है। जहां उसकी ऐतिहासिक परम्परा अक्षुण्ण है, वहां अर्जन स्वभाव के कारण या परिस्थितियों के कारण उसमें परिवर्तन भी आते रहते हैं। भाषा को बनाने वाले तो साधारण स्त्री-पुरुष किसान, मजदूर, व्यापारी या व्यावसायिक लोग होते हैं। शिक्षित वर्ग तो भाषा का संस्कार करता है। और उस संस्कार के पूर्ण होने तक भाषा के नैसर्गिक क्षेत्र में उसकी अप्रतिहत अविच्छिन्न धारा प्रवाह करती हुई बहुत आगे बढ़ जाती है। उदाहरण के तौर पर अंग्रेजी और हिन्दी में पिछले सौ-दो-सौ वर्षों में कितना परिवर्तन हो गया है।

प्रश्न के अनेक पहलू :

भाषाओं का प्रश्न भारत में कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण बन गया है। शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा का विशेष स्थान है। प्रशासन के लिए भी प्रादेशिक भाषाओं का महत्व है। पर अखिल भारतीय प्रशासन, उच्च शिक्षा, वैज्ञानिक शिक्षा, शिल्प विज्ञान, सर्वोच्च न्यायालय, केन्द्र व प्रदेशों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार आदि के लिए तो राष्ट्र भाषा का महत्व मानना ही होगा। उसके लिए संविधान में हिन्दी को देवनागरी लिपि में स्वीकार किया गया है। परन्तु इस निर्णय को कार्यान्वित करने के रास्ते में अनेक रुकावटें आ गयी हैं, जैसे राजनीतिज्ञों की चालें, रोजगार का प्रश्न, बहुसंख्यकों व अल्पसंख्यकों का प्रश्न, सम्प्रदायों विशेषकर मुसलमानों व सिक्खों की भाषाओं का प्रश्न आदि। समस्या को सुलझाने के लिये भाषावार-प्रदेश बनाए गए थे, पर वे भाषावाद के गढ़ बन गए हैं और वहां भाषा के नाम पर जो झगड़े-फिसाद व आन्दोलन होते हैं, वे सर्वविदित हैं। भाषा के प्रश्न छेड़ना मधुमक्खी के छत्ते में हाथ डालने के समान है। हिन्दी व प्रादेशिक भाषाओं के विकास में पूर्ण रूप से कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। सरकारी मशीन चलाने वाले प्रशासक चाहते हैं कि उन्हें बनी बनायी भाषा मिल जाये, तो ठीक, वरना उनके पास अंग्रेजी है ही। अंग्रेजी का मोहपाश बहुत जकड़ने वाला है। भाषा फार्मूला माना जरूर गया, पर उस पर भी अमल नहीं हो रहा है।

लिपि का प्रश्न :

लिपि का प्रश्न भी भाषा के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। सभी भारतीय आर्य भाषाओं की लिपियां अलग-अलग हैं। दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं—कन्नड़ तमिल, तेलगु और मलयालम की लिपियां भी अलग-अलग हैं। इस लिपि भेद के कारण भाषाओं में आदान-प्रदान में कठिनाई पड़ती है। आज मुद्रण कला इतनी उन्नत व तेज हो गयी है कि उसके लिए भारतीय लिपियों में बड़े संशोधन की आवश्यकता है। महात्मा गांधी व पंडित जवाहरलाल

नेहरू की सम्मति थी कि कम से कम आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं जैसे हिन्दी, गुजराती, बंगला, उड़िया, गुरुमुखी व उर्दू आदि को देवनागरी लिपि में लिखा जाए और द्रविड़ भाषाओं के लिए एक लिपि अपनाई जाए। पर भाषाओं के मोह के समान लिपियों का मोह या भूत भी हमारे देशवासियों के सिर पर सवार है। वे भूतकाल में चलते हैं, आगामी भविष्य—लम्बे भविष्य में विचरना नहीं चाहते। कुछ नेता रोमन लिपि को थोपने का प्रयत्न करते हैं। चीन में भारत से ज्यादा जनसंख्या—सत्तर करोड़ है, वहां भाषाएं भी भारत से अधिक हैं। पर उनके यहां जो चित्र लिपि है, उसके कारण पढ़ने लिखने वालों को कोई कठिनाई नहीं होती। वैसे अब वहां भी रोमन लिपि को अपनाया जा रहा है। लिपि सुधार की दिशा में बहुत काम होने की जरूरत है। आचार्य विनोबा भावे देवनागरी लिपि में सुधार करने व सब भाषाओं में उसे अपनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं, पर अब वे इतने वृद्ध हो गए हैं कि विचार देने के सिवाय वे सक्रिय रूप से कुछ करने में असमर्थ हैं। उनके विचार को अमली रूप देने के लिए भाषा प्रचारकों के दल (टीमें) चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व भाषा :

आज हमारे देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इतने बढ़ गए हैं कि सभी देशों से हमारे व्यापारिक, राजनीतिक, राजनयिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध व समझौते हैं। अंग्रेजी शासन काल में यहां अंग्रेजी से काम चलता था, आज वह भी है। पर आज हमारे विद्वानों को जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी, लातीनी, अरबी, फारसी, चीनी व जापानी भाषाएं आदि भी सीखनी पड़ रही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, स्पेनिश और चीनी भाषाओं में काम होता है। वहां अनुवाद की ऐसी व्यवस्था है कि एक भाषा के भाषण का अनुवाद साथ-साथ अन्य चारों भाषाओं में होता रहता है। यह टेक्नोलाजी का चमत्कार है। यद्यपि संसार का आधा पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में होता है, पर विज्ञान, शिल्प विज्ञान के अनुसंधान सम्बन्धी लेख, प्रबन्ध, परिपत्र, आदि अंग्रेजी के अतिरिक्त जर्मन, रूसी व फ्रांसीसी में होते हैं। आज शिल्प विज्ञान आदि अन्तर्राष्ट्रीय विषय बन गए हैं। इसलिए विदेशी भाषाओं का अध्ययन भी आवश्यक है।

भाषा विज्ञान का महत्व :

भाषा विज्ञान एक तुलनात्मक विषय है। योरोपीय भाषाओं का एक परिवार है, जिसमें संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, पुरानी ईरानी, यूनानी, लातीनी, आदि पुरानी भाषाओं और अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, नई ईरानी, पश्तो, हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, कश्मीरी, सिन्धी, उडिया, असमिया व राजस्थानी आदि भाषाएं हैं। इनमें शब्दों की बहुत साम्यता है। भाषा विज्ञान, भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के बिना आगे नहीं बढ़ सकता और आज तो संसार के सभी देशों के शब्द सभी भाषाओं में पहुंच रहे हैं। मानों, शब्दों का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक हो, और उसमें सब अपनी-अपनी भाषाओं के शब्द जमा कराते रहते हैं और आवश्यकतानुसार उसमें से लेते रहते हैं। शब्दों में वर्णविपर्यय अर्थात् वर्णों में हेरफेर, स्थान परिवर्तन, लोप, आगमन आदि होता रहता है, उनकी ध्वनियां बदलती रहती हैं। यही उनका विकास है। इतना ही नहीं, उनके अर्थ भी बदलते रहते

हैं। भापाओं के पारस्परिक सम्बन्धों व राजनीतिक, व्यापारिक व सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण भापाओं में विभिन्न शब्दों; संकर शब्दों या दोगले शब्द जन्म लेते रहते हैं, बनते रहते हैं, जैसे धन-दौलत, अगनबोट, टिकटघर, नीलामघर, मेजपोश आदि।

प्रश्न की जटिलता :

ऊपर के समस्त विवेचन से यह मालूम हो गया होगा कि भारत में भापाओं का प्रश्न बड़ा जटिल है, पेचीदा है। उसके अनेक पहलू हैं। जहां ज्ञान विज्ञान के प्रचार, समस्त भारत के प्रशासन व भावात्मक एकता (इमोशनल इंटीग्रेशन) के लिए हिन्दी के पूर्ण विकास की आवश्यकता है, वहां प्रदेशों की भाषाओं व अल्प संख्यकों की भाषाओं के विकास व संरक्षण की आवश्यकता भी है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारत के सभी नागरिकों का यह महान् कर्तव्य है कि वे अपनी भापा का सम्मान करते हुए, दूसरी भारतीय भापाओं के प्रति भी आत्मीयता, समभाव व समादार का व्यवहार करें। भापाओं की अनेकता में एकता देखने की उदारता व सहिष्णुता की जरूरत है। यह एक प्रकार से परम धर्म है, महान् कर्तव्य है। जैन विद्वान् इस काम में सहयोग दें।

बहुत दिन हम भापाओं के प्रश्न को उसके सही रूप में देखने में असमर्थ रहे, उसे उलझाते रहे, उसके नाम पर लड़ते-झगड़ते रहे और अपना अहित करते रहे। अपने-अपने दृष्टिकोण को ठीक मान कर ऐसे कट्टरपन्थी बने, कि देश के दूरदर्शी नेताओं की बात पर ध्यान ही नहीं दिया। निहित स्वार्थ देश के हित पर छा गया, इस सबका परिणाम यह हुआ कि भारत को स्वतन्त्र हुए पच्चीस वर्ष हो गए, पर भापाओं का प्रश्न हल होने में नहीं आ रहा है। काश, भारतीय जनता इस प्रश्न के महत्व को ठीक समझ कर इसको हल करने में सहायक हो।

जैन दृष्टिकोण :

यहां अब इस प्रश्न के प्रति जैनों के दृष्टिकोण पर विचार किया जाएगा। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव व अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का भापाओं के प्रश्न पर क्या दृष्टिकोण और उनका भापाओं को क्या योगदान था? जैनाचार्यों, कवियों व लेखकों ने भारतीय भापाओं के लिए क्या काम किये? फिर मध्यकालीन भारतीय भापाओं व आधुनिक भारतीय भापाओं के लिए जैन समाज क्या कर रहा है और उसे क्या करना चाहिए, इन सब बातों का उल्लेख यहां अति संक्षेप में किया जाएगा।

भगवान् ऋषभदेव की देन :

जैनों की मान्यता के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ ने भोग भूमि के अन्त में और कर्मभूमि के आरम्भ में 'असि, मसि, कृपि' आदि कर्मो या बातों को जनता को सिखाया। इनमें 'मसि' से आशय लिखने पढ़ने से था। इस प्रकार वे भापा व विद्याओं के जन्मदाता हुए। उन्होंने लेख, गणित, नृत्य, सौ प्रकार की शिल्पकलाएं, बहत्तर पुरुषों की कलाएं और स्त्रियों की चौसठ कलाएं प्रचलित की। भारत की ब्राह्मी लिपि को जन्म भी उन्होंने दिया। ये सब प्रागैतिहासिक बातें हैं। उनसे विद्वानों का मतभेद हो सकता है।

भगवान् महावीर का दृष्टिकोण :

इसके बाद हम भगवान महावीर स्वामी के युग में आते हैं। उन्होंने राज-पाट छोड़ कर वैराग्य को अपनाया। उस जमाने में फैली हुई हिंसा का विरोध किया। अहिंसा का प्रचार किया, विचार-सहिष्णुता के लिए अनेकान्त का उपदेश दिया। पर भाषा के क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण उस युग की मान्यता के विरुद्ध था। वह बड़ा क्रांतिकारी और विद्रोहात्मक था। वे जनता के कल्याण के लिए जनता की भाषा में अपना प्रवचन, उपदेश करते थे। यह जन-भाषा उस जमाने की प्राकृत या अर्द्धमागधी भाषा थी। संस्कृत ब्राह्मणों की भाषा मानी जाती थी। साधारण जनता उसे नहीं समझपाती थी। पर भगवान महावीर के अनन्त ज्ञान की बातें जनता की भाषा में होने के कारण साधारण जनता के हृदयों पर सीधा प्रभाव डालती थी। जनता उनके उपदेशों से लाभान्वित होती थी।

भाषा सम्बन्धी महावीर स्वामी के कार्य का मूल्यांकन डॉ० कांति कुमार जैन ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में किया है। वे लिखते हैं—'भगवान महावीर के प्रतिष्ठान-विरोध (Opposition of establishment) का ही एक पक्ष है, उनकी भाषा नीति। वर्द्धमान महावीर के समय तक धर्म की भाषा संस्कृत बनी हुई थी, यद्यपि सामान्य जनता से उसका सम्बन्ध एक अरसे टूटा हुआ था। जनता जो बोली बोलती और समझती थी, पुरोहित या धर्माचार्य भी उसी में बोलता, तो उसका पाखण्ड बहुत कुछ उजागर हो जाता। शासक और शासित को पहचानने का एक उपाय यह भी है कि दोनों की भाषा एक है या अलग-अलग। शोषित की भाषा में बोल कर उसका शोषण करने में शासक वर्ग को कठिनाई होती है। अतः सामान्य वर्ग से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ही नहीं उसका मनमानी शोषण करने के लिए भी अपनी भाषा विशिष्ट बना कर रखता है। भगवान महावीर ने यह भलीभांति जान लिया था कि जनता को धर्म के ठेकेदारों के शिकंजों से छुड़ाने के लिए उन्हें उस भाषा से भी मुक्त करना होगा जो निहित स्वार्थों की प्रतीक बन गयी है। उन्होंने अपने धार्मिक उपदेशों के लिए उस समय प्रचलित लोक भाषा को चुना। वे जनता से न तो कुछ छिपाना चाहते थे और न उससे आगे चलना चाहते थे। वे जनता को अपने साथ लेकर चलना चाहते थे। इसीलिए, महावीर ने सच्चे जन-नेता की भांति जनता को जनता की बोली में जनता के धर्म की शिक्षा दी। अच्छे जन-नेता को अपनी भाषा की उच्चता का दम्भ भी छोड़ना पड़ता है। महावीर ने अपने उपदेशों के लिए अर्द्धमागधी को चुना—अर्द्धमागधी, जो मागधी और शौरसैनी दोनों के बीच की बोली थी।"[1]

महावीर स्वामी के अर्द्धमागधी में प्रवचनों के कारण इसमें आध्यात्मिक साहित्य की उन्नति हुई। जनता का जीवन सहज स्वतन्त्र हुआ और वृद्धि निरामय हुई। लोक भाषा की समृद्धि हुई।

महावीर स्वामी के उपदेशों को अर्द्धमागधी में लिखा गया। बाद में दूसरे सैकड़ों आचार्यों ने इस भाषा में सब प्रकार के साहित्य की रचना की। उस युग में रचित कोशों व व्याकरणों के खोज की जरूरत है।

१—'तीर्थंकर' वर्ष २–अंक ७, नवम्बर, १९७२, पृ० १९२०।

विभिन्न भाषाओं को देन :

महावीर स्वामी के बाद उत्तर भारत में तो अर्द्धमागधी भाषा साहित्यिक भाषा बनी। पर जब सम्राट चन्द्रगुप्त के समय में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा, तब दक्षिण में द्राविड़ भाषाएं-कन्नड़, तमिल, तेलुगु व मलयालम-प्रचलित थीं। वे बोलियों के रूप में थीं। तभी जैन धर्म वहां गया। जैन आचार्यों, कवियों, व लेखकों ने उनमें साहित्य रचना करके उन्हें सम्पन्न बनाया। कन्नड़ भाषा के आदि प्रवर्तक तो जैन आचार्य ही थे। इन भाषाओं में विशाल जैन साहित्य आज भी सुरक्षित हैं।

संस्कृत को अपनाना :

जैन समाज के इतिहास में एक युग ऐसा आया, जब जैन आचार्यों ने संस्कृत के विद्वानों के सामने अपने सिद्धान्तों व न्याय आदि की उपस्थिति करने के लिए अर्द्ध मागधी के स्थान पर संस्कृत को अपनाया और उसमें विपुल साहित्य की रचना की। यह उस समय की मांग थी। उन्होंने संस्कृत कोश, व्याकरण बनाए। 'अमर कोश', 'धनञ्जय कोश' व 'जैनेन्द्र व्याकरण' आदि इस दिशा में अमर देन हैं। इससे जैन पारिभाषिक शब्द बड़ी संख्या में संस्कृत में आए।

अपभ्रंश भाषा का समुत्थान :

सातवीं शताब्दी के लगभग मध्यभारत व दूसरे भागों में अपभ्रंश ने साहित्यिक भाषा का रूप धारण किया। यह पहले एक जनभाषा थी, बोली मात्र। चौदहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भारत के साहित्यिक नभमण्डल में सूर्य के समान चमक उठी। यों तो इस साहित्य को रचने वाले विद्वान् कवि जैन, हिन्दू, बौद्ध और मुसलमान थे, पर इसमें अधिक रचनाएं करने का श्रेय जैन विद्वानों को ही है। अपभ्रंश का पद्य साहित्य ही विशेष मिला है, गद्य साहित्य नहीं। तीन शिला लेख भी मिले हैं।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में अपभ्रंश का अध्ययन महत्त्व पूर्ण स्थान रखता है। यह संस्कृत व हिन्दी के बीच की कड़ी है। हिन्दी की जननी भी विद्वान् इसे मानने लगे हैं। इतना ही नहीं, गुजराती, राजस्थानी व हिन्दी आदि के बहुत से शब्द अपभ्रंश से आए हैं। भाषा विज्ञान के अध्ययन में अपभ्रंश को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने और भारतीय तथा योरोपीय विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचने का श्रेय जर्मन विद्वान् हरमन जैकोबी को है। जो काम जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने संस्कृत को योरोपीय विद्वानों के सामने प्रस्तुत करके किया है और भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन को बल दिया, वही काम जैकोबी ने प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश में लाकर किया। इससे योरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में बड़ी गति आई। उन्होंने यह काम सन् १९१४ में भारत यात्रा के समय आरम्भ किया और १९१८ में 'भविष्यत्कहा' को प्रकाशित किया। इस काम की कहानी बड़ी रोचक है। उसमें जैन साधुओं की सहायता भी उल्लेखनीय है। यद्यपि इनसे पहले कुछ जैन विद्वानों ने इस क्षेत्र में काम किया था, पर इसके बाद यह काम खूब आगे बढ़ा।

गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी आदि को देन :

जैन विद्वान् क्षेत्र व काल के अनुसार काम करने में बड़े दक्ष व सतर्क थे। जब

संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश का प्रचार कम हुआ दूसरी जनभाषाएं भारत के विभिन्न प्रदेशों में पनपने लगी, तब उन्होंने उनमें भी साहित्य रचना का काम आरंभ किया। सैंकड़ों साधुओं व विद्वानों ने गुजराती, हिन्दी, मराठी व राजस्थानी आदि में जैन साहित्य का अनुवाद करना शुरू कर दिया। राजस्थान, दिल्ली, गुजरात व मध्यप्रदेश के सैंकड़ों-शास्त्र भण्डार जैन व जैनेतर शास्त्रों से भरे पड़े हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह साहित्य भी बड़ा उपयोगी है।

जैन दृष्टिकोण और काका साहेब कालेलकर :

गांधी अनुयायी काका साहेब कालेलकर भारतवर्ष के सांस्कृतिक जगत् के महान् विद्वान् हैं। वे बहुत सी भाषाओं....अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, संस्कृत व हिन्दी के अधिकारी विद्वान् हैं। हिन्दुस्तानी के प्रबल समर्थक हैं। गुजराती कोश उनकी ही देखरेख में बना है। उन्होंने भाषाओं के प्रश्न की चर्चा के बीच इन पंक्तियों के लेखक से कहा था 'मुझे प्रसन्नता है कि जैनों को किसी भाषा विशेष का कदाग्रह नहीं है। उन्होंने सभी भाषाओं को महान् योगदान दिया है।' और उनके इस मत का समर्थन ऊपर की हर एक पंक्ति व भारतीय भाषाओं के रूप व साहित्य को देखने से होता है।

वर्तमान में जैन विद्वानों का काम :

पिछले पचास वर्षों में जैन समाज में भाषाओं व भाषा विज्ञान के क्षेत्र में कुछ काम करने का श्रेय पं० नाथूराम प्रेमी, डा० हीरालाल जैन, डा० ए. एन. उपाध्ये, डा० बनारसीदास जैन, पंडित जुगलकिशोर मुखतार, डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, डा० प्रबोधचन्द्र, व 'जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश' चार भाग—दो हजार पृष्ठ के निर्माता श्री जिनेन्द्र कुमार व स्व० बिहारीलाल चैतन्य रचयिता 'जैन एन्साइक्लोपीडिया' आदि को है। 'राजेन्द्र अभिज्ञान कोश' भी एक महान् कोश है। अब तो बहुत से जैन विद्वान् डाक्टरेट के लिए इन विषयों को चुन रहे हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने दस वर्ष के तप समान घोर परिश्रम के बाद 'हिन्दी शब्द रचना' पुस्तक लिखी है। यह शब्द निर्माताओं, लेखकों, कवियों व पत्रकारों आदि के लिए बड़ी उपयोगी है।

अब क्या करना है ?

प्रश्न हो सकता है, कि वर्तमान में जैन विद्वानों, धनियों व साहित्यिक संस्थाओं का क्या कर्तव्य है ? यह काम इतना बड़ा है कि इसके लिए दस पांच विद्वान् तो क्या, सैंकड़ों विद्वान् भी कम हैं। यदि इस काम के महत्त्व को जैन विद्वान् व दानी समझ लें, तो न विद्वानों की कमी रहे, न धन की। जिसको एक बार शब्द-अध्ययन, भाषा रसास्वादन का चस्का लग जाए, उसे इस काम में समाधि या ब्रह्मलीनता का आनन्द मिलता है। घंटों इन पर सोचते रहें, चिन्तन करते रहें, तब कोई गुत्थी सुलझती है। इस काम में सबसे बड़ी आवश्यकता है धैर्य, खोजी की लगन, साम्प्रदायिकता व पंथवाद से ऊपर उठकर काम करने, व परिश्रम की आवश्यकता है। तब कहीं कुछ हो पाता है।

नीचे कुछ आवश्यक काम सुझाये जा रहे हैं—

१. प्राचीन जैन कोशों व व्याकरणों के शुद्ध मूल व अनुवाद प्रकाशित किये जाएं।

२. अर्द्ध मागधी, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती व हिन्दी तथा द्राविड़ भाषायी जैन साहित्य को शुद्ध मूल अनुवाद सहित प्रकाशित किया जाए।

३. प्रत्येक आचार्य के ग्रन्थों की शब्द सूचियां अर्थ सहित तैयार की जाएं, जिससे उनके शब्दों की वर्तनी (रूप) व अर्थ मालूम हो सकें और शब्दों की ध्वनि व अर्थ में परिवर्तन जाना जा सके।

४. हिन्दी व दूसरी भारतीय भाषाओं में स्तरीय जैन कोश तैयार किए जाएं और उनमें शब्दों के सब भाषाओं के रूप दिए जाएं।

५. जैन साहित्य का भाषा विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया जाए, और जो काम हुआ है, या हो, उसके प्रकाशन का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए।

६. कुछ संस्थाएं सुधरी हुई देवनागरी लिपि में न केवल दूसरी भाषाओं के जैन साहित्य का प्रकाशन करें, वरन् जैनेतर साहित्य का प्रकाशन भी करें। द्राविड़ भाषाओं के लिए एक लिपि तैयार करने व उसके प्रचार-प्रसार में सहयोग दें। यह काम भविष्य मे बड़ा फल देगा।

७. साहू शांतिप्रसादजी द्वारा स्थापित भारतीय ज्ञानपीठ के समान दूसरी जैन साहित्यिक संस्थाएं व ट्रस्ट इस प्रकार के अध्ययन को सहयोग दें। उनका एक लाख रुपये का पुरस्कार साहित्य व भाषा की महान् सेवा है। आज लेखक की सबसे बड़ी समस्या अपनी रचना के प्रकाशन की है। फिर भाषा विज्ञान, साहित्य कोश आदि बहुत श्रम साध्य व कम बिकने वाले होते हैं। यह काम व्यापारिक दृष्टि से नहीं किया जा सकता। ट्रस्ट ही यह काम कर सकते हैं।

८. धनी व दानी अपने ट्रस्टों से इस काम में लगे विद्वानों को धन-ग्रन्थ आदि से सहयोग दें व उनकी रचनाओं के प्रकाशन में आर्थिक सहायता दें। इस काम में साम्प्रदायिकता से ऊपर उठने की आवश्यकता है। श्रेष्ठ पुस्तकों पर बड़े-बड़े पुरस्कार दें। विद्वानों, पुस्तकालयों व विश्व विद्यालयों को ऐसा साहित्य भेंट में दिया जा सकता है।

डा० रघुवीर, संस्कृतनिष्ठ हिन्दी शब्दावली निर्माण तथा रा० भा० पतंजलि निगमानंदजी भी दानियों के सहयोग से ही काम कर सकें हैं। वैदिक शब्दानुक्रम कोश ग्यारह हजार पृष्ठों में है। यह भी एक ट्रस्ट की देन है।

९. पचास-सौ जैन साधु इस काम में दिलचस्पी लें व भाषा सेवा या भाषा विज्ञान सम्बन्धी साहित्य रचना में प्रवृत्त हों। शब्द संग्रह, लोकोक्ति संग्रह, जनपदीय शब्दों का संग्रह कार्य, शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन, व्याकरण, जनभाषा (Folk Language) अर्थ विज्ञान (सेमेन्टिक्स), शब्द व्युत्पत्तियों का संग्रह आदि करें। यह काम हमारे साधु कर सकते हैं, पहले वे इस विषय का पूरा अध्ययन करें। जो काम एक साधु कर सकता है, उतना काम पचास विद्वान् भी नहीं कर सकते। इस काम में भी जैन साधु पुराने जैन आचार्यो, कोशकारों व वैयाकरणों का अनुकरण करें।

ऊपर जो काम बताए गए हैं, वे तो संकेतमात्र हैं। कल्पनाशील विद्वान् व संस्थाएं ऐसे बीसियों और काम चुन सकती व कर सकती है। इस क्षेत्र म कदम-कदम पर काम हैं।

•••

नवम खण्ड







परिचर्चा

५१

परिचर्चा :

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्य : कितने प्रेरक ! कितने सार्थक !!

• डॉ० नरेन्द्र भानावत

भगवान् महावीर ने अपने समय में जिन मूल्यों को प्रतिष्ठापित किया, वे आज भी उतने ही ताजे और प्रभावकारी लगते हैं। २५०० वर्षो की सुदीर्घ कालावधि में भगवान् महावीर का तत्त्व-चिन्तन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से दार्शनिकों, अर्थशास्त्रियों, राजनीतिक विचारकों, मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों को किसी न किसी अंश में प्रभावित करता रहा है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था, आत्म-स्वातंत्र्य, सापेक्षवादी चिन्तन, जनतन्त्रात्मक सामाजिक चेतना, शोषण विमुक्त अहिंसक समाज-रचना, स्वावलम्बी जीवन-पद्धति जैसे जीवन-मूल्यों के विकासवादी चिन्तन में महावीर की विचारधारा प्रेरक कारक रही है।

यह सही है कि आज हमारे रहन-सहन और चिन्तन के तौर-तरीकों में पर्याप्त अन्तर आ गया है फिर भी महावीर के विचारों में वह क्रांति तत्त्व विद्यमान है जो हमें अपनी चेतना और परिवेश के प्रति सजग बनाये रखता है। उसके विभिन्न आयामों की मूल्यात्मक संवीक्षा करने की दृष्टि से हमने विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत विद्वानों के समक्ष निम्नलिखित ५ प्रश्न प्रस्तुत किये। उनसे जो उत्तर प्राप्त हुए, वे प्रश्नानुक्रम से यहां प्रस्तुत हैं :—

विचार के लिए प्रस्तुत प्रश्न :

१. भगवान् महावीर अपने समय में जिन मूल्यों की प्रतिष्ठापना करने के लिए संघर्ष रत रहे या श्रमण धर्म की साधना के पथ पर अग्रसर हुए, वे मूल्य क्या थे ?

२. भगवान् महावीर को हुए आज २५०० वर्ष हो गये हैं। क्या इस सुदीर्घ कालावधि में हम उन मूल्यों को प्रतिष्ठापित कर पाये हैं ? यदि हां तो किस रूप में और यदि नहीं तो क्यों ?

३. आपकी दृष्टि से मार्क्स, गांधी, आइन्स्टीन, सार्त्र आदि चिन्तकों की विचारधारा और महावीर के तत्त्व-चिन्तन में किस सीमा तक किस रूप में समानता है ?

४. आज के बदलते संदर्भो में समाज की नव-रचना में महावीर की विचारधारा किस प्रकार व किन-किन क्षेत्रों में सहायक बन सकती है ?

५. भगवान् महावीर के २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव पर आप व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए क्या संदेश देना चाहेंगे ?

विचारक विद्वान्

(१) आचार्य श्री नानालालजी म० सा० :

१. भगवान् महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों के परिबोध के लिए हमें महावीर युगीन संस्कृति पर एक विहंगम दृष्टि दौड़ानी होगी।

जब भगवान् महावीर अपनी शैशवावस्था को पार कर युवावस्था में प्रवेश करते हैं, सहसा उनकी दृष्टि तत्कालीन सामाजिक परिवेश पर केन्द्रित हो जाती है। जब वे दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं में परिवेष्ठित मानव-मानव को टुकड़ों में विभक्त देखते है, उनकी आत्मा समतामय अहिंसक उत्क्रान्ति के लिए चीत्कार कर उठती है। जब उनकी चिन्तन-धारा तत्कालीन तथाकथित सामाजिक व्यवहारों पर केन्द्रित होती है तो उनका अनन्त कारुणिक हृदय तड़प कर रो उठता है। पशु-पक्षी तो रहे दर किनार मानव-मानव के प्रति कितनी हीन, तिरस्कार एवं कृत्रिम जातिगत ऊंच-नीच की भावनाओं ने घर कर लिया है। वर्ण और लिंग भेद के कारण अखण्ड मानवता टुकड़े-टुकड़े में विभक्त हो रही है। विषमता एवं वैमनस्य मानव-मन को घेरे खड़ा है। सामान्य जन-मानस किंकर्त्तव्य विमूढ़ सा बन रहा है। नारी जीवन के प्रति कितनी हीन एवं घृणित भावनाएं घर कर गई यह "स्त्री शूद्रौ ना धीयेतां" के सूत्रों से स्पष्ट हो जाता है।

सामाजिक विषमता ही नहीं दार्शनिक एवं धार्मिक जगत् भी पर्याप्त अंधकार में भटकने लगा था। धर्म के नाम पर भौतिक सुख-सुविधाओं के लिये एवं अपनी नगण्य सी स्वार्थपूर्ति हेतु अश्वमेघ, नरमेघ जैसे क्रूर हिंसा-काण्डों के लिए तथाकथित धर्म गुरुओं ने सहर्ष अनुमति ही नहीं, प्रेरणा देना प्रारम्भ कर दिया था और उसी के फल स्वरूप "स्वर्गकामो यजेत्" और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" के सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुए। देवी-देवताओं के नाम पर प्राणी संहार होने लगा। यज्ञ-याग के अतिरिक्त धर्म नाम का कोई तत्त्व नही रह गया था।

दार्शनिक सिद्धान्तों के कदाग्रह के कारण वैषम्य एवं विद्वेष की जड़ें अत्यन्त गहरी जम गई थीं। भगवान् महावीर के समय में अनेक दार्शनिक परम्पराएं थीं। एक-अनेक, जड़-चेतन, सत-असत्, नित्य-अनित्य, शाश्वत-अशाश्वत् आदि का एकान्तिक आग्रह उनकी विशेषता थी।

महावीर ने इन सभी पहलुओं पर गहरा चिन्तन किया और पाया कि इन सभी क्षेत्रों में व्याप्त विषमताओं की जड़ स्वार्थलिप्सा एवं एकान्तिक आग्रह ही है। उन्होंने तत्कालीन सभी सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मूल्यों में सर्वतोभावेन परिवर्तन अपेक्षित समझा और उनके स्थान पर नये मूल्यों की स्थापना हेतु घोर विरोध के बावजूद संघर्ष में उतर पड़े। वे नवीन मूल्य थे—मानव-मानव ही नहीं प्राणिमात्र में सम्दृष्टि, वर्ण एवं लिंग

भेद के स्थान पर गुण और कर्म व्यवस्था, धर्म के नाम पर होने वाले क्रूरतम हिंसा काण्डों का घोर विरोध और दार्शनिक विवादों के समन्वय हेतु सापेक्ष दृष्टि।

प्रतिष्ठापित इन मूल्यों की जन व्यापी क्रियान्विति हेतु वे स्वयं उस आध्यात्मिक समर-क्षेत्र में कूद पड़े जिसे उन्होंने श्रम द्वारा परिपोषित "श्रमण दीक्षा" संज्ञा दी और उसी का पुष्पित रूप विश्व-मैत्री, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

२. महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों के तह तक आज की युगीन चेतना पहुँच पाए यह अशक्य नहीं तो दुःशक्य अवश्य है। इतना होते हुए भी उन मूल्यों को इतनी सुदीर्घ कालावधि में भी जीवित अवश्य रखा गया है। पूर्ण अहिंसा एवं त्याग की साक्षात प्रतिमा उच्च कोटि का श्रमण वर्ग इसका जीता-जागता नमूना है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भगवान् महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों में इतनी अधिक तर्क प्रधान तात्विकता रही है कि वे उसी रूप में आज विद्यमान हैं, जिस रूप में २५०० वर्ष पूर्व थे। यही एक कारण है कि निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति किंवा महावीर संस्कृति इतने अधिक आंधी तूफानों के बीच भी अबाधगत्या आज उसी रूप में प्रतिष्ठित है जब कि उसकी समकालीन बौद्ध संस्कृति भारतीय क्षितिज पर प्रायः नाम शेष रह गई है।

अहिंसा, समता आदि सिद्धान्तों की सूक्ष्म व्याख्याएं जिनका आज राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में व्यापक प्रभाव है, जैन संस्कृति की ही देन मानी जानी चाहिये। स्वनाम धन्य चारित्रात्मा श्रद्धेय आचार्य श्री गणेशलालजी महाराज सा० के समक्ष सन्त सर्वोदयी नेता श्री विनोवा भावे के ये शब्द "जैन धर्म के सिद्धांत आज दुनिया में दूध में मिश्री की तरह घुलते जा रहे हैं" प्रबल प्रमाण है। अतः यह निश्चित है कि चाहे अल्प-संख्यकों द्वारा ही सही, महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों का अपनी चारित्रिक गरिमा द्वारा संपोषण सुदीर्घ कालावधि के बाद भी यथावत् है।

३. महावीर का तत्त्व-चिन्तन किसी एक पक्ष तक सीमित नहीं था। उनकी चिन्तन-प्रणाली एवं निरूपण-पद्धति जीवन के सभी अंगों, सभी पहलुओं को स्पर्श करने वाली थी। क्या समाज, क्या दर्शन, क्या धर्म और क्या अध्यात्म, कोई भी क्षेत्र उनके तत्त्वचिन्तन से अछूता नहीं था जबकि कार्ल-मार्क्स, गांधी, आइन्स्टीन, सार्त्र आदि चिन्तकों की चिन्तनधारा आर्थिक, सामाजिक, भौतिक आदि एकपक्षीय दृष्टि पर ही टिकी हुई है। अतः उपर्युक्त दार्शनिकों की महावीर से आंशिक तुलना 'समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः उदधाविव सर्व सिन्धवः, के रूप में की जा सकती है। अर्थात् महावीर की अपरिग्रह दृष्टि के साथ मार्क्स की, स्थूल अहिंसा के साथ गांधी की और अनेकान्त स्याद्वाद के साथ आइन्स्टीन की आंशिक तुलना की जा सकती है।

४. आधुनिक संदर्भ में महावीर की क्रान्तिकारी विचार-धारा का समुचित उपयोग सापेक्षदृष्टया धर्म-दर्शन-नीति-राजनीति-समाज एवं राष्ट्र हर क्षेत्र में व्याप्त विषमताओं के स्थायी समाधान हेतु किया जा सकता है। क्योंकि महावीर की हर दृष्टि जीवन-निर्माण के साथ समाज-निर्माण के लिए भी है। आवश्यकता है उन मौलिक विचारों की गहराई में

पैठने की ओर यथायोग्य यथास्थान विवेक पूर्वक उपयोग की। आज के बदलते संदर्भों में यदि समाज एवं राष्ट्र में संव्याप्त विषमताओं पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि आर्थिक असमानता राष्ट्र को वैषम्य ज्वालाओं में झुलसा रही है। ऐसी स्थिति में यदि महावीर की अनेकान्त पोषित अपरिग्रह वृत्ति का राष्ट्र व्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हो तो निश्चित ही विश्व-मानव को शान्ति का आधार हस्तगत हो सकता है।

वैसे दर्शन-विचार के क्षेत्र में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, व्यवहार में अपरिग्रह दृष्टि एवं राष्ट्र-निर्माण में ग्राम धर्म, नगर धर्म एवं राष्ट्र धर्म की विचार सरणि राष्ट्र के हर व्यक्ति एवं प्रमुख तौर पर राष्ट्र नेताओं का व्यवहार क्षेत्र बने तो महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित ये तीनों मूल्य समाज-रचना में अपना अमूल्य योग दे सकते हैं।

५. चूंकि मैं महावीर का अर्थात् वीतरागता का अनन्य उपासक हूं अतः व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिए वीतरागता किंवा परम समता का ही उद्बोधन दे सकता हूँ।

मेरी दृष्टि में परिनिर्वाणोत्सव पर उस परम ज्योति पुञ्ज युगपुरुष के अनुकूल कुछ करना है तो वह समता-दर्शन की पुनीत छाया-तले ही कर सकेंगे। अतः मैं समाज के प्रत्येक अंग से आह्वान करना चाहूँगा कि वह किसी भी क्षेत्र में रहता हुआ नवीन समाज-रचना के लिए समता-दर्शन का व्यापक एवं संयमीय स्वाचरण पूर्वक प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ करें।

समता-दर्शन की विस्तृत युगानुकूल व्यावहारिक रूप रेखा "समता-दर्शन और व्यवहार" नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत की गई है, जिस पर प्रत्येक तत्त्व चिन्तक गहराई से चिन्तन कर विषमता का स्थायी समाधान प्राप्त कर सकता है। समतामय समाज-रचना से विश्व-मानव, शान्ति की श्वास ले सकता है, ऐसा मेरा अटल विश्वास है।

(२) श्री रिषभदास रांका :

१. इस प्रश्न को इस तरह से रखना अधिक उपयुक्त होगा कि भगवान् महावीर ने किन मूल्यों को प्रस्थापित किया? उनके जीवन का उद्देश्य-समता दिखाई देता है। वे स्वयं संबुद्ध थे। किसी गुरु या परम्परा द्वारा प्रभावित हो, ऐसा नहीं दिखाई देता। उन्होंने सहजभाव से मानवी प्रेरणा को ध्यान में लेकर उसका समाधान ढूंढने का प्रयत्न किया और समाधान ढूंढने के लिए दीर्घ साधना अपनाई और समाधान प्राप्त होने पर अपने प्रथम उपदेश में जो कुछ कहा उससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने सब जीवों के प्रति समता रखने की बात पर ही अधिक बल दिया। जो बात हमको अप्रिय लगे वह दूसरों को भी अप्रिय ही लगेगी इसलिए सबके साथ आत्मवत् संयम का व्यवहार करने को महावीर ने अपने उपदेशों में प्रथम स्थान दिया।

उनका कहना है कि प्रत्येक जीव में समान रूप से सुख दुःख की अनुभूति ही नहीं है, वरन् विकास की क्षमता भी समान रूप से है। सब जीवों के प्रति आत्मवत् व्यवहार के

पीछे यह अनुभवजन्य ज्ञान होने से महावीर ने सभी क्षेत्रों में सबको समता अपनाने को कहा है। अहिंसा के व्यवहार की उन्होंने जो प्रेरणा दी है, उसमें से निम्नलिखित बातें फलित होती हैं :—

धर्म की आराधना में लिंग एवं जातिभेद नहीं हो सकता न उम्र का ही कोई प्रश्न उठता है। यह आराधना जंगल में भी की जा सकती है और घर में भी। गृहस्थ और श्रमण धनवान और निर्धन दोनों ही धर्म की आराधना कर सकते हैं। महावीर के उपदेशों में साम्प्रदायिकता, जातीयता या किसी प्रकार की संकुचितता को स्थान नहीं है।

यद्यपि वे तीर्थ के प्रवर्तक थे। तीर्थ एक सम्प्रदाय ही बनता है पर उनकी दृष्टि में जैनत्व प्रधान था। 'जिन' का उपासक जैन। अपने आपको जीतनेवाला 'जिन'। इन मूल्यों की प्रतिष्ठा उन्होंने की।

प्राणीमात्र दुःख से भयभीत है, त्रस्त है। इस दुःख से त्राण पाने का मार्ग कुछ महापुरुषों ने ज्ञान को माना क्योंकि अज्ञान के कारण अधिकांश दुःखों की उत्पत्ति होती है। ज्ञान होने पर दुःख दूर किए जा सकते हैं। परन्तु महावीर का अनुभव यह था कि ज्ञान हो जाय तो भी उस ज्ञान पर निष्ठा न हो और तदनुकूल आचार न हो तो दुःख से मुक्ति नहीं होती। इसलिए समता धर्म तभी मोक्ष देता है जब सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हो। इसकी जो आराधना करते हैं वे अन्य सम्प्रदाय या वेश में भी मुक्ति पा सकते हैं। शास्त्रीय भाषा में कहा गया है अन्य लिंग-सिद्ध, गृह-लिंग-सिद्ध। उन्होंने यह नहीं कहा कि मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हारा उद्धार कर दूंगा। समता का उन्होंने यहां तक विकास किया कि हर प्राणी में परमात्मा बनने की क्षमता है। अपने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं वही है।

भगवान् ने मनुष्य को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और बताया कि मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व है। जो मनुष्य विकास करता है, वह जीव से शिव, नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा बन जाता है। उन्होंने जिन मूल्यों की स्थापना की उनमें प्रमुख थे समता और स्वावलम्बन। उन्होंने स्वाधीनता का महत्व प्रस्थापित कर हर व्यक्ति को स्वाधीन बनकर विकास करने की प्रेरणा दी। यहां तक कि ईश्वर की गुलामी से भी मुक्त किया। चूंकि समता और स्वावलम्बन पर आधारित धर्म होने से स्वाभाविक ही वह जन-जन का धर्म बने, ऐसी भाषा में कि लोगों की समझ में आ जाय, इस प्रकार से उपदेश दिया। प्राणीमात्र के प्रति संयम का व्यवहार करने की बात कह कर उन्होंने जनता के समक्ष नये मूल्यों की स्थापना की।

२. इस लम्बी अवधि में कई महान् जैन आचार्य हुए जिन्होंने भगवान् के मूल्यों की प्रतिष्ठापना करने का प्रयत्न किया। जन-मानस पर उसका प्रभाव भी पड़ा है। मांसाहार का त्याग जो भारतीयों में पाया जाता है, उसका कारण जैनी हैं, यह बात जैन विद्वान् और चिन्तक भी मानते हैं। जैन धर्मानुयायियों ने अपने तत्त्वों के प्रचार में कभी आक्रमण को

नहीं अपनाया। इन बातों की पुष्टि विनोवा जैसे सन्त और काका कालेलकर जैसे विद्वान् भी करते हैं।

साम्प्रदायिकता उन्माद है। इतिहास साक्षी है कि उसके कटु फल संसार को चखने को मिले। धर्म के नाम पर लाखों नहीं करोड़ों को मौत के घाट उतारा गया। क्योंकि साम्प्रदायिक यही कहेगा कि मेरे सम्प्रदाय में आओ, मेरे उपास्य देव की उपासना करो तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा तुम्हारी दुर्गति होगी। साम्प्रदायिक व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करेगा, दूसरों के दोष देखेगा और दूसरों की निन्दा करेगा। उसका दृष्टिकोण एकान्तिक होगा, वह दूसरे की बात समझने का प्रयत्न ही नहीं करेगा। वह दूसरों को अपने सम्प्रदाय में लाने के लिए जुल्म जबर्दस्ती करना धर्म मानेगा।

भगवान् महावीर का दृष्टिकोण व्यापक था। उन्होंने आत्मोपम्य दृष्टि अपनाई थी इसलिए उनकी परम्परा में धर्म मुख्य रहा, सम्प्रदाय गौण। उनकी दृष्टि में मोक्ष या पूर्ण विकास का अनुबन्ध सम्प्रदाय के विधि-विधानों के साथ नहीं, पर धर्म के साथ माना गया था। वे 'अश्रुत्वा केवली' का सिद्धान्त स्थापित कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को उच्च स्थिति तक ले गये थे। 'अश्रुत्वा केवली' वे होते हैं जिन्होंने धर्म न भी सुना हो तो भी अपनी निर्मलता के कारण केवली पद तक पहुंच सकते है, बशर्ते कि वे धर्म से अनुप्राणित हों। इसके लिए किसी विशिष्ट साम्प्रदायिक मान्यता को मानना जरूरी नहीं है।

'अश्रुत्वा केवली' की तरह 'प्रत्येक बुद्ध' भी किसी सम्प्रदाय या धर्म परम्परा से प्रभावित होकर प्रव्रजित नहीं होते पर अपने ज्ञान से ही पूर्णत्व को प्राप्त करते है। भगवान् महावीर ने शाश्वत धर्म यह कहा था कि किसी प्राणी को मत मारो, उसे परिताप मत दो, उसकी स्वाधीनता में बाधा मत पहुंचाओ, सबके साथ संयम का व्यवहार करो।

उनके इन उदार विचारों की कई आचार्यों ने उपासना कर जैन शासन का गौरव बढ़ाया और देश में असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण विकसित किया। इस सम्बन्ध में निम्न कथन द्रष्टव्य है—

(क) महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिलादिक के साथ मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन युक्तियुक्त होगा, वही स्वीकार्य है।

(ख) भव-बीज को अंकुरित करने वाले रागद्वेषादि जिनके क्षीण हो चुके हैं, उसे मेरा नमस्कार है। वह ब्रह्मा, विष्णु, हरि या जिन कोई भी हो।

(ग) मैं अपने आगमों को अनुराग मात्र से स्वीकार नहीं कर रहा हूं, और दूसरों के आगमों का द्वेष मात्र से अस्वीकार नहीं कर रहा हूं, किन्तु स्वीकार और अस्वीकार के पीछे मेरी माध्यस्थ दृष्टि है।

जैन धर्म इन २५०० वर्षों में भारत ही नहीं मध्यपूर्व देशों में भी अपना प्रभाव

डाल सका था। जिस समय जैन धर्म का प्रसार अधिक था उस स्थिति की चर्चा करते हुए पुरातत्त्व के विद्वान पी० सी० राय चौधरी ने कहा है—यह धर्म धीरे-धीरे फैला, श्रेणिक, कूणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल तथा अन्य कई राजाओं ने जैन धर्म अपनाया। वह युग भारत के हिन्दू-शासन का वैभवपूर्ण युग था।

देश के सांस्कृतिक एवं नैतिक उत्थान में जैनाचार्यों का बड़ा योग रहा। वे गृहस्थों को अणुव्रत के पालन में प्रेरणा देते रहे, दूसरी विचारधारा के साथ समन्वय करते रहे, देशकाल के अनुसार परम्परा में परिवर्तन को वे अवकाश देते रहे। जनता को रुचिकर हो, समझ में आ जाए ऐसी भाषा में उपदेश देते रहे। उनके उपदेशों का ही प्रभाव था कि जैनियों में प्रामाणिकता और समाज तथा राष्ट्रहित का ख्याल रहता था। जैनियों में अभयदान, शिक्षा चिकित्सा और अन्नदान देने की प्रवृत्ति प्राचीन काल में भी थी। अब तक वह बची रही है। अहिंसा व सेवा की परम्परा आज भी बहुत कुछ मात्रा में जैनियों में पाई जाती है। पर जब से धर्म में बाह्य कर्मकाण्डों, विधि विधानों व दिखावे पर अधिक बल दिया जाने लगा, तबसे प्रभावशाली, समयज्ञ आचार्य की कमी होकर धर्म को संकुचित, साम्प्रदायिक रूप दिया जाकर व्यक्तिगत स्वार्थ बढ़ा और एकान्तिक निवृत जीवन पर अधिक बल दिया जाने लगा। जब आपसी प्रतिस्पर्धा और द्वेष बढ़ा तब भगवान् महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों का ह्रास होकर समाज की अवनति हुई। उसका जगत्-कल्याणकारी रूप पूर्वजों के श्रेष्ठत्व के प्रशंसात्मक गीतों में आकर सिमट गया। घर में बैठ कर हम अपने आपको भले ही श्रेष्ठ समझते हों पर संसार की दृष्टि से हमारा धर्म नगण्य सा बन गया।

३. इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स की समता की विचारधारा और विषमता के प्रति उसका सशक्त विरोध आज के जनमानस पर व्यापक प्रभाव डाले हुए है। कोई भी व्यक्ति, जिसके हृदय में विशालता है, वह विषमता का समर्थन कर नहीं सकता। अनेक महापुरुषों, तीर्थंकरों, अवतारों तथा पैगम्बरों के धर्म के द्वारा समता लाने के प्रयत्नों के बावजूद असमता और शोषण समाज में बहुत बड़े पैमाने पर चलता रहा है और उसका कारण उन्हें अर्थ और राजनैतिक सत्ता दिखाई दी तब उस असमता को मिटाने के लिए सत्ता बदल कर उन लोगों के हाथ में जो शोषित रहे हैं, सत्ता देकर शासन, कानून, दण्ड और नियन्त्रण द्वारा समता लाने का प्रयोग सूझना और उसके लिए प्रयत्न होना स्वाभाविक था। जनता में जागृति आई, वे अपने अधिकारों और शक्ति को पहचान गये और जिनका शोषण होता था, जो पीड़ित थे तथा गरीब थे उन्होंने इस विचार-प्रणाली को अपनाया और अनेक राष्ट्रों में समता लाने के लिए शासन पलट दिया। नई पद्धति से समता प्रस्थापित करने के प्रयोग हुए। इसमें संघर्ष होना स्वाभाविक था और हुआ। जिसमें लाखों नहीं पर करोड़ों के प्राण गये। समता लाने व जनता में अपने तत्त्वों और शक्ति के प्रति जागृति लाने में जो-जो बाधाएं दिखाई दी उसे दूर हटाने का प्रयास हुआ। उसमें धर्म भी समता लाने में उन विचारकों को बाधक लगा। इसलिए परम्परागत धर्म तथा धार्मिक मान्यताओं पर तीव्र प्रहार हुए। उसे अफीम की गोली कहकर तिरस्कृत समझा गया और लोग धर्म के विरुद्ध आचरण करने में प्रगतिशीलता समझने लगे।

सभी महापुरुषों ने असमता को समाज का दूषण मानकर समता प्रस्थापित करने के लिए प्रबल प्रयत्न किये। अर्थ को समता में बाधक मानकर परिग्रह की निन्दा की फिर भी परिग्रह का समाज में वर्चस्व या प्रभाव बना रहा। कर्म सिद्धान्त मनुष्य को भलाई की ओर प्रवृत्त करने के लिए था पर जब जनता में उस कर्म-सिद्धान्त का उपयोग शोषकों के प्रति तिरस्कार पैदा करने, तथा कोई अपने भाग्य से धनवान बना है और किसी की गरीबी का कारण इसके कोई पूर्व जन्म के कर्म हैं अतः यथा स्थिति में सन्तोष मानकर अन्याय को सहन करना चाहिए जैसी वृत्ति विकसित करने से हुआ तब समता के आज के अग्रदूतों को यह स्थिति बाधक लगी। फलस्वरूप उनका धर्म पर प्रहार करना स्वाभाविक था। उन्होंने वर्ग-विग्रह को समता प्रस्थापित करने के लिए आवश्यक मानकर वर्ग-विग्रह को उत्तेजना दी। जिससे संघर्ष हुआ। परिणामतः लाखों नहीं, करोड़ों के प्राण जाकर भी समस्या सुलझ पाई हो ऐसा नहीं लगता।

समता समय की मांग है, उसे टाला नहीं जा सकता। शोषण से पीड़ित जनता चुप रहे यह सम्भव नहीं। तब समता लाने का मार्ग निकालना आवश्यक मालूम दिया और ये प्रयत्न टाल्स्टाय, रस्किन, गांधी ने किये। धार्मिक महापुरुषों के सिद्धान्तों में जो विकृति आ गई थीं उसे दूर करने और समाज को नई दिशा देने का प्रयास हुआ। समता लाने के लिए अपरिग्रह और संयम को आवश्यक मानकर स्वेच्छा से अपरिग्रह अपनाने को, दूसरों के साथ समता का व्यवहार करने की बात कह कर महावीर तथा अन्य महापुरुषों के जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठापना का प्रयत्न गांधीजी द्वारा हुआ। भले ही परम्परावादी गांधीजी को महावीर का उपासक न मानें और गांधीजी ने वैसा दावा भी नहीं किया, पर गांधीजी ने भ० महावीर के समता के मिशन और उनके जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उन्होंने सत्ता, कानून, दण्ड और नियन्त्रण के स्थान पर संयम, हृदय-परिवर्तन, परिग्रह-परिमाण, ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त, श्रम, ब्रह्मचर्य, तथा समता को जीवन में स्थान देकर समाज की समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न किये। अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान देकर केवल ग्रन्थों, व्याख्यानों तथा श्रेष्ठत्व को पूजनीय मानने तक सीमित न रख कर वह जीवन में कैसे उतरे, अन्याय के परिमार्जन के लिए उनका उपयोग कैसे हो, इसके उन्होंने जो प्रयोग किए, वे मानव जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे जायेंगे।

अब तक सभी महापुरुषों ने अन्याय परिमार्जन के लिए हिंसा को आवश्यक माना था, पर गांधीजी ने उस दिशा में क्रांति कर सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में अन्याय के प्रतिकार के लिये सत्याग्रह का शस्त्र देकर मानव जाति को नई दिशा दी। गांधीजी के इन प्रयत्नों को आगे बढ़ाना धार्मिकों का और खासकर महावीर की अहिंसा के उपासकों का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है। गांधीजी के आध्यात्मिक वारिस संत विनोबा ने जो नया सूत्र दिया है वह सत्याग्रही नहीं सत्याग्राही का है। वह भगवान् महावीर के अनेक सिद्धान्त का परिपाक है। इसे विदेश के आइन्स्टीन आदि विचारक भी आवश्यक मानते हैं। पर भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को केवल उच्च व उत्तम कहने मात्र से काम नही चलेगा, उन्हें अपने

तथा जनजीवन में लाने के लिये प्रयत्नशील होना पड़ेगा। संसार की आज की समस्याएं सुलझाने में उन तत्त्वों का प्रयोग ही भगवान् के प्रति सच्ची श्रद्धांजली है।

अल्बर्ट स्वाइत्जर इस युग के महान् कर्मयोगी तथा चिन्तक माने जाते हैं। उन्होंने 'रेवरेन्स फार लाइफ' की बात दीर्घ चिन्तन व साधना के बाद खोजी, जो भगवान् महावीर के तत्त्वों की समर्थक है। आज का वैज्ञानिक, चिन्तक और सेवक अपने सुझाव अनुभव के आधार पर कहता है कि इस हिंसा से मेरे जीवन में जहां पग-पग पर हिंसा होती है, अहिंसक कैसे रहा जाय, जीवन को आदर कैसे दिया जाय ? इस विषय में स्वाइत्जर का कथन है यदि मेरा काम एक प्याले पानी से चल जाता है तो मुझे एक बूंद भी अधिक नहीं गिराना चाहिए, यदि मेरा एक टहनी से काम चल जाता है तो दूसरी न तोड़ूं, यह सावधानी रखकर जीवन के प्रति आदर प्रगट किया जा सकता है। क्या उनकी यह बात भगवान् महावीर के उस उपदेश से मिलती नहीं है कि जब उनसे भिक्षु ने पूछा कि मैं कैसे चलूं, कैसे बैठूं, कैसे खाऊं, कैसे सोऊं और कैसे बोलूं—जिससे पाप कर्म का बन्धन न हो। तब भगवान् महावीर ने ये सारी क्रियाएं यतनापूर्वक करने को कहा था।

सार्त्र आज का बहुत बड़ा चिन्तक माना जाता है। फ्रायड आदि पूर्व मानस शास्त्रियों के विचार का उस पर प्रभाव है। इन सब विचारकों ने मानव के विकास में उसकी प्रेरणा या इन्सटिंक्ट पर बड़ा बल दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव जीवन उसकी प्रेरणा से प्रभावित है और उसके विकास में उसकी प्रेरणा या इंस्टिंक्ट का खयाल न रखा जाय तो कुण्ठा निर्माण होकर विकास में बाधा पहुंचती है। भगवान् महावीर ने इंस्टिंक्ट, प्रेरणा या वृत्ति को आत्मविकास में उपयोगी माना था और विशिष्टता को विशिष्ट बनाने की बात कही थी। जिस व्यक्ति में जो विशेषता हो, उसको बढ़ावा दिया जाना चाहिए। उन्होंने इस बात की ओर ध्यान देने को कहा था कि जैसे तुम्हारी प्रेरणा तुम्हें प्रिय है और तुम उसे बढ़ाना चाहते हो वैसे ही दूसरे की प्रेरणा, इंस्टिक्ट या विशेषता में बाधक न बने। जैसे तुम अपनी इच्छानुसार करने के लिए स्वाधीन हो वैसे दूसरे की स्वाधीनता का भी ख्याल रखो। इसलिए अपनी विशेषता बढ़ाते समय दूसरों की विशिष्टता बढ़े उसमें बाधा न पहुंचे, इसका ध्यान रखो और इसके लिए संयम को उन्होंने मानव के विकास में महत्वपूर्ण स्थान दिया था।

४. मैं महावीर की विचारधारा को व्यापक तथा सभी काल व क्षेत्रों में उपयोगी मानता हूं। संसार की आज की समस्याओं को सुलझाने के लिए वह सक्षम है। किन्तु उसे अपने तक सीमित बना रखने से यह कार्य नहीं होगा। उसे व्यापक बनाना होगा। जैसे भगवान् महावीर और उनके आचार्यों ने उसे जनधर्म के रूप में व्यापक बनाने में उस समय की जनभाषा का उपयोग किया था, उसके कल्याणकारी रूप का लोगों को दर्शन कराया, हमें भी वैसा करना होगा। विज्ञान के क्षेत्र में बहुत तरक्की हुई है। विज्ञान की शोधों से जनजीवन में भारी परिवर्तन आया है। उसे ध्यान में रखकर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिष्ठित मूल्यों के प्रसार के लिए प्रयत्न करने होंगे। यदि इस विषय में दृष्टि स्पष्ट हो जाती है तो हमारा काम आसान हो जाता है।

अहिंसा की प्रतिष्ठापना हमें सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही दृष्टि से करनी होगी। मानव-जीवन में जो वैचारिक तथा मानसिक हिंसा ने अशांति और असन्तोष का निर्माण किया है, उसे दूर करने के लिए सूक्ष्म अहिंसा को जीवन में अपनाना होगा। इस दिशा में केवल साहित्य के द्वारा सूक्ष्म अहिंसा के हितकारी रूप को लोगों के समक्ष रखना ही काफी नहीं है। हमें अपने दैनिक जीवन में प्रयोगों द्वारा सिद्ध करना होगा कि व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के हित के लिये यही मार्ग श्रेष्ठ है। भगवान् महावीर के सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र को अपनाये बिना, केवल बोलने या लिखने से काम नहीं चलेगा। तत्त्व कितने भी श्रेष्ठ हों पर उनको जीवन में उतारे बिना, उसके परिणामों को लोगों के समक्ष रखे बिना, उनका श्रेष्ठत्व जनता स्वीकारे यह सम्भव नहीं। जैन धर्म की प्रभावना बड़े जुलूस, समारोह द्वारा करने की बात आज के बुद्धिवादी और वैज्ञानिक युग में अधिक उपयोगी नहीं होगी। सेवा के काम भी धर्म प्रभावना की दृष्टि से काफी नहीं होंगे। जीवन परिवर्तन से ही धर्म प्रभावना हो सकती है। हमारा जीवन शुद्ध हो, पवित्र हो, हम धर्मतत्त्वों को जीवन में अपना कर उसके परिणामों को जनता के समक्ष रख सकें, तभी जनता उस धर्म की ओर आकृष्ट हो सकती है।

जैन धर्म जैसे समता पर आधारित है वैसे ही उसका आधार व्यक्ति के जीवन-परिवर्तन पर है। भगवान् महावीर ने जो महत्वपूर्ण बात कही है कि तेरे भाग्य का विधाता तू ही है, तेरे सुख-दुःखों का कारण भी तू ही है, इस पर निष्ठा रख कर जीवन में होने वाले लाभों से, दूसरों को परिचित कराना होगा। आज का बुद्धिवादी, यह उत्तम तत्त्व है उसे ग्रहण करो, अथवा ऐसा हमारे पूज्य पुरुषों ने कहा है, इतना कहने भर से श्रद्धापूर्वक उसको मान ले यह सम्भव नहीं है। वह तो प्रयोग द्वारा आये परिणामों को देख कर धर्म को अपनाएगा। धर्म को लोगों को दिखाने के लिए नहीं पर वह व्यक्ति तथा समाज का हित करने वाला है, इस निष्ठा से अपनाने वाले धार्मिक ही नव समाज का निर्माण कर सकते हैं।

क्रांति की भाषा भले ही कानों को सुनने में अच्छी लगती हो और क्रांति का मार्ग दूसरे अपनावें, यह अपेक्षा रख कर उपदेशक थोड़ा बहुत प्रभाव डाल भी दे तो भी जीवन में स्थायी परिवर्तन लाने में असमर्थ ही रहेंगे। जिन व्यक्तियों से समाज बना है उन व्यक्तियों में परिवर्तन हुए बिना कुछ लोगों के जीवन में परिवर्तन आ भी जाय तो वह अधिक परिणामकारी नहीं होगा। भारत में सदा कुछ व्यक्तियों का जीवन स्तर बहुत ऊंचा रहा है और रहता आया है पर सामान्य जनता के जीवन में विशेष परिवर्तन हुआ दिखाई नहीं पड़ता। जो ऊंची स्थिति पर पहुंचे हैं, उनके विषय में जनता में आदर होता है, उनकी पूजा भी करते हैं और यह श्रद्धा भी आम जनता में पाई जाती है कि उनका उपास्यदेव, गुरु उसे कुछ दे देगा। पर उन्होंने जो कुछ कहा है वैसा जीवन बिताने से हमारा कल्याण होगा, यह निष्ठा नहीं पाई जाती। भगवान् महावीर को आदर देना, उनके विषय में पूज्य बुद्धि रखना, उनके तत्त्वों या उपदेशों के प्रति निष्ठा रखना अच्छी बात है और केवल उतना कर देने मात्र को धर्म मानने से धर्म के पूरे लाभ से हम लाभान्वित नहीं

ो सकते। हम भगवान् महावीर के आत्म-विकास के लिए पुरुषार्थ करने के सन्देश को ूल कर भिखारी और पामर वन गये हैं। तभी हमारे भारत में थोड़ी बहुत साधना करने ाला भगवान् वन जाता है और हम उसके द्वारा अपना कल्याण या श्रेय सधेगा ऐसा मान ार पुरुषार्थ अपनाने के ऐवज में कामनिक भक्ति द्वारा कल्याण की अपेक्षा रखते हैं।

समाज में आज ऐसी स्थिति नहीं है कि कोई भी व्यक्ति नैतिकता से जीवन जी नके। समाज में ऐसी स्थिति निर्माण होनी चाहिए कि जो नैतिक जीवन जीना चाहे उसे ुविधा मिले, समाज वैसी प्रेरणा दे सके। ऐसे समाज का निर्माण सत्ता, कानून, दण्ड या ेनयन्त्रण से आ नहीं सकता, उसके लिये हृदय-परिवर्तन, संयम का मार्ग अपनाना होगा। भगवान् महावीर के तत्त्वों को सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित करना होगा। धनवान अपने धन का उपयोग दिखावा, विलास या शोषण के लिए नहीं किन्तु अपने आपको जनता के ट्रस्टी समझ कर जन-कल्याण के लिए करेंगे तभी जिनके पास धन आज नहीं है वे उनके प्रति द्वेष न कर, प्रेम करेंगे। हर व्यक्ति को काम करने, अपने आपका विकास करने का अवकाश मिलेगा। सभी की शक्ति का उपयोग समाज या मानव जाति की भलाई में होगा, तभी समाज का नव-निर्माण भगवान् महावीर के द्वारा प्रस्थापित मूल्यों के आधार पर किया जा सकेगा।

हमारे सम्मुख व्यापक विश्व-कल्याण की दृष्टि न होने से हम छोटी-छोटी बातों में उलझ कर झगड़ पड़ते हैं। आपस के झगड़ों में अनेकान्त का प्रयोग न कर, संसार की समस्या सुलझाने में उसकी क्षमता का वखान करते हैं तो सिवाय उपहास के दूसरा क्या हो सकता है? हम बहुत ऊंचे-ऊंचे तत्त्वों की वातें तो करते हैं पर क्षुद्र लोकेषणा या व्यक्तिगत अहंकार से प्रेरित होकर आपस में प्रतिस्पर्धा करते हो, वहां कोई विशेष फल निष्पत्ति होगी, ऐसा नहीं लगता।

५. मेरी दृष्टि से यह अवसर हमारे लिये महान् है। इस अवसर पर भगवान् महावीर के गुणगान करना, उनका व उनके तत्वों का, उपदेश का सम्यक् परिचय कराना, उनके संघ की विशेषताओं को बताना, उत्सव के द्वारा लोगों को आकर्पित करना आदि कार्यक्रम किये जाने चाहिए। पर जब तक उनके गुणों को जीवन में नहीं उतारा जाता तब तक हम उनके सच्चे उपासक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। संभव है हम उनके महान् तत्त्वों को जीवन में उतारने की क्षमता न रखते हों पर उन्हें ठीक समझ कर, उस पर निष्ठा रखें और अपनी क्षमता या शक्ति के अनुसार उन्हें जीवन में उतारने का यत्न करें। यह तो किया ही जा सकता है।

समाज को इस अवसर पर जो करना है वह यह है कि भगवान् महावीर द्वारा कथित मूल्यों के आधार पर ऐसी समाज रचना करनी है जिसमें हर व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास करने का अवसर मिले। नैतिक, सद्गुणी व स्वाधीन जीवन जीने की समाज में सुविधा हो। ऐसे समाज की रचना का आरम्भ व्यक्ति अपने से करके समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ाता है जिनमें भगवान् महावीर के तत्वों के प्रति निष्ठा हो। कुछ व्यक्ति उनके तत्वों का पालन करें, इतना ही काफी नहीं है। भले ही कुछ साधक महावीर

के उपदिष्ट तत्वों को अपने जीवन में पूर्णरूप से पालन करते हों पर समाज के बहुसंख्यक लोग उन तत्वों में निष्ठा रखकर अपने जीवन में अपनी क्षमता व शक्ति के अनुसार कम मात्रा में भी पालन करें तो भी उसकी जरूरत समझी जाय और उन्हें उत्साहित और प्रेरित किया जाय। समाज के समक्ष जो विश्व में जैन धर्म के प्रसार का महान् कार्य है, उसके लिए हम मिलकर काम करें। समाज में सभी लोग सभी विषयों में एकमत नहीं हो सकते पर कुछ विषय ऐसे हैं जिनमें मतभेद नहीं है, उन कामों को हम मिलकर करें। आपसी मतभेदों को लोगों के समक्ष रखकर अपने को उपहासास्पद बनाने की अपेक्षा जिसे जो ठीक लगे, वह करने में, लग जाय। जब हम मानते हैं कि जैन धर्म या महावीर के मार्ग में विश्व-कल्याण की क्षमता है तो यह बात लोगों की समझ में आ जाये इस पद्धति से उसे उपस्थित करें। यह काम तभी किया जा सकेगा जब हम सब मिलकर काम का व्यवस्थित विभाजन कर योजना पूर्वक काम करेंगे, सम्पूर्ण शक्ति और साधनों का ठीक उपयोग करेंगे और उदार तथा व्यापक दृष्टिकोण रखेंगे।

राष्ट्र के सम्मुख जो समस्याएं हैं, जो असन्तोष और बेचैनी है, उसे दूर करने के लिए भगवान् महावीर के परि-निर्वाण का उपयोग उनके कल्याणकारी तत्वों को राष्ट्रीय जीवन में उतारने में होना चाहिए। आज साम्प्रदायिकता उभर कर राष्ट्र को छिन्न-भिन्न बना रही है। उसका निवारण करने में भगवान् महावीर के उदात्त, व्यापक व असाम्प्रदायिक तत्त्वों का प्रसार होना चाहिए। भगवान् महावीर ने अपने धर्म में गांव, नगर, तथा राष्ट्रधर्म को स्थान दिया था। उन्होंने कोई विशिष्ट धर्म अपनाने की बात नहीं कही। अहिंसा और संयम को अपनाने को कहा। किसी विशिष्ट व्यक्ति की पूजा या उपासना पर जोर न देकर जिन्होंने अपने गुणों का विकास कर उच्च पद पाया हो, उसकी उपासना करने को कहा। उपासना में भी उपास्यदेव की कोरी भक्ति को स्थान न देकर गुणों की उपासना को श्रेयस्कर माना। अपना विकास दूसरे के विकास में बाधक नहीं, पर सहायक बनाने की बात कही। जिस मार्ग में सबके कल्याण की, सबके उदय की बात कही गई हो, ऐसे तत्वों को अपनाने से राष्ट्र की उन्नति होकर वे मानव मात्र के लिए उपयोगी हो सकते हैं। इसलिए महावीर के तत्वों का व्यापक प्रसार किया जाय। इससे राष्ट्र की समस्याएं सुलझें और आज जो हिंसा, अत्याचार, असन्तोष, भ्रष्टाचार का बोलवाला है उस पर नियन्त्रण होगा तथा कानून, दण्ड द्वारा जो समस्याएं नहीं सुलझेंगी उन्हें व्यक्तिगत संयम या स्वेच्छा नियन्त्रण से, नैतिकता अपना कर सुलझाया जा सकेगा। जब राष्ट्र, भारतीय संस्कृति के इन महान् तत्वों को अपनायेगा तब अशान्त संसार जो भारत की ओर आशा से निहार रहा है उसकी अपेक्षा पूर्ण होगी। आज विज्ञान ने नाश के साधनों का प्रचुर मात्रा में निर्माण कर संसार को विनाश के किनारे लाकर रख दिया है। संसार के विचारक, वैज्ञानिक, राजनेता सभी इससे चिन्तित हैं। इस स्थिति को यदि बदलना हो तो सिवा अहिंसा व अनेकान्त के समता और समन्वय के, दूसरा रास्ता नहीं है। जो पीड़ित और साधनरहित है उन्हें, समृद्धवानों को स्वेच्छा से संयम और त्याग अपना कर, साधन उपलब्ध करा देना चाहिए। १९७१ में करीब २२०० वैज्ञानिकों ने तथा अभी इस वर्ष संसार के २५६ प्रमुख वैज्ञानिकों ने "ब्लू प्रिण्ट आफ सरवायवल" नामक

निवेदन में कहा है कि यदि हमें अपना अस्तित्व बनाये रखना हो तो संयम को अपनाना होगा ।

भौतिक समृद्धि से सम्पन्न राष्ट्रों में आज बड़ी बेचेनी दिखाई पड़ती है । वहां के लोग भौतिक सुख-सुविधा और साधनों से ऊब कर शांति की खोज में लगे हुए हैं । वे भारत की ओर बड़ी आशा से देख रहे हैं । यहां से कोई भी जाकर उन्हें योग या मनः शान्ति के उपाय सुझाता है तो वे उसे कोई शांति का मसीहा समझ कर उसके पीछे पागल हो जाते हैं ।

इन सब बातों को देखकर लगता है कि जो धर्म बुद्धि को सन्तोष दे सके, जिसमें अंधश्रद्धा या चमत्कार को स्थान न हो, जो आत्म-विश्वास व स्वावलम्बन पर आधारित हो, जिसमें साम्प्रदायिकता न हो और प्राणी मात्र के कल्याण की क्षमता हो ऐसे धर्म को अपनाने के लिये संसार उत्सुक है । जैन धर्म में ये सभी विशेषताएं हैं । पर हमने उसे मंदिर, उपाश्रय, स्थानक तथा अपने तक ही सीमित बना रखा है । हमें इसी में जैन धर्म की सुरक्षा लगती है । यदि यही स्थिति रही तब न हम उसका विश्व में प्रसार कर सकते है और न ही उसका विश्व कल्याणकारी रूप संसार के समक्ष रखा जा सकता है ।

मेरा उन लोगों से नम्र विनय है कि जो जैन धर्म को विश्व-कल्याणकारी मानते है, वे उठें और इस महान् कार्य के लिये अपने आपको समर्पित करें । इस अवसर पर सारे विश्व को भगवान् महावीर का, उनके उपदेशों का सम्यक् परिचय करा कर संसार को नाश से बचाने के महान् कार्य में अग्रसर हों । वे यह न समझें कि वे अकेले क्या कर सकेंगे ? भगवान् महावीर ने बताया कि हम में भगवान् बनने की क्षमता है । हम अपनी सुप्त शक्ति को जागृत कर बहुत कुछ कर सकते हैं । उस आत्म-विश्वास को लेकर वे आगे बढ़ें । सफलता निश्चित है ।

(३) गणपति चन्द्र भण्डारी :

१. महावीर द्वारा स्थापित जो भी मूल्य माने जाते है उनमें स्याद्वादी दृष्टि को मैं सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता हूँ । हो सकता है भाषायी अभिव्यक्ति की अपूर्णता को ही देख कर महावीर ने अनाग्रह के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हो । किसी भी सत्य को विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है । किसी भी दार्शनिक के सिद्धान्तों का विवेचन करते समय यदि यह दृष्टि अपनाई जाय तो मत-भेद भले ही हो, मन-भेद होने की गुन्जाइश नहीं रहती ।

आपके इस प्रश्न की भाषा बड़ी अटपटी है । ऐसा लगता है जैसे कोई सुधार का प्रोग्राम लेकर महावीर ने दीक्षा ली और फिर उन मूल्यों की स्थापना के लिए उन्होंने कोई आन्दोलन चलाया या संघर्ष किया । आपका प्रश्न गांधीवादी आन्दोलनों की छाया से ग्रसित है । मेरे विचार से महावीर केवल अन्तः प्रेरणा से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही दीक्षित् हुए, किसी सामाजिक लक्ष्य को लेकर नही और संघर्ष तो शायद उन्होंने अपने से ही किया और सच पूछा जाय तो शायद उन्हें अपने से भी संघर्ष करने की

आवश्यकता नहीं रही क्योंकि कैवल्य के निकट पहुंची हुई आत्मा स्वयं से संघर्ष के स्टेज को तो बहुत पहले पार कर चुकी होती है। हो सकता है उन्होंने वाणी के द्वारा कोई उपदेश भी न दिया हो क्योंकि हर उपदेश की प्रवृत्ति के पीछे अहंकार खड़ा रहता है। उपदेशक का अर्थ होता है दूसरे को गलत समझना, खुद को सही समझना और दूसरे को अपने मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करना। यह सब अहंकार है, जिसका महावीर में लवलेश भी नहीं हो सकता, और न कोई स्याद्वादी किन्ही मूल्यों का आग्रह ही कर सकता है। जिस तरह सूर्य के उदय होते ही सारा संसार क्रियाशील हो उठता है और कर्म की एक धारासी स्वतः प्रवाहित होने लगती है उसी प्रकार विना कुछ कहे महावीर की उपस्थिति ही शायद लोगों में कल्याणकारी भावनाएं जगाने में समर्थ थी। उनके उपदेश लोगों को 'टैलीपैथी' के द्वारा आत्म प्रेरणा के रूप में ही प्राप्त हुए होंगे। फिर भी, सामान्यतया यह माना जाता है कि महावीर ने जीवन में जिन मूल्यों को प्रतिष्ठित किया उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मूल्य ये है—

'धम्मो मंगलमुक्किट्ठम, अहिंसा संजमो तवो'

अर्थात् अहिंसा संयम और तपरूप धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है।

२. भगवान् महावीर द्वारा प्रतिष्ठित मूल्यों की पिछले २५०० वर्षो में बड़ी दुर्गति हुई है। उनका हर मूल्य एक ढकोसलासा वन गया है। अहिंसा चीटियों को शक्कर और कबूतरों को ज्वार डालने तक ही सीमित रह गई है। ब्रह्मचर्य की महिमा गाते हुए भी जनसंख्या निरन्तर बढ़ जाती रही है। जीवन की कठिन परिस्थितियों ने किसी न किसी प्रकार की चोरी करने के लिए मनुष्य को वाध्य कर दिया है। समाज में परिग्रह के प्रति आसक्ति वढ़ती जा रही है। इन सब विकृतियों के बीच में 'सत्य' की खोज मुश्किल हो गई है। और महावीर द्वारा स्थापित आध्यात्मिक मूल्य पीछे छूट गये हैं। इसका एक मात्र कारण है आध्यात्मिक जीवन की ओर आज के अतृप्त और कुंठाग्रस्त मनुष्य का कोई आकर्षण न होना और धर्म का रूढ़ियों मे वंध जाना।

३. मार्क्स, गांधी, आइंस्टीन आदि चिन्तक भौतिक जीवन को लक्ष्य वना कर चले थे जबकि महावीर का लक्ष्य आध्यात्मिक था, अतः इनमें दिखाई देने वाला साम्य लक्ष्य की भिन्नता के कारण वास्तविक साम्य नहीं। मार्क्स आर्थिक क्षेत्र का चिन्तक है। महावीर के अपरिग्रह से उसका साम्य दिखता है परन्तु महावीर की अपरिग्रह की सीमा तक जाने के लिए मार्क्स कभी तैयार न होगा। यदि एक दूसरे का शोषण किए विना संसार के सारे प्राणी लखपती वन सकते हों तो मार्क्स को कोई आपत्ति नहीं होगी पर महावीर इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। अतः दोनों में बहुत अन्तर है।

गांधी ने भी सत्य और अहिंसा के प्रयोग राजनीति में किए। वे आध्यात्मिक व्यक्ति अवश्य थे पर उनका लक्ष्य भौतिक जीवन की उन्नति ही था अतः उनकी अहिंसा भी महावीर की अहिंसा से बहुत भिन्न है। महावीर की अहिंसा की जो ऊपर व्याख्या की गई है, उसके अनुसार 'सत्याग्रह' भी अहिंसक आंदोलन नहीं माना जा सकता क्योंकि वह भी

अपने विचारों के अनुसार दूसरे को जीने के लिए बाध्य करना है जिसे विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से अहिंसा नहीं माना जा सकता।

आइंस्टीन के सापेक्षतावाद और महावीर के स्याद्वाद में भी बहुत साम्य दिखाई देता है। परन्तु सापेक्षतावाद का सम्बन्ध भौतिक जीवन के सत्यों से है जबकि स्याद्वाद के क्षेत्र में पुद्गल के साथ-साथ विचारों का क्षेत्र भी आ जाता है।

आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए स्याद्वादी दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। दूसरे सापेक्षतावाद का बल वस्तुओं की 'सापेक्षिक स्थिति' पर है। वह किसी की नितांत निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नही करता जबकि स्याद्वाद एक ही वस्तु के अथवा पुद्गल के अनेक रूप स्वीकार करता है। उसका बल सत्ता की सापेक्षता पर नहीं है। इन दोनों दृष्टियों को भी एक नहीं माना जा सकता।

४. मैं महावीर को मूल रूप में समाज रचना के आदर्श स्थापित करने वाला व्यक्ति नहीं मानता परन्तु बाद के आचार्यों ने व्यक्तिगत साधना के मार्ग को एक सामूहिक धर्म का रूप दिया। और इस प्रकार महावीर के मूल सिद्धान्तों को कुछ सरल करके सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी बनाया।

५. भगवान् महावीर के इस परिनिर्वाण महोत्सव पर यही सन्देश देना चाहूंगा कि हर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र किसी भी बंधी बंधाई चिंतन धारा का अन्धानुकरण न करके वह युग के अनुरूप अपने जीवन आदर्शों और नैतिक मानदण्डों का निर्माण करे। जब तक हमें भावी जीवन की परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान न हो तब तक भविष्य के लिए कोई निश्चित सन्देश देना एक प्रवंचना मात्र होगी।

(४) डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल :

१. भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। तीर्थंकर स्वयं तो परिनिर्वाण प्राप्त करते ही है किन्तु अपने उपदेशों के द्वारा वे जगत् को भी शाश्वत कल्याण के मार्ग पर लगाते है। उनकी जीवन साधना दूसरों के लिए प्रेरणा-स्रोत बनती है। महावीर के युग में बाह्य क्रियाकांडों का बहुत जोर था। धर्म के नाम पर अधर्म होता था। सारे समाज पर एक वर्ग विशेष का अधिकार था। जो केवल अपनी स्वार्थपूर्ति में लगा हुआ था। वातावरण में इतनी अशांति थी कि गरीब और अमीर दोनों का ही दम घुटने लगा था। लोकभाषा का चारों ओर निरादर हो रहा था और वैदिक भाषा पर ब्राह्मणवर्ग का एकाधिकार था। आत्मिक शांति मृग-तृष्णा के बराबर हो गई थी।

राजकुमार अवस्था में महावीर ने जगत् में व्याप्त अशांति को देखा और जब वे महाश्रमण बन गये तब उन्होंने मुक्ति के उपायों पर गहराई से चिंतन किया और अन्त में १२ वर्ष की कड़ी तपोसाधना के पश्चात् उन्होंने जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा करनी चाही उनमें अहिंसा को जीवन की प्रत्येक गतिविधि में सर्वोपरि स्थान दिया। क्योंकि विश्व-कल्याण की जड़ अहिंसा है, शांति एवं सुख का यह एक मात्र आधार है। जिसने भी

अहिंसा को जीवन का अंग बनाया उसीने दुःखों से मुक्ति प्राप्त करली और जिसने हिंसा को अपनाया उसने चलाकर अशांति को निमन्त्रण दिया।

भगवान् महावीर ने अपरिग्रह एवं अनेकांत के सिद्धान्तों को भी जीवन में उतारने पर बल दिया। उन्होंने सर्वप्रथम उक्त सिद्धान्तों को पूर्णतः अपने जीवन में उतारा और जब वे अपने मिशन में शतप्रतिशत सफल रहे तब निर्भय होकर विश्व में अपना संदेश प्रसारित किया। महावीर अपरिग्रह की साक्षात प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने अनेकांत एवं स्याद्वाद की महता को भी सिद्ध किया। भगवान् बुद्ध के समकालीन होने एवं दोनों का एक ही प्रदेश में विहार होने पर भी भगवान् महावीर ने महात्मा बुद्ध के अस्तित्व को कभी नकारा नहीं। इस प्रकार उन्होंने सह अस्तित्व का सही उदाहरण प्रस्तुत किया।

भगवान् महावीर ने अपना समस्त संदेश अर्द्धमागधी भाषा में दिया जो उस समय जन भाषा ही नहीं किन्तु सर्वाधिक लोकप्रिय भाषा थी। उन्होंने कहा कि जब तक हम जन भाषा में अपने विचार व्यक्त नहीं करेंगे तब तक हम अपने मिशन में सफल नहीं होंगे।

महावीर ने वर्ग-भेद एव जाति-भेद की भावना का घोर विरोध किया, ऊंच-नीच के सिद्धान्त को अस्वीकृत किया और अपने समवशरण में सभी को यहां तक कि पशु-पक्षी को धर्म श्रवण करने की अनुमति दी। इस प्रकार महावीर ने मानव मात्र को गले लगाकर उनमें भेद-भाव की भावना को जड़ से समाप्त किया।

२. भगवान् महावीर के परिनिर्वाण को २५०० वर्ष समाप्त हो गये हैं। इस दीर्घ काल में देश ने पचासों बार उत्थान एवं पतन देखा है कभी विकास एवं समृद्धि के शिखर को स्पर्श किया है तो कभी वह गरीबी, भुखमरी एवं अंतः कलह का शिकार हुआ है। किन्तु देश में भगवान् महावीर द्वारा प्रतिष्ठापित मूल्यों का सदैव ही समादर हुआ है। भारत देश ने अहिंसा को सर्वोच्च स्थान दिया और जो जीवन में जितना अधिक अहिंसक रहा उसका उतना ही अधिक समादर हुआ और उसे सबसे अधिक पावन एवं पूज्य माना गया। देश में महावीर के अनुयायिओं की संख्या अल्प होते हुए भी अहिंसा को अथवा जीव दया को सब ने श्रेष्ठ स्वीकार किया और जहां तक हो सका उसे जीवन में उतारने का प्रयास किया।

गांवों में कुछ समय पहिले तक कुत्ते एवं बिल्ली के बच्चे होने पर उन्हें भोजन खिलाने की प्रथा थी तथा किसी भी पशु एवं पक्षी को अकारण दंड नहीं देने का विधान था। कबूतरों को अनाज डालना, चीलों को पकोड़े खिलाना, चींटियों को आटा डालना ये सब जीव दया के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जो भारत के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलते हैं।

अहिंसा के अतिरिक्त अनेकांत के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा यद्यपि हम जैनेतर समाज के साथ अवश्य कर पाये और सह अस्तित्व की भावना को जीवन में उतारने में हम सफल भी हुए परन्तु महावीर के अनुयायी सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को व्यवहार में नहीं अपना सके और भगवान् महावीर के कुछ ही वर्षों पश्चात् जैन संघ विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो

गया और वे परस्पर एक-दूसरे से उलझने लगे। धर्म का सहारा लेकर वस्त्र, पूजा-पद्धति, तीर्थ एवं मन्दिरों के नाम पर वे एक-दूसरे से लड़ने लगे और अनेकांत के सिद्धान्त को भुला बैठे। आज के युग में भी यदि तीर्थों एवं मन्दिरों के झगड़े समाप्त हो जायें अथवा सह-अस्तित्व की भावना से रहना सीख लें तभी हम महावीर के प्रतिष्ठापित मूल्यों का देश में प्रचार-प्रसार कर सकते हैं।

३. भगवान् महावीर का समस्त तत्त्व चिंतन अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह पर आधारित है। वर्ग एवं जाति हीन समाज की रचना में उन्होंने अहिंसा को प्रमुखता दी है जबकि मार्क्स, आइन्स्टीन, सार्त्र आदि चिन्तकों ने अहिंसा को उतनी प्रमुखता नहीं दी है। इनके तत्वचिंतन में पूंजीवाद के विरुद्ध अधिक आक्रोश है तथा वहां आत्म-शुद्धि की ओर कोई लक्ष्य नहीं है। गांधीवाद में यद्यपि आत्म-शुद्धि की ओर भी जोर दिया गया है लेकिन जीवन के प्रत्येक व्यापार में अहिंसा का कोई महत्त्व नही है। जबकि भगवान् महावीर का तत्त्व चिंतन ही अहिंसा की नींव पर खड़ा है।

४. आज के युग के प्रमुख मूल्य हैं—आर्थिक विषमता को दूर करना, सह-अस्तित्व की भावना पर जोर देना। तथा वर्ग विहीन समाज की रचना करना इन मूल्यों की प्रतिष्ठा में भगवान् महावीर की विचारधारा बदलते संदर्भों में भी उतनी ही उपयोगी है जितनी पहिले कभी थी।

५. व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र एवं राष्ट्र से विश्व बनता है। इसलिए यदि व्यक्ति स्वस्थ है तो समाज एवं राष्ट्र भी स्वस्थ है। महावीर परिनिर्वाण महोत्सव पर मेरा प्रत्येक व्यक्ति से यही निवेदन है कि वह स्वयं महावीर बनने का प्रयास करे। अहिंसा के मार्ग पर चलकर अनेकांत सिद्धान्त को जीवन में उतारे तथा सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं' मय जीवन का निर्माण करे।

(५) श्री जयकुमार जलज :

१. महावीर अपने समय में जीवमात्र की स्वतन्त्रता के लिए लड़े। वास्तव में पदार्थ मात्र की स्वतन्त्रता में, चाहे वह जीव हो या अजीव, उनका विश्वास था। उनके अनुसार सभी पदार्थ अपने परिणमन या विकास के लिए स्वयं उपादान है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के लिए निमित्त हो सकता है, उपादान नहीं। पदार्थो को उन्होंने अनन्त आयामी, अनन्तधर्मा माना था। वे उनकी विराटता से परिचित थे। शेष सारे मूल्य—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और भी जो हैं—महावीर के लिए जीव मात्र की स्वतन्त्रता को उपलब्ध कराने के साधन भर थे।

२. पच्चीस सौ वर्ष में भी हम जीव मात्र की स्वतन्त्रता को प्राप्त नही कर सके। जो भी सीमित और सतही उपलब्धि हमारी है वह सिर्फ मनुष्य के सन्दर्भ में ही है। फ्रांसीसी क्रांति और उसके बाद विभिन्न स्वतन्त्रता-आन्दोलनों के फलस्वरूप एक बहुत सतही राजनीतिक आजादी मनुष्य को मिली है। कई देश अभी भी गुलाम है। अन्य कई देशों में तथाकथित स्वतन्त्रता के बावजूद गुलामी जैसी स्थिति है। कुछ देश

ऐसे भी हैं जो सैद्धांतिक रूप में भी अपने सभी नागरिकों को समान नहीं मानते। दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया, और यहां तक कि पाकिस्तान जैसे देशों के संविधान भी वर्ण या धर्म के आधार पर अपने ही नागरिकों में भेद करते हैं। अंगोला, मोजम्बीक, युगाण्डा, चिली और एशिया के अनेक नव स्वतन्त्र देशों में मनुष्य का सम्मान और जीवन भयंकर खतरों के सामने खड़ा है। इन स्थितियों में महावीर के जीव मात्र की स्वतन्त्रता के मूल्य को उपलब्ध करने में अभी पच्चीस सौ वर्ष और लग जाएं तो आश्चर्य नहीं।

३. मोटे तौर पर इन चारों चिंतकों के तत्व-चिंतन और महावीर के तत्व-चिंतन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। लेकिन इनका चिंतन मनुष्य तक ही सीमित है। महावीर की तरह अनन्त जीव-सृष्टि की चिन्ता इन्हें नहीं है। ये जैसे एक बड़े आंगन के एक कोने को ही बुहार रहे हैं। गांधीजी में अवश्य उस कोने के बाहर भी देखने की कुछ आतुरता है। इसीलिए शायद वे महावीर के अधिक निकट हैं। इनमें से आइंस्टीन ने पदार्थ की विराटता के प्रत्यक्ष दर्शन किए थे। लेकिन वे मनीषी वैज्ञानिक थे। पदार्थ की विराटता के प्रत्यक्ष दर्शन की घटना से वे चमत्कृत तो हुए, महावीर की तरह अभिभूत नहीं। महावीर के ज्ञान-चक्षुओं के समक्ष यह घटना घटित हुई थी। इस घटना से उनका चिंतन, व्यवहार और समूचा जीवन प्रभावित हुआ। वे लोक नायक और त्रिकाल पुरुष बन गए। इसके विपरीत आइंस्टीन के लिये इसका महत्व अनुसंधान के स्तर पर था। इसलिए अनुसंधान का सन्तोष और सम्मान ही उन्हें मिला।

४. आज के सन्दर्भ अधिक जटिल हो गए हैं। बहुत सी बातों और कार्यों में परोक्षता आ गई है। दरअसल पच्चीस सौ वर्षों में अर्थशास्त्र और भूगोल बहुत बदल गये हैं। इसलिये सभी क्षेत्रों में प्रायः सभी प्रक्रियाएं अनिवार्य रूप से बदली हैं। लेकिन इतना सब होने पर भी मनुष्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं आया है। वह अब भी पच्चीस सौ वर्ष पहले की तरह ही राग-द्वेष का पुतला है—अहंकारी, स्वार्थी, दूसरे के लिये सूई की नोक के बराबर भी भूमि न देने वाला, 'भी' पर नहीं 'ही' पर ही दृष्टि रखने वाला। इसलिए महावीर की विचारधारा अब भी प्रासंगिक है। महावीर तो एक दृष्टि प्रदान करते हैं। वह दृष्टि है—दूसरे के लिये भी हाशिया छोड़ो। इस दृष्टि के अनुसार हम सभी क्षेत्रों में अपने व्यवहार को निर्धारित कर सकते हैं।

५. दूसरे के लिये हाशिया छोड़ने की बात का हमारी अनुभूति से निरन्तर साक्षात्कार हो। वह हमारी अनुभूति ही बन जाय। हम अनुभव करें कि हमारे अतिरिक्त भी पदार्थ-सत्ताएं हैं—करोड़, सौ करोड़ नहीं, अनन्त। और वे अनन्तधर्मा हैं, विराट; इतनी विराट कि उन्हें सम्पूर्णता में देख पाना हमारे लिये असम्भव है। इसलिए उनके लिए हाशिया छोड़ना उन पर दया करना नहीं है। यह उनका सहज प्राप्तव्य है।

(६) डॉ० इन्दरराज वैद :

१. महावीर का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारतीय जन-मानस में भय, अंध-विश्वास, भेदभाव, आडम्बर और रूढ़ियों ने घर कर लिया था। समाज में न नैतिकता

रह गई थी और न ही मानवीयता। धर्म के नाम पर निरीह जीवों का वध तो होता ही था, शूद्र कहलाने वाले लोग भी तिरस्कार और ताड़ना के पात्र समझे जाते थे। अंध श्रद्धा की चादर में व्यक्ति का आत्मचिंतन और भाग्यवाद के व्यामोह में पुरुषार्थ छिप से गये थे। अध्यात्म को लोग आत्मा से परे की चीज समझ रहे थे। परमब्रह्म और परमात्मा के रहस्यजाल में सीधी-सादी आत्मा उलझकर रह गयी थी। ऐसे विषम वातावरण में महावीर ने धर्म के सही और सहज स्वरूप को उद्घाटित, व्याख्यायित और प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया। प्रकारांतर से वह ऐसी क्रांति का सूत्रपात्र था, जिसमें जड़ीभूत आस्थाओं, मिथ्या धारणाओं और अस्वस्थ रूढ़ियों से लोहा लेने का आह्वान था। वह संघर्ष आस्था, विवेक, पुरुषार्थ, आत्मविश्वास, निर्वंधत्व और अंतर-साम्य जैसे मानवीय मूल्यों की स्थापना का संघर्ष था।

२. नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए मानव को विरोधी शक्तियों से सदैव जूझना पड़ा है। हम में और महावीर में अंतर यह है कि जहां महावीर ने संघर्ष किया और विजय प्राप्त की, वहां हम संघर्ष से मात्र पलायन करते रहे हैं। यदि संघर्ष किया भी है तो नितांत कृत्रिम। यही कारण है कि मानव-जीवन में आज भी वे मूल्य सही माने में प्रतिष्ठित नहीं हो पाये हैं। हमने अपनी आस्था को आज तक कोई आधार नहीं दिया। हमारे विवेक पर अब भी जंग लगी हुई है। हम भाग्यार्थी पुरुषार्थ को पहिचानने का कष्ट तक नहीं करते। आत्म-विश्वास तो हम कब का खो चुके हैं। आंतरिक ही नहीं, बाह्य बंधनों और प्रभावों से भी तो व्यक्तित्व को मुक्त नहीं रख पाये हैं हम। वैषम्य तो हमारे आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक और यहां तक कि वैयक्तिक स्तर पर भी अड़ा बैठा है। वस्तुतः हम में संतुलित चिन्तन शक्ति और संकल्प की दृढ़ता की कमी है। दूसरे शब्दों में भी कह सकते हैं कि हम में दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य के सम्यक्त्व का अभाव रहा है।

३. तीर्थंकर महावीर का मार्क्स, गांधी, आइंस्टीन आदि विचारकों से सम्बन्ध बिठाना अथवा उनकी विचारधाराओं में समानता के तत्व ढूंढना मेरी दृष्टि में समीचीन नहीं है। उक्त विचारकों ने अपने-अपने समय की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अपने विचार रक्खे थे। परिस्थितियों के बदलने के साथ उनके विचारों की महत्ता, मूल्यता और उपादेयता का बदलना भी स्वाभाविक है। यह आवश्यक नहीं कि उनका चिन्तन भी महावीर के चिंतन की तरह सार्वभौम और सनातन हो। जहां तक मानव-मानव की समानता की बात है, महावीर और अन्य चिंतकों के विचार समान ही हैं। पर दृष्टिकोण फिर भी अपने-अपने संदर्भों के अनुसार अलग-अलग है।

४. आज का युग बुद्धि का युग है। विज्ञान की नूतन उपलब्धियों के बीच जिस मानव-समाज की संरचना का प्रारूप तैयार किया जा रहा है, वह यदि महावीर के चिंतन से अनुप्रेरित और सम्पादित हो, तो एक नये संघर्षहीन समाज का उदय भी सम्भव है। महावीर का दर्शन ऐसे मानव समाज की समस्त, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक और वैयक्तिक प्रवृत्तियों का नियमन कर सकता है। अहिंसा और

अनेकांत को अपनाकर जहां व्यक्ति वैयक्तिक स्तर पर अपनी रागात्मकता को अधिक व्यापक और अपने दृष्टिकोण को अधिक उदार बना सकता है, वहां समाज या राष्ट्र की शासन व्यवस्था भी शांति और विश्व-बंधुत्व की राह पा सकती है। हमारी धर्म-निरपेक्ष समाजवादी व्यवस्था की कल्पना भी तभी चरितार्थ हो सकेगी जब हम व्यष्टिगत विचारों को अनेकांतात्मक और व्यवहार को अहिंसात्मक बनाएंगे।

५. भगवान् महावीर के परिनिर्वाण-महोत्सव के अवसर पर उनके सन्देश को आदेश मानकर शिरोधार्य करने की, और तदनुसार आचरण करने की आवश्यकता है। समाज, राष्ट्र और विश्व की महनीय इकाई है मानव। यदि यह मानव अकेला ही, अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह के मार्ग पर चलने का संकल्प ले और चले तो वह अपना और अपने साथ समाज, राष्ट्र और विश्व का भी कल्याण कर सकता है।

(७) डॉ० चैनसिंह बरला :

१. तत्कालीन युग में व्याप्त हिंसा के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना, मेरी दृष्टि में भगवान् महावीर का प्रमुख उद्देश्य था। परन्तु महावीर की अहिंसा कायरों की अहिंसा नहीं थी। जहां इसमें एक ओर हमें सहिष्णुता का सन्देश मिलता है, वहीं दूसरी ओर अन्याय के प्रति संघर्ष की प्रेरणा भी प्राप्त होती है। महावीर ने यह भी सन्देश दिया कि प्राणिमात्र को जीने का अधिकार है और कर्म ही मनुष्य की नियति का निर्धारण करता है। ईश्वर सृष्टि का न तो रचयिता है और न ही संचालक। इन धारणाओं को प्रस्तुत करते हुए भगवान् महावीर ने धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्ड का प्रतिकार किया। यही नहीं, चतुर्विध संघ के महत्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने सामाजिक व्यवस्था एवं धर्म के बीच एक महत्वपूर्ण तारतम्य स्थापित किया। इस प्रकार उन्होंने धर्म गुरुओं का समाज पर प्रचलित एकाधिकार समाप्त करने का प्रयास किया।

२. मेरी समझ में तो ढाई हजार वर्ष के बाद भी हम भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त मूल्यों को व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठापित करने में असफल रहे हैं। इस्लाम एवं ईसाई धर्मों का जिस प्रकार विस्तार हुआ, भगवान् महावीर के मूल्यों को उस रूप में विस्तृत फलक नहीं दिया जा सका या जन साधारण को इन्हें समझने का अवसर नहीं मिल सका।

३. पिछले दो सौ वर्षों में औद्योगिक क्रांति एवं उससे सम्बद्ध इस आर्थिक विचारधारा ने कि मानवीय कल्याण की अभिवृद्धि हेतु भौतिक साधनों का संचय आवश्यक है, महावीर के सिद्धान्तों की आधुनिक संदर्भ में उपादेयता को काफी कम कर दिया। स्वयं भगवान् महावीर के अनुयायियों ने भी व्यावहारिक जीवन में भौतिक सुखों को सर्वोपरि मानना प्रारम्भ कर दिया। भौतिक साधनों की प्राप्ति एवं संचय हेतु अन्य लोगों के शोषण एवं उनके अधिकारों के हनन को भी अनुचित नहीं समझा गया। यदि उन्होंने स्वयं अपने जीवन में भगवान् महावीर के आदर्शों को उतारा होता तो वे अन्य लोगों के समक्ष अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर सकते थे। इससे एक व्यापक रूप में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित करने में सहायता मिलती।

व्यावहारिक जीवन में स्वयं जैन वन्धु कितने सहिष्णु हैं, स्याद्वाद को कितना मानते हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् महावीर ने चतुर्विध संघ की स्थापना की परन्तु आज श्रावक व श्राविकाएं कितने सजग एवं मननशील हैं यह बताने की भी मैं आवश्यकता नहीं समझता। आज सामाजिक जीवन में नाम व उपाधियों की लिप्सा तथा पारस्परिक रागद्वेष बढ़ते जा रहे हैं। जैन समाज भी इससे अछूता नहीं है। परिणाम स्वरूप आचरण में शिथिलता आना स्वाभाविक है।

३. मेरी दृष्टि में महात्मा गांधी को छोड़कर भगवान् महावीर की विचारधारा एवं मार्क्स, आइंस्टीन व सार्त्र के विचारों में तनिक भी समानता नहीं है। इन दार्शनिकों के विचार आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में उभर कर सामने आए। मार्क्स ने पूंजीवाद के बढ़ते हुये प्रभाव को समाप्त करने हेतु हिंसात्मक तरीकों से भी साम्यवाद की स्थापना का आह्वान किया परन्तु वे समाज को भौतिकता से मुक्त करने सम्बन्धी कोई सुझाव नहीं दे सके। आइंस्टीन भौतिकवाद के बढ़ते हुए प्रभावों से चिन्तित अवश्य प्रतीत होते हैं परन्तु महावीर की जितनी गम्भीरता एवं गहनता से उन्होंने मानवीय समस्याओं के निराकरण में आत्मबल के योगदान को महत्व नहीं दिया। इन दार्शनिकों ने कर्मों को नियति का निर्धारक नहीं माना और न ही किसी प्रकार पुनर्जन्म आदि के विषय में विस्तृत विवेचना की। भविष्य के विषय में आइंस्टीन बहुत दूर की नहीं सोच सके जबकि भगवान् महावीर ने पंचम आरा के विषय में जो भविष्यवाणियां की वे आज सही होती प्रतीत होती हैं। महात्मा गांधी की अहिंसा से हमें आततायी के प्रति भी सहिष्णुता व समभाव रखने की प्रेरणा मिलती है।

४. नवीन समाज की रचना में सर्वाधिक योगदान भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त दे सकता है। स्वयं को बड़ा मानने व भौतिक सुखों के साधन केवल स्वयं को प्राप्त हों, इसी भावना के वशीभूत होकर कार्य करने के कारण, आज सम्पन्न व्यक्ति येनकेन प्रकारेण धन का संचय करता है। उसे समाज व देश के लोग भले ही सम्मान दें परन्तु दूसरे लोगों को हेय समझ कर उनकी उपेक्षा करने की भावना ने आज छोटे-समूहों को ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व को विघटित कर दिया है। जिस क्षण हम भगवान् महावीर के जीवन से प्रेरणा लेकर सहिष्णुता एवं जिओ व जीने दो के सिद्धान्त पर अमल करने लगेंगे, हमारा पारस्परिक वैमनस्य समाप्त हो जायेगा एवं वहीं से नवीन समाज की संरचना प्रारम्भ होगी।

५. भगवान् महावीर के २५००वें परिनिर्वाण के अवसर पर मैं प्रत्येक नागरिक से यह अनुरोध करूंगा कि वह स्व हित तथा हठधर्मिता की प्रवृत्ति को छोड़ कर समाज व समूचे देश के हितार्थ कुछ न कुछ योगदान अवश्य करे। जैन वन्धुओं से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे भगवान् महावीर के आदर्शों का पालन करते हुए सम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर एक रूप में संगठित हों। क्या यह महावीर के आदर्शों के अनुकूल नहीं होगा कि जमाखोरी व मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति को छोड़कर अपनी संचित पूंजी का एक भाग वेकार लोगों को रोजी देने या अभाव पीड़ित लोगों को उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति

हेतु प्रयुक्त करें ? शादी व्याह या पारिवारिक उत्सवों पर होने वाले अपव्यय को रोककर यदि हम उस राशि को अधिकतम जन-कल्याण हेतु प्रयुक्त करें तो श्रेष्ठ होगा । राष्ट्र या विश्व के नाम कोई संदेश देने से तो मैं यही बेहतर समझूंगा कि इस महोत्सव के समय हम स्वयं महावीर के सिद्धान्तों पर अमल करना प्रारंभ करें । अंधविश्वासों के दायरे से ऊपर उठकर हम अपने आचरण में क्षमा, अपरिग्रह एवं सत्य को किस सीमा तक उतार पाते हैं, यही भगवान् महावीर के प्रति हमारी वास्तविक श्रद्धा का प्रतीक होगा ।

(८) डॉ० रामगोपाल शर्मा :

१. भगवान् महावीर भारतवर्ष के उन महापुरुषों में अग्रणी हैं जिन्होंने इस देश के चिन्तन तथा इतिहास को एक नई दिशा प्रदान की । भारत के सांस्कृतिक विकास में उनका योगदान अद्वितीय है । वैदिक संस्कृति जब जनसाधारण की धार्मिक एवं सामाजिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असफल रही तो भगवान् महावीर ने सबके लिए सरल एवं सुबोध धर्म का उपदेश देकर युग की मांग को पूरा किया । उन्होंने हिंसक वैदिक कर्मकाण्ड, वेद-प्रामाण्य तथा जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का तीव्र विरोध किया और सामाजिक समता के आदर्श का उद्घोष किया । उन्होंने धर्म के द्वार बिना किसी प्रकार की ऊंच नीच के, भेद-भाव के, सभी लोगों के लिए खोल दिए । इस प्रकार भगवान् महावीर युगद्रष्टा एवं सामाजिक क्रान्ति के सूत्रधार बने ।

भगवान् महावीर ने मानव-जीवन के अन्तिम ध्येय के रूप में मोक्ष का आदर्श रखा और उसे प्राप्त करने का व्यावहारिक मार्ग सुझाया । उन्होंने इस शाश्वत सत्य का उद्घाटन किया कि दुःख का कारण मनुष्य की कभी तृप्त न होने वाली तृष्णा है तथा दुःख एवं तृष्णा का निरोध सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण द्वारा संभव है । उनके द्वारा निर्दिष्ट त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र) में सम्यक् चारित्र जैन साधना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है । जो श्रद्धापूर्वक मान्य हो चुका और जाना जा चुका, उसे कर्म में परिणत करना ही सम्यक् चारित्र है । इस सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत पंच महाव्रतों का विधान है । भगवान् महावीर ने इन महाव्रतों में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का समावेश किया । इन महाव्रतों में अहिंसा का भी प्रधान स्थान है । यद्यपि अहिंसा भारतवर्ष का एक प्राचीन सिद्धांत है, किन्तु जैनधर्म ने जिस प्रकार इसे आचार-संहिता में समाविष्ट किया, वह निश्चय ही महत्वपूर्ण है । जैन मत सब चराचर जगत् पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, यहां तक कि मिट्टी के कण-कण में भी जीव का निवास मानता है और मन-वचन एवं कर्म से किसी की हिंसा न करने का निर्देश करता है । जैन धर्म में अहिंसा केवल एक निषेधात्मक सिद्धांत ही नहीं, बल्कि एक विधेयात्मक आदर्श है जो व्यक्ति को मानव-कल्याण में निरन्तर संलग्न रहने की शिक्षा देता है । इस प्रकार जैन मत में नीति के सामाजिक पक्ष की अवहेलना नहीं की गई है ।

भगवान् महावीर ने व्यावहारिक जीवन में साधना-पद्धति का निर्देश किया । उन्होंने मानव के लिए विशुद्ध तपोमय जीवन-विन्यास की प्रतिष्ठा की । उन्होंने सामाजिक

जीवन में सदाचार के आदर्श की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की ओर न केवल संन्यासियों के लिए, वल्कि गृहस्थों के लिए भी कठोर आचरण का निर्देश किया। उन्होंने न अकेले ज्ञान पर और न अकेले आचरण पर, वल्कि दोनों पर ही समान रूप से जोर दिया। उन्होंने अपने उत्कृष्ट चारित्र द्वारा देश में साधु चारित्र का सर्वप्रथम आदर्श उपस्थित किया। उनके चारित्र ने मानव के पूर्ण विकास का वह उदाहरण प्रस्तुत किया था जिसमें अहिंसा, क्षमा, तितिक्षा, त्याग जैसे उदात्त मानवीय गुणों की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति हुई थी। भगवान् महावीर ने संन्यास तथा तप की विचारधारा को लोकप्रिय वनाया और निवृत्ति के उस उदात्त आदर्श की प्रतिष्ठा की जिसने प्रवृत्तिपरक वैदिक संस्कृति के स्वरूप को ही वदल डाला।

भगवान् महावीर ने अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद के महत्वपूर्ण सिद्धांत की स्थापना की जो वस्तु के ज्ञान सम्वन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों की सत्यता को स्वीकार करता है। यह सिद्धांत तत्वदर्शन के प्रत्येक प्रयत्न को सापेक्ष सत्यता प्रदान करता है। इस सिद्धांत में समन्वय, सह-अस्तित्व एवं सहनशीलता के आदर्शों की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति हुई है।

२. भगवान् महावीर ने जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा की थी, आज का समाज उनके प्रति निष्ठावान नहीं है और धर्म के वाह्य संस्थागतरूप की ओर ही अधिक आकृष्ट है। आज हम भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की अपेक्षा भौतिकवादी दृष्टिकोण एवं अर्थलोलुपता से अधिक प्रभावित हैं। येन-केन प्रकारेण अर्थ का संचय एवं भोग ही जीवन का लक्ष्य वन गया है और यही आध्यात्मिक साधना के मार्ग की सवसे वड़ी वाधा है।

३. जैन तत्वचिन्तन में अणु-सिद्धांत का सवसे प्राचीनतम रूप मिलता है। जैन दर्शन अणु-सिद्धांत के माध्यम से भौतिक जगत् की रचना की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करता है और इसके लिए व्रह्म अथवा ईश्वर नामक किसी आलौकिक सत्ता को नहीं स्वीकार करता। अनेकांत के जैन सिद्धांत तथा पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल एवं कार्ल मार्क्स के विरोध-विकास पद्धति के सिद्धांत में भी कुछ समानता है। सापेक्षवादी जैन मत तथा आइन्स्टीन के सापेक्षता के सिद्धांत के वीच भी समानता दीख पड़ती है। महात्मा गांधी की वर्गविहीन अहिंसक समाज की कल्पना तथा सत्याग्रह, अहिंसा, अपरिग्रह एवं व्रह्मचर्य की धारणा भी भगवान् महावीर के द्वारा निर्दिष्ट अहिंसा आदि महाव्रतों के अनुरूप है।

४. आज हमारे समाज के समक्ष जो भयावह और नैतिक संकट उपस्थित है, उसका परिहार भगवान् महावीर की शिक्षाओं द्वारा संभव है। स्वार्थ तिमिर से आच्छादित आज के समाज में सदाचार का नितान्त अभाव है। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट पंच महाव्रतों का परिपालन अत्यन्त हितकर हो सकता है, क्योंकि स्वार्थ के धरातल से ऊपर उठकर ही मानव लोक कल्याण का माध्यम वन सकता है। अनैतिक जीवन भोग-विलास एवं धन-लोलुपता की सामाजिक वुराइयों का परिहार सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि महाव्रतों के परिपालन से सर्वथा संभव है। देश की निरन्तर वढ़ती हुई जनसंख

का नियन्त्रण भी ब्रह्मचर्यव्रत के पालन द्वारा सुगम है। देश में प्रचलित विभिन्न विरोधी विचारधाराओं तथा मत-मतान्तरों का समन्वय भी अनेकान्तवाद के जैन सिद्धान्त द्वारा संभव है। जैन दर्शन का स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धांत भारतवर्ष में उदार सांस्कृतिक दृष्टिकोण के विकास में सहायक रहा है और आगे भी सहायक हो सकता है। ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकार कर लेने के बाद जीवन के किसी भी क्षेत्र में धर्मान्धता, कट्टरता एवं अनुदारता के लिए गुंजाइश नहीं रहती।

५. भगवान् महावीर की शिक्षाओं में अनेक सार्वभौम तत्त्व निहित हैं जो देश एवं काल की सीमाओं से बाधित नहीं हैं। महावीर परिनिर्वाण महोत्सव पर इन शाश्वत तत्त्वों का उद्घाटन मानव जाति के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हो सकता है। आज के वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी युग में जैन धर्म मानव के लिए विशेष आकर्षण रखता है। आज का बुद्धिवादी व्यक्ति ऐसे धर्म की कामना करता है जो जटिल कर्मकाण्ड तथा अन्धविश्वासों से मुक्त हो और जो केवल बुद्धिवाद एवं सदाचार पर आधारित हो। आज का विश्व ऐसे धर्म की अपेक्षा करता है जो समस्त मानवता के सहकार एवं एकता पर बल दे। भगवान् महावीर का विचार तत्त्व जटिल कर्मकाण्डों तथा अन्धविश्वासों से मुक्त है और सदाचार एवं बुद्धिवाद पर आधारित है। यही नहीं यह तत्त्व समस्त मानव जाति को दुःख से मुक्त कराने के लिए कृतसंकल्प है। आज का संसार विभिन्न प्रकार की विरोधी विचार-धाराओं तथा वादों के संघर्षण से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में अनेकान्तवाद के सिद्धांत में निहित सहिष्णुतापरक समन्वयात्मक प्रवृत्ति निस्संदेह आदर्श मानव-समाज की रचना का आधार प्रस्तुत कर सकती है। यही नहीं जैन धर्म का अहिंसा, सह-अस्तित्व एवं सहनशीलता का सन्देश परमाणु-युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवता के लिए आज भी आशाप्रद हो सकता है।

(९) डॉ० नरेन्द्रकुमार सिंघी

१. जैन धर्म की व्याख्या एवं विवेचना बौद्धिक-तार्किक स्तर पर उनके दर्शन की गूढ़ता के संदर्भ में अप्रत्याशित रूप से अपर्याप्त दृष्टिगोचर होती है। जिन मनीषियों एवं विज्ञों ने जैन धर्म के विभिन्न पहलुओं की विवेचना की है, उससे इस बात की पुष्टि होती है कि बौद्धिक स्तर पर इसके दर्शन व तर्क की शक्ति विश्व के वैज्ञानिक स्वरूप को व्याख्यायित करने में सक्षम है।

किसी भी धर्म के आध्यात्मिक महत्त्व को उसके उपासकों की संख्या से आंकना धर्म के गहनतम व गुह्य अर्थ को नकारना है। प्रायः किसी भी धर्म के अनुयायियों की संख्या उसके प्रचार-प्रसार व उसको प्रदत्त राजाश्रय पर निर्भर करती है। अनुयायीगण सामान्यरूप से धर्म के विश्वासों व अनुष्ठानों के पक्षों को महत्त्व देकर, उसके आध्यात्मिक व दर्शनशास्त्री पक्ष को समझने का प्रयास नहीं करते। सामाजिक व सांसारिक पक्ष उनके इतने प्रबल हो जाते हैं कि धर्म, मात्र जाति की भांति, जन्मतः एक समूह में एकात्मता का बोध प्रस्तुत करता है जो व्यवहारगत लौकिक कार्य-कलापों में उपयोगी सिद्ध होता है। सभी धर्म उस

दृष्टिकोण से व्यापक रूप में मात्र व्यवहारगत हैं, जिनमें अनुष्ठान व रूढ़िगत विश्वास प्रमुख रूप से उभरते हैं।

धार्मिक अन्धश्रद्धा (fanaticism) व प्रचार-प्रसार पर कुछ स्वस्थापित रुकावटों के कारण जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या तुलनात्मक रूप से कम रही है। इसके अल्प-संख्यक अनुयायीगण संपन्न ही रहे हैं। धर्म के अपरिग्रह के महत्त्वपूर्ण पक्ष के अन्तर्गत यह विरोधाभास व्यक्ति को अपने धन के एक अंश को विभिन्न धार्मिक कार्यों में लगाने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार दान व सेवा की परम्परा के माध्यम से इस धर्म ने एक महत्त्वपूर्ण मानवीय पक्ष को प्रस्तुत कर सामाजिक हित की रक्षा की है।

इसके साथ ही जैन धर्म की तपस्या का प्रभाव अनुयायियों में व्यापक रूप से प्रबल रहा है। उपवास व इससे सम्बन्धित आत्म-नियंत्रण के अन्य माध्यमों में एक स्वस्थ अनुशासनीय परम्परा का निर्माण हुआ है। जीवन के व्यवहारगत कार्य-कलापों में इन प्रवृत्तियों ने सर्जनात्मक व फलदायक भूमिका निभायी है।

२. भगवान् महावीर को आज २५०० वर्ष हो गए हैं। इस सुदीर्घ कालावधि में उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्यों का व्यापक रूप से आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठान व आत्म-सातीकरण नहीं हुआ है। फिर भी व्यक्तिगत स्तर पर अनेक लोग भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित मूल्यों से प्रभावित हो आत्म-विकास की ओर अग्रसर हुए हैं। आध्यात्मिक एवं मानवीय मूल्य आज के समाज में विगत शताब्दियों से अधिक विकसित व परिष्कृत हुए हैं; यह मानना शक्य है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया का स्वरूप-निर्धारण आधारभूत मूल्यों के अनुरूप नहीं हुआ है। देश, समाज व व्यक्ति भौतिक प्रगति के उपरान्त भी व्यक्तिगत व समूहगत पीड़ा तथा कमजोरियों से त्रस्त है। समाजगत दृष्टि से विकास की अपूर्णता होने पर भी व्यक्तिगत स्तरों पर प्राप्त अनेक उपलब्धियां जैन दर्शन व उसकी आध्यात्मिकता की महत्ता की परिचायक हैं।

३. व्यक्तिगत मोक्ष की परम्परा से हटकर संपूर्ण विश्व की चेतना के रूपान्तरण की आवश्यकता अधिक सार्थक व तर्कयुक्त प्रतीत होती है। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुरूप वर्तमान स्थिति मानवीय विकास की अन्तिम स्थिति नहीं है वरन् यह इसके परे के विकासक्रम की आध्यात्मिक संभाव्य का तार्किक पक्ष प्रस्तुत करती है, जिसके अन्तर्गत नवीन समाज व उच्चतर मानव की संभावना है।

४. नवीन समाज-रचना में भगवान् महावीर की विचारधारा का अत्यन्त महत्त्व है। विश्व के सीमित साधनों में अपरिग्रह के सिद्धान्त से स्वेच्छिक साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है। मनुष्य के जीवन की भौतिक क्लेश-कठिनाइयों के कारण ही आज का मानव ऊंच-नीच, वर्ग व स्वार्थ-समूहों में विभक्त है। अतः वह इनमें आवद्ध होने से मात्र सतही जीवन व्यतीत करता है। इस कारण वह अपनी क्षमताओं व आकांक्षाओं के प्रति अनभिज्ञ रहता है। अपरिग्रह के सिद्धान्त की प्रस्थापना से व्यक्ति व समूह निम्न कोटि के स्वार्थ व ईर्ष्या से बच जायेंगे व अपनी शक्ति को ऊर्ध्व भूमिका के स्तर पर लगा सकेंगे। इससे मानवेतर लक्ष्यों की प्राप्ति सहज हो सकेगी।

५. साम्यवाद व आध्यात्म का सुव्यवस्थित सामन्जस्य भगवान् महावीर की विचार-धारा में स्पष्ट है। व्यक्ति, समाज व राष्ट्र का रूपान्तरण व विकास जीवन व सृष्टि के सर्वांगीण पक्षों को लेकर अधिक संभाव्य है। विश्व में सीमित भौतिक साधनों को देखते हुए, जैन धर्म अधिक व्यवहारगत प्रतीत होता है। प्रतिस्पर्धात्मक प्रक्रिया के सामाजिक व मनोवैज्ञानिक प्रभावों ने जीवन में निराशा की भावना को भर दिया है। कुण्ठाओं व ग्लानियों से त्रस्त मानव पलायनतावादी होता जा रहा है। भीड़-भाड़ के वर्तमान जीवन में व्यक्ति का अकेलापन उसे जीवन के प्रति निर्मोही बना, अनास्था में फेंक देता है। अतः समकालीन समाज में महावीर के संदेश की अधिक सार्थकता है। यह व्यक्ति को जीवन में महत् उद्देश्य दिखाकर, उसकी आन्तरिक क्षमताओं का स्वदर्शन व बोध कराता है।

(१०) डॉ० नरपतचन्द सिंघवी

१. भगवान् महावीर ने वही कहा जो उन्हें प्रत्यक्ष था। उन्होंने अनुभूत सत्य को वाणी दी, जीवन और जगत् से सम्बन्धित नये मूल्यों की प्रतिष्ठा की। उनके चिन्तन के मुख्य बिन्दु हैं—

- यह दृश्य और अदृश्य जगत् स्वयंमेव निर्मित है, इसे किसी ईश्वर ने नही बनाया।
- व्यक्ति अपने कर्मों का कर्त्ता स्वयं है, उनके परिणामों का भोक्ता भी स्वय ही है। अपने कल्याण के लिए उसे स्वयं ही प्रयत्न करने होंगे। जीव अनन्त शक्तिमान है। उसमें अपने गुणों का विकास स्वयं कर परमात्मा बन जाने की क्षमता है। भगवान् महावीर के अवतारवाद के निषेध के पीछे जीव के स्वतंत्र अस्तित्व और उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का सिद्धान्त है।
- सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य मोक्ष के कारण हैं। सम्यक् चारित्र्य जीवन की एक समग्र आचार-संहिता है, सामाजिक जीवन की धुरी है। आचार के पहले विचार-क्रांति जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है, इसके लिए महावीर के अनेकान्त का चिन्तन दिया।
- अनेकान्त भगवान् महावीर के चिन्तन की आधार-शिला है। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु में ये अनन्त धर्म परस्पर सापेक्ष भाव से सदैव विद्यमान रहते हैं। अनेकान्त मूलक विचार के लिए स्याद्वाद की भाषा आवश्यक है।
- पांच व्रत—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह—जीवन की आचार-संहिता के आधार स्तंभ है। साधु या मुनि के लिए इन्हीं व्रतों का महाव्रत के रूप मे पालन करना आवश्यक है। गृहस्थ इन्हें अणुव्रतों के रूप में पालन करता है। सुसंस्कृत एवं सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन के लिए अणुव्रत आधार भूमि है। सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक है। अणुव्रती समाज में वर्ग भेद नही

रहता। कार्य के आधार पर सामाजिक जीवन की व्यवस्था को महावीर स्वीकारते हैं।

२. भगवान् महावीर ने जो मूल्य प्रतिष्ठापित किए, जो चिन्तन दिया, उनका सिद्धांत रूप में तो प्रतिष्ठापन युग-युग से चला आ रहा है। सिद्धान्त रूप में उस चिन्तन की ओर आज भी विश्व उन्मुख है परन्तु व्यावहारिक रूप में मंजिल बहुत दूर है। मूल्य रूपी शिखर तो दृष्टिगत है परन्तु साधन रूपी पगडंडिया ओझल हैं। 'कथनी' में तो हम महावीर के मूल्यों को प्रतिष्ठित एवं प्रतिपादित करते हैं परन्तु 'करनी' में हम उन मूल्यों को आत्मसात नहीं कर पाए हैं। महावीर ने सुसंस्कृत एवं सुव्यवस्थित जीवन के लिए जो आचार-संहिता दी, उसकी बातें तो हम बढ़-बढ़ कर करते हैं परन्तु उसका पालन नहीं करते। महावीर के लिए संयम आंतरिक आनन्द की प्राप्ति है, अतीन्द्रिय स्वरूप की खोज है, अतीन्द्रिय रस की प्राप्ति है परन्तु आज के युग में संयम को दमन का पर्याय मान लिया गया है। तप महावीर के लिए अमृत के द्वार की सीढ़ी है परन्तु आज तप के नाम पर आत्मपीड़न प्रचलित है। यह सब होते हुए भी भगवान् महावीर के सिद्धांत आज के चिन्तन के मूल प्रेरणा स्रोत हैं; भगवान् महावीर ने मनुष्य की गरिमा और गौरव की प्रतिष्ठा के लिए जो संघर्ष किया, आज प्रत्येक राष्ट्र उसकी प्रतिष्ठापना में लगा है। आज वर्ण-भेद और छुआ-छूत के बंधन शिथिल हो रहे हैं। विश्व के सबसे बड़े प्रजातंत्र भारत ने महावीर के अनेकान्त विचार को 'धर्म निरपेक्षता' के सिद्धान्त के रूप में मान्यता प्रदान की है। महावीर ने जो समता और अपरिग्रह का संदेश दिया वह आज की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यवहृत हो रहा है।

३. महावीर का आविर्भाव उस समय हुआ जब धर्म में आस्था क्षीण हो चली थी। अतः एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता थी जो युग को सही निर्देश दे सके। इसी प्रकार आधुनिक युग में पाश्चात्य जीवन में ईसाई धर्म के प्रति विश्वास कम हो गया, जिसके फलस्वरूप एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता अनुभव हुई जो उन्हें वह दे सके जो धर्म तथा विज्ञान नहीं दे सका है। सार्त्र तथा अन्य अस्तित्ववादी पाश्चात्य जीवन की इसी कमी की पूर्ति करते हैं।

स्पष्ट है कि दर्शन को जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। अन्य अस्तित्ववादियों के समान सार्त्र का भी यह विश्वास है कि दर्शन की समस्याएं मनुष्य के व्यक्तिगत अस्तित्व से ही उदित होती हैं—ऐसा व्यक्तिगत अस्तित्व जो स्वयं अपनी नियति का निर्माता है। महावीर का कर्म सिद्धान्त भी इन्हीं विचारों को व्यक्त करता है। महावीर के समान सार्त्र भी यह स्पष्ट करने को प्रयत्नशील हैं कि मनुष्य क्या है और क्या बन सकता है। महावीर तथा सार्त्र दोनों ही इस विषय में एक मत हैं कि केवल बौद्धिक जिज्ञासा की संतुष्टि ही महत्वपूर्ण नहीं है। दोनों के दर्शन का केन्द्र मनुष्य ही है। जैन-दर्शन सदृश सार्त्र का दर्शन भी केवल एक स्वतंत्र मानव का प्रतिवाद मात्र नहीं है वरन् उसे मोक्ष के मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आइन्सटीन ने यद्यपि प्रथम बार १९०५ में सापेक्षता का सिद्धांत प्रतिपादित किया तथापि महावीर ने इससे बहुत पूर्व—ईसा से छठी शताब्दी पूर्व में ही ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र में

सापेक्षता का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। आइन्सटीन ने दिक्-काल की निरपेक्ष पृथक्ता के विरुद्ध सापेक्षता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। महावीर ने इसी सापेक्षता के सिद्धान्त को नयवाद अथवा अनेकान्तवाद के रूप में सभी निरपेक्ष सत्यों पर लागू किया। आइन्सटीन का सिद्धांत महावीर के सिद्धान्त से दो बातों में सीमित है। प्रथम यह कि आइन्सटीन ने केवल दिक्-काल की ही सापेक्षता स्वीकार की तथा अन्य किसी सत्य की नहीं। दूसरा यह कि उन्होंने सापेक्षता को केवल इसी अर्थ में लिया कि दिक्काल एक दूसरे में लय हो जाते हैं तथा निरपेक्षता खो बैठते हैं किन्तु महावीर का सापेक्षता का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी घटना अथवा वस्तु के विषय में अनेक मत हो सकते हैं तथा वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हुए भी अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हो सकते हैं।

मार्क्सवाद क्रियात्मक दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्स ने परिवर्तन को अधिक महत्त्व दिया। परिवर्तन क्रियाशीलता का प्रतीक है। अतः दर्शन का लक्ष्य परिवर्तन है जो मूलतः क्रियात्मक है। मार्क्स के दार्शनिक दृष्टिकोण को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जा सकता है जिसके अनुसार सृष्टि का मूल सत्य पदार्थ है किन्तु पदार्थ सदा परिवर्तनशील अवस्था में होने के कारण द्वन्द्वात्मक प्रणाली से ही जाना जा सकता है। भौतिकवादी, प्रत्यय तथा पदार्थ में, पदार्थ को अधिक महत्त्व देते हैं। महावीर के अनुसार भी द्रव्य सत् है, उसमें उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य के गुण हैं किन्तु महावीर ने मार्क्स के सदृश भौतिकवाद को न मानकर यथार्थवाद को माना है। इनके द्वारा प्रतिपादित द्रव्य, मार्क्स का जड़ पदार्थ नहीं है। महावीर ने छह प्रकार के द्रव्य स्वीकार किए जिनमें से पुद्गल केवल एक है। अन्य द्रव्य हैं—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इससे स्पष्ट ही है कि महावीर का यथार्थवाद, मार्क्स के भौतिकवाद से भिन्न है। मार्क्स ने अपने दर्शन में सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया तथा धर्म का विरोध करते हुए उसे अफीम की संज्ञा दी जबकि महावीर मनुष्य के व्यक्तिगत विकास तथा मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग को अधिक महत्त्व देते हैं।

गांधी के विचारों में महावीर के दर्शन का प्रभाव कुछ सीमा तक देखा जा सकता है। राजनीतिक दार्शनिक होते हुए भी महावीर के समान गांधी का भी प्रमुख केन्द्र आचार-शास्त्र है। दोनों ने ही कर्म, अहिंसा तथा सत्य को जीवन के प्रमुख नैतिक नियम माने हैं किन्तु महावीर ने इन गुणों को व्यक्तिगत सद्गुण माना है जबकि गांधी ने इन्हें सामाजिक सद्गुणों का रूप दिया। सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्तों का गांधी ने जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रयोग किया—नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक। महावीर के समान ही गांधी कठोर जीवन-अनुशासन में विश्वास रखते थे। दोनों ही विश्वास करते थे कि उच्चात्मा के अन्वेषण का नाम ही जीवन है। गांधी ने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया तथा राजनीति की व्याख्या धार्मिक तथा नैतिक प्रत्ययों द्वारा की।

४. महावीर की विचारधारा प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, व सामाजिक क्षेत्र हो, सहायक बन सकती है, शर्त केवल इतनी ही है कि उसे बदलते सन्दर्भों में मनोवैज्ञानिक एवं समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाय। स्वयं महावीर ने कहा था—

'युग के संदर्भ में, देश और काल के परिवेश में तथ्यों पर नये ढंग से सोचना अपेक्षित है।' महावीर की विचार धारा को इसी परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की आवश्यकता है। महावीर ने कहा—'आदमी आदमी एक है, कोई छोटा बड़ा नहीं है। उन्होंने मानव-मात्र को अपने अस्तित्व का ज्ञान कराया, जीने की कला और मानवीय व्यक्तित्व के चरम विकास का पथ प्रशस्त किया। वह विचार-धारा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में सहायक हो सकती है। महावीर ने क्रिया-काण्ड और यज्ञों का विरोध किया। यह विचार-धारा धार्मिक जड़ता एवं आर्थिक अपव्यय को रोक कर हमारे धार्मिक एवं आर्थिक क्षेत्रों को सुदृढ़ भूमि प्रदान कर सकती है। हमारी प्रजातांत्रिक पद्धति और समाजवादी समाज-रचना में अनेकान्त का चिन्तन आधार-शिला है। व्रती जीवन ग्रहण कर प्रत्येक व्यक्ति अपने आचार-विचार-व्यवहार में आदर्श हो सकता है।

५. भगवान् महावीर के २५००वें परिनिर्वाण दिवस पर हमें निम्नलिखित दिशाओं में चिन्तन करना चाहिए—

- चिन्तन के प्रति जितने हम सचेष्ट हैं, उतने ही साधना के प्रति हों। वैयक्तिक साधना का प्रश्रय कल्याणप्रद है।
- स्वयं को खोना ही स्वयं को पाना है, इसलिए दारुण पीड़ा में भी अविचलित मुस्कराते रहो। उपसर्ग और कष्ट समताभाव से झेलो। समता और अडिगता के सामने 'क्लेश' द्रवित और विचलित हो जायेंगे।
- पतित एवं दरिद्र को गले लगाओ। अपने व्यक्तित्व के पारस-स्पर्श से 'हरिकेशी चांडाल' को भी स्वर्ण बना दो।
- विष से अमृत की ओर प्रस्थान करो। 'चण्ड कौशिक' की विष-दृष्टि तुम्हारे सुधोपम् वचनों को सुनकर प्रेममय हो जाएगी।
- विरोधी के कथन में भी सत्य की संभावना स्वीकार करो।
- धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। (कौन सा धर्म ?) अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म। जिस मनुष्य का मन इस धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

•••

हमारे सहयोगी लेखक



[परिचय अकारादि क्रम से है]

लेखक-परिचय

१. **श्री अगरचन्द नाहटा :** हिन्दी व राजस्थानी के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान् व लेखक, जैन धर्म, दर्शन और साहित्य के विशेषज्ञ, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर ।

२. **उपाध्याय अमर मुनि :** जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, कवि और लेखक, राजगृह में वीरायतन योजना के प्रेरक ।

३. **डॉ० इन्दरराज वैद :** कवि और लेखक, साहित्यानुशीलन समिति, मद्रास के मंत्री १—वी, वडिवेलपुरम, मद्रास-३३ ।

४. **श्री उमेश मुनि 'अणु' :** जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक ।

५. **श्री कन्हैयालाल लोढ़ा :** प्रबुद्ध चिन्तक, लेखक और स्वाध्यायी, अधिष्ठाता—श्री जैन शिक्षणसंस्थान, रामललाजी का रास्ता, जयपुर-३ ।

६. **श्री कमल कुमार जैन :** केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली में प्राध्यापक । शिक्षा-मनोविज्ञान के विशेषज्ञ, ९९५/१०९, गली नं० ८, कैलाश नगर, दिल्ली-३१ ।

७. **डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल :** जैन साहित्य के गवेषक विद्वान् और लेखक, 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भंडार' विषय पर शोध कार्य, श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी, जयपुर के साहित्य-शोध विभाग के निदेशक, महावीर भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३ ।

८. **डॉ० कुन्दनलाल जैन :** बरेली कालेज, बरेली में हिन्दी – विभाग के अध्यक्ष, कई साहित्यिक व शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बद्ध, जैन भवन, ३५ जे, १३, रामपुरबाग, बरेली ।

९. **डॉ० (श्रीमती) कुसुमलता जैन :** श्री कस्तूरबा कन्या महाविद्यालय, गुना (म० प्र०) में संस्कृत-प्राध्यापिका, 'लीलावई' प्राकृत कथा-काव्य पर शोध-कार्य, चन्द्रा जैन औषधालय, पोस्ट आफिस रोड, गुना ।

१०. **श्री के. भुजबली शास्त्री :** जैन धर्म, इतिहास और साहित्य के गवेषक विद्वान्, ताड़पत्रीय ग्रंथों पर विशिष्ट शोधकार्य, मूडबिद्री (कर्नाटक)

११. **श्री गणपतिचन्द्र भंडारी :** जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक, कवि समालोचक और सम्पादक । कई सामाजिक व शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बद्ध, ४४०-बी, तीसरी 'सी' सड़क, सरदारपुरा, जोधपुर ।

१२. **श्री चन्दनमल 'चांद' :** कवि और लेखक, 'जैन जगत्' मासिक पत्रिका के प्रबन्ध सम्पादक, भारत जैन महामण्डल, १५-ए हार्नीमन सर्किल, फोर्ट, बम्बई-१ ।

१३. **डॉ० चैनसिंह बरला** : राजस्थान विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में प्राध्यापक, कृषि–अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी (अमेरिका) से 'कृषि सहकारी साख' विषय पर शोध कार्य, ६७६, आदर्श नगर, जयपुर-४।

१४. **डॉ० छविनाथ त्रिपाठी** : कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर, हिन्दी-संस्कृत के विद्वान् लेखक और समालोचक, जैन – दर्शन और साहित्य के मर्मज्ञ, चम्पूकाव्य पर शोध कार्य, डी-४६, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय परिसर, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

१५. **डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल** : बलवंत राजपूत कालेज, आगरा में संस्कृत के प्राध्यापक। प्रसिद्ध लेखक और समालोचक, जैन धर्म और दर्शन के विशेषज्ञ, ६/२४० बेलनगंज, आगरा-४।

१६. **श्री जयकुमार जलज** : शासकीय महाविद्यालय रतलाम में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, कवि, लेखक और भाषाविद्, सहयोग भवन, पावर हाउस रोड, रतलाम (म० प्र०)

१७. **श्री जवाहरलाल मूणोत** : प्रसिद्ध फिल्म व्यवसायी, कर्मठ सामाजिक कार्यकर्ता और विचारक, अमरावती (म० प्र०)

१८. **पं० दलसुख मालवणिया** : जैन धर्म, दर्शन, और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान, लालभाई, दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद के निदेशक।

१९. **श्री देवकुमार जैन** : जैन धर्म और दर्शन के विद्वान्, लेखक, बीकानेर।

२०. **डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन** : अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के विद्वान, लेखक और समीक्षक, शासकीय स्नातकोतर महाविद्यालय, खंडवा (म० प्र०) में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, २१४ उषा नगर, इन्दौर-२।

२१. **मुनि श्री नथमल** : जैन मुनि, जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् और प्रबुद्ध चिन्तक।

२२. **डा० नरपत चन्द सिंघवी** : जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक, लेखक और सम्पादक, निराला के कथा-साहित्य पर शोध कार्य, १, मोतीलाल बिल्डिंग, जोधपुर।

२३. **डा० नरेन्द्र भानावत** : राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार शोध प्रतिष्ठान, जयपुर के मानद् निदेशक, तथा 'जिनवाणी' के मानद् सम्पादक। कवि, लेखक और समीक्षक, 'राजस्थानी वेलि साहित्य' पर शोधकार्य। सी २३५-ए, तिलकनगर, जयपुर-४।

२४. **डा० नरेन्द्रकुमार सिंघी** : राजस्थान विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में प्राध्यापक, प्रबुद्ध समाजशास्त्री और लेखक, अरविन्द सोसाइटी और सेवामन्दिर जयपुर के मंत्री, एल–२–ए, राजस्थान विश्वविद्यालय प्रांगण, जयपुर–४।

२५. **आचार्य श्री नानालालजी म० सा०** : जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, समता-दर्शन के गूढ़ व्याख्याता।

२६. **डा० नेमीचन्द जैन** : इन्दौर विश्वविद्यालय में हिन्दी-प्राध्यापक, 'तीर्थंकर' के सम्पादक, लेखक, समीक्षक और भाषाविद्, ६५ पत्रकार कॉलोनी, साकेतनगर के पास, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-१ (म० प्र०)

२७. **डा० प्रेमप्रकाश भट्ट** : शासकीय महाविद्यालय सांभरलेक में हिन्दी प्राध्यापक, विद्वान् लेखक।

२८. **डा० प्रेमसुमन जैन** : उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राकृत के प्राध्यापक, संस्कृत, प्राकृत और जैन साहित्य के विद्वान्, 'कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय पर शोध कार्य, ४, रवीन्द्रनगर, उदयपुर।

२९. **श्री भंवरमल सिंघी** : प्रबुद्ध विचारक और लेखक, कई सामाजिक और शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बद्ध, सुस्मिता, १६२/सी/५३३ लेक गार्डन्स, कलकत्ता-४५।

३०. **डा० भागचन्द जैन** : नागपुर विश्वविद्यालय में पालि और प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, जैन और बौद्ध साहित्य के विशेषज्ञ, सीलोन से "Jainism in Buddhist Literature" विषय पर शोधकार्य, न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर (महाराष्ट्र)

३१. **श्री मधुकर मुनि** : जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक।

३२. **श्री महावीर कोटिया** : कथाकार और लेखक, जैन-साहित्य में कृष्ण कथा विषयक विशिष्ट कार्य, केन्द्रीय विद्यालय, जयपुर में हिन्दी के स्नातकोत्तर अध्यापक, ४४ एवरेस्ट कॉलोनी, टोंक रोड, जयपुर-४।

३३. **डा० महावीर सरन जैन** : जबलपुर विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा विभाग के अध्यक्ष, लेखक, समालोचक और भाषाविद्, जबलपुर विश्वविद्यालय गृह, पचपेढ़ी, जबलपुर।

३४. **डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया** : वार्ष्णेय कालेज, अलीगढ़ में हिन्दी-प्राध्यापक, लेखक और समीक्षक, बारहमासा काव्य परम्परा पर शोधकार्य। कई सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं से सम्बद्ध, पीली कोठी, आगरा रोड, अलीगढ़ (उ० प्र०)

३५. **श्री माईदयाल जैन** : विचारक, लेखक और भाषाविद्, ४५६९ डिप्टीगंज, दिल्ली-६।

३६. **श्री मिट्ठालाल मुरड़िया** : अध्यापक और लेखक, एच. एम. जैन छात्रालय, १६ प्रिमरोज, बैंगलोर-२५।

३७. **श्री मिश्रीलाल जैन** : कवि, लेखक और कथाकार, एडवोकेट, पृथ्वीराज मार्ग, गुना (म० प्र०)

३८. **श्री यज्ञदत्त अक्षय** : प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, सुमति संगम, नला बाजार, अजमेर।

३९. **श्री यशपाल जैन** : सर्वोदयी विचारक और लेखक, 'जीवन साहित्य' के सम्पादक, सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली–१ ।

४०. **आचार्य रजनीश** : प्रखर चिन्तक, ओजस्वी वक्ता और लेखक, ए–१, वुडलेण्ड्स एपार्टमेन्ट्स, पेडर रोड, बम्बई–२६ ।

४१. **श्री रणजीतसिंह कूमट** : प्रबुद्ध विचारक और लेखक, जिलाधीश अजमेर ।

४२. **डा० रामगोपाल शर्मा** : राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग में रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के विशेषज्ञ, 'महाभारत में राजनीतिक चिन्तन और संस्थान' विषय पर शोधकार्य, सी-११, तिलक नगर, जयपुर–४ ।

४३. **डा० राममूर्ति त्रिपाठी** : विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन में हिन्दी विभाग के आचार्य और अध्यक्ष, प्रबुद्ध विचारक और समीक्षक, इ-१, विश्वविद्यालय आवास, कोठी रोड, उज्जैन ।

४४. **श्री रिषभदास रांका** : सुप्रसिद्ध समाज सेवी, कर्मठ कार्यकर्ता और लेखक, 'जैन जगत्' के सम्पादक, भारत जैन महामण्डल एवं महावीर कल्याण केन्द्र के मन्त्री, अनेक धार्मिक शैक्षणिक एवं सेवा संस्थाओं से सम्बद्ध, लक्ष्मी महल, वमन जी पेटिट रोड, बम्बई–६१ ।

४५. **विमला मेहता** : विदुषी लेखिका, दिल्ली ।

४६. **श्री विरधीलाल सेठी** : सामाजिक कार्यकर्ता और विचारक, राजस्थान बैंक के भूतपूर्व जनरल मैनेजर, ५, रावण टीवा, सांभरलेक (राजस्थान) ।

४७. **डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय** : राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर एवं अध्यक्ष, कवि, उपन्यासकार और समीक्षक, ज्ञानमार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४ ।

४८. **डा० वीरेन्द्रसिंह** : राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक, लेखक और समीक्षक, सी-१४३, तिलक नगर, जयपुर-४

४९. **डा० (श्रीमती) शान्ता भानावत** : विदुषी लेखिका, 'जिनवाणी' मासिक के सम्पादन से सम्बद्ध, 'ढोलामारू रा दूहा का अर्थवैज्ञानिक अध्ययन', विषय पर शोधकार्य, सी-२३५-ए, तिलकनगर, जयपुर-४ ।

५०. **श्री शांतिचन्द्र मेहता** : प्रबुद्ध विचारक व लेखक, 'ललकार' (साप्ताहिक) के संस्थापक-संपादक, ए-४, कुंभा नगर, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

५१. **श्री श्रीचन्द जैन** : सान्दीपनी स्नातकोत्तर महाविद्यालय के प्राचार्य, लेखक और समीक्षक, मोहन निवास, कोठी रोड, उज्जैन ।

५२. **श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस'** : लेखक, सम्पादक एवं मुद्रण व्यवस्थापक, ५, दास-बिल्डिग, विलोचपुरा, आगरा-२ ।

५३. **पं० श्रुतिदेव शास्त्री** : लेखक और समीक्षक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से सम्बद्ध, सरस्वती मन्दिर, लंगरटोली, पटना-४ (बिहार)

५४. **डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्** : भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दार्शनिक विद्वान्, ।

५५. **पं० सुखलाल संघवी** : जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, 'पद्मभूषण' अलंकार से सम्मानित, अहमदाबाद ।

५६. **डा० सुभाष मिश्र** : हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल में हिन्दी प्राध्यापक, लेखक और समीक्षक, ६०/११–१२५० क्वार्टर्स, टी. टी. नगर, भोपाल (म० प्र०)

५७. **मुनि श्री सुशीलकुमार** : जैन मुनि, प्रवुद्ध चिन्तक और लेखक, विश्वधर्म सम्मेलन और अहिंसा शोधपीठ, दिल्ली के प्रेरक ।

५८ **श्री सौभाग्यमल जैन** : विचारक, लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता, भूतपूर्व मन्त्री–मध्य भारत सरकार, शुजालपुर, (म० प्र०)

५९. **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** : प्रख्यात लेखक, समीक्षक और उपन्यासकार, 'पद्मभूषण' अलंकार से सम्मानित ।

६०. **श्री हरिश्चन्द्र दक** : नागरिक शास्त्र के वरिष्ठ अध्यापक और लेखक, राजकीय उ. मा. विद्यालय, रेलमगरा (उदयपुर) ।

६१. **आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०** : जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, गवेषक, इतिहासज्ञ ।

६२. **डा० हुकमचन्द भारिल्ल** : जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, 'पं० टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व, विषय पर शोधकार्य । पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के निदेशक, ए–४ बापू नगर, जयपुर–४ ।

●●●